

ल
घु
ग्र
न्थ
सं
ग्र
ह

॥ लघु ग्रन्थ संग्रह ॥



गोस्वामी श्याम मनोहर

प्रकाशक : गोस्वामी श्याम मनोहर, ६३, स्वस्तिक सोसायटी
जुहु चौथा रस्ता, विलेपार्ले, मुंबई

प्रकाशनार्थ आर्थिकसहयोग :

गोस्वामी श्रीश्याम मनोहर, ६३, स्वस्तिक सोसायटी
जुहु चौथा रस्ता, विलेपार्ले, मुंबई
श्रीकेतन गांधी, ३५९/३७३, एस.वी.पी रोड, मुंबई-४
श्रीजयसुख पारेख, वीरेश्वर छाया, तेजपाल रोड,
विलेपार्ले, मुंबई-५७
श्रीमती उर्मिला मधुसूदन शाह, १४, शिवकृपा
एस.वी.पी.रोड, कांदिवली, मुंबई-६७

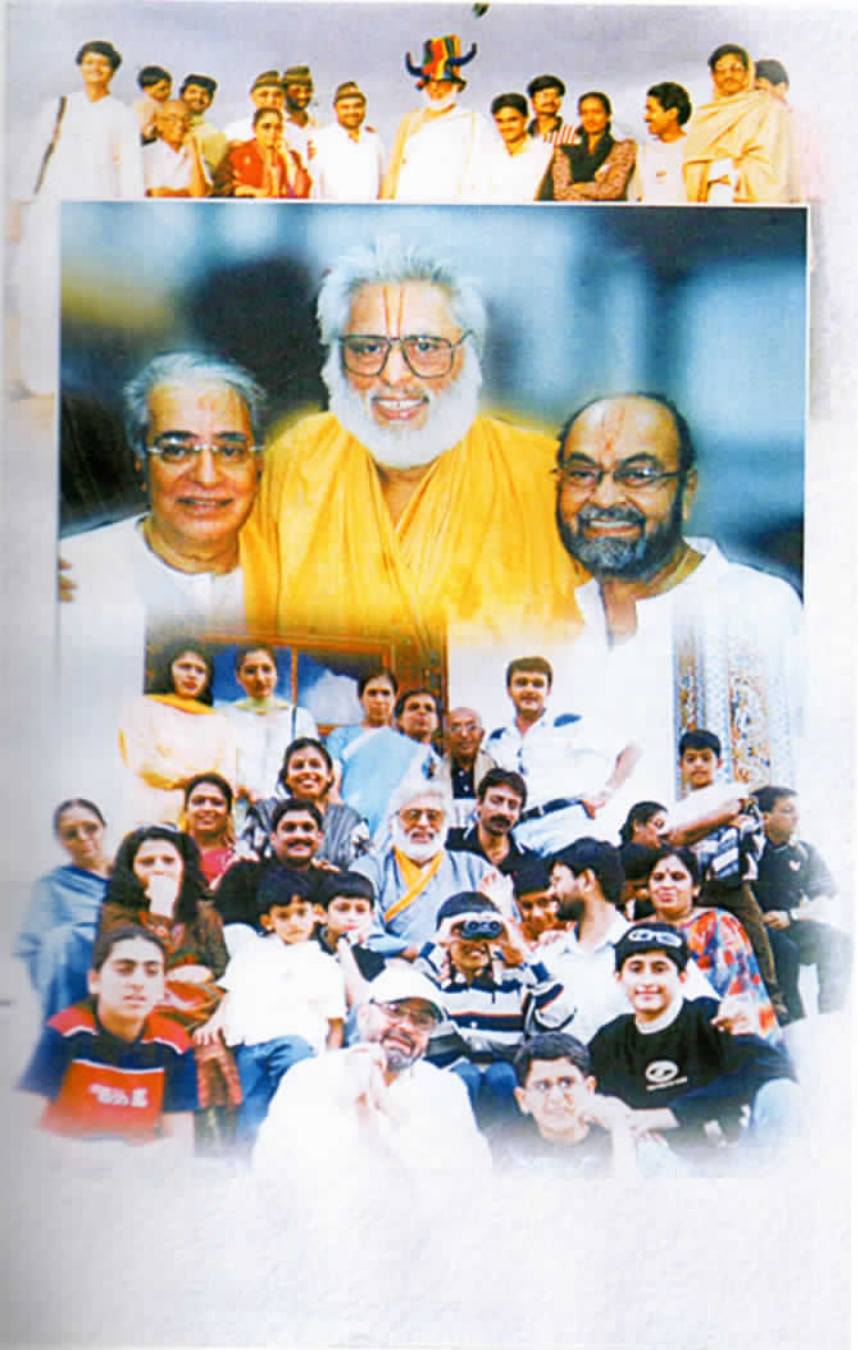
आलेखप्रस्तुति : गोस्वामी श्याम मनोहर

प्रथमसंस्करण : शरदोत्सव वि.सं. २०७०.

प्रति : ५००

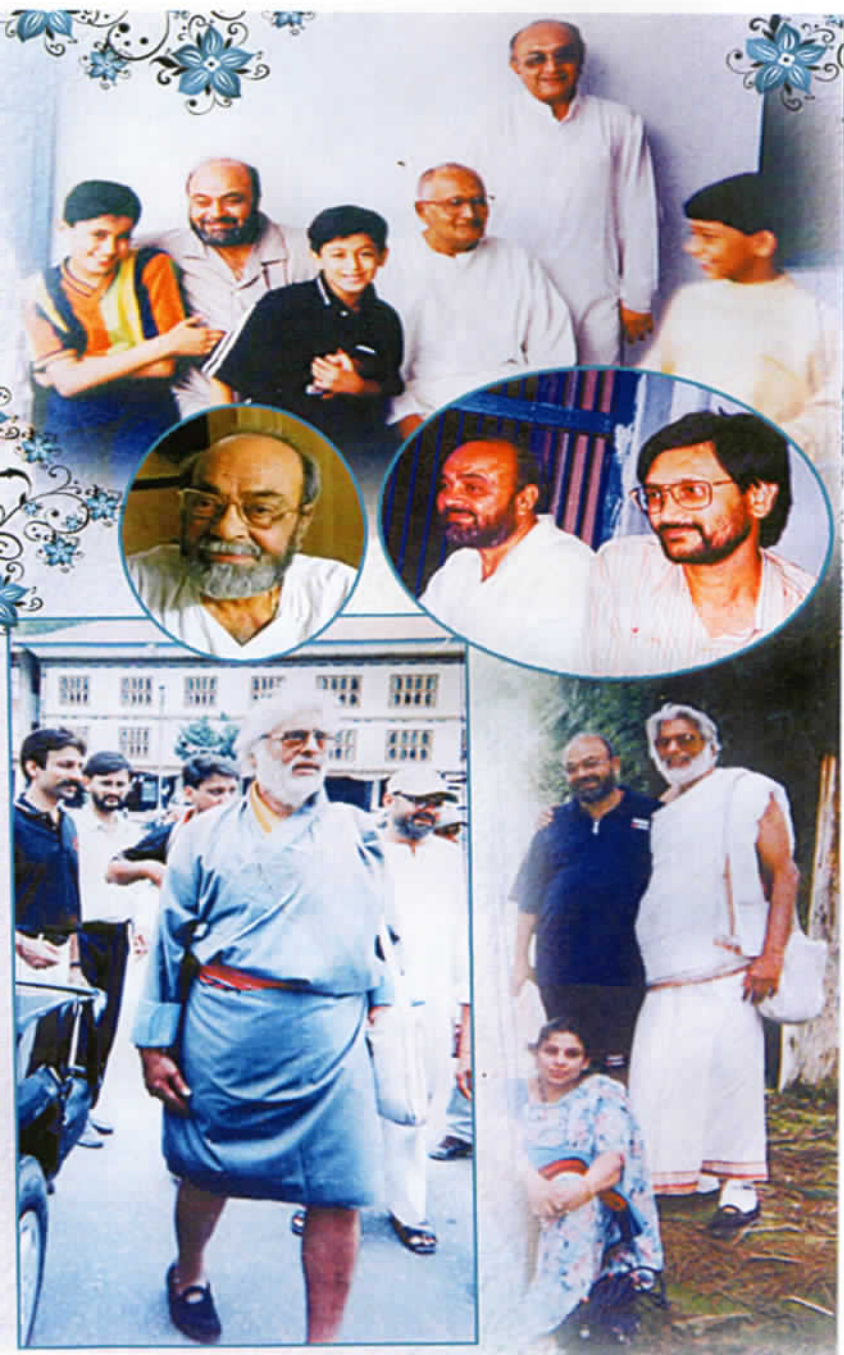
निःशुल्कवितरणार्थ

मुद्रक : शैलेश प्रिन्टर्स,
१४, चुनावाला इन्डस्ट्रिअल् एस्टेट,
कोंडिविटा, अंधेरी (पूर्व),
मुंबई : ४०० ०५९.



यात्राक्षणिकायें

पुष्टिमार्गीय यायावर, स्नेही प्रिय होतचन्द मथुराकी स्नेहपूर्ण स्मृतिमें



यात्राक्षणिकायें

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

प्राक्कथन

जैसे कि सूत्रके लिये कहा गया है “अल्पाक्षरम् असन्दिग्धं सारवद् विश्वतोमुखम्, अस्तोभम् अनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः” वैसे ही ये ‘लघुग्रन्थ संग्रह’ महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके द्वारा प्रतिपादित मुख्यतया तत्त्वदर्शन का एक सूत्रात्मक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थकी विशेषता ये है कि इसमें ग्रथित सभी विषय, या तो साकारब्रह्मवादके या भक्तिके स्वरूपको ही उजागर कर रहे हैं। इतना ही नहीं, अपितु पुष्टिभक्तिसंप्रदायके ऐतिहासिक तथ्योंको भी उजागर करते हैं।

पृथ्वीपर प्रकट विरोधितत्त्व या विरोधिभावयुक्त वस्तुको जैसे पृथ्वी अपने भीतर समाहित कर रखे है ऐसे ही अविकृतपरिणामवादके आधारपर विरोधी मतोंको भी लीलार्थसृष्टिवाद या साकारब्रह्मवाद में समाविष्ट किया जा सकता है। क्योंकि श्रीवल्लभाचार्य कह रहे हैं “तदेवैतत्प्रकारेण भवतीति श्रुतेः मतम्:” (सि.मु.५) जागतिक विरोधाभासोंको ब्रह्मदृष्ट्या निहारनेकी ये एक कला है। यदि कहीं विरोध भी प्रकट होता है तो वो भक्तिदृष्टिके कारण, न की अन्य कोई प्रयोजनके कारण।

प्रस्तुत ग्रन्थका ग्रथन वैसे तो बिखराउ स्वरूपमें लग रहा है, फिरभी गुलदस्ता तो विविध रंगोंके फूलोंसे सजा ही अच्छा लगता है। आलेखप्रस्तुतकर्ता श्रीश्याममनोहरजीने अपने अगाध विविधतासभर ज्ञानके उद्यानमेंसे थोड़े फूल यहां दिये है जिसका गुलदस्ता बनावेके योजन करने जा रहे है।

एक-दो आलेखको छोड़के ज्यादातर आलेख पूर्व-अपर संबंधसे जुड़े नहीं है फिर भी हर आलेखकी अपनी अलग खुशबु है जो चकित करनेकी क्षमता रखती है। ग्रन्थकी एक और खासियत यह

है के कुल बाईसमेंसे सोलह आलेख संस्कृत भाषामें रचित है। इस बाईस आलेखोंके विषयका वैविध्य निहारने लायक है। इसमें लहराती खुशबुकी मजा भी हम आलेखकारकी प्रेरणासे ही ले रहे हैं।

सिद्धान्तसारसप्तकम्

प्रथम आलेखमें ये प्रतिपादित किया है कि ब्रह्मका माहात्म्य अगाध लहराते सागरके जैसा है। उस सागरमें तैरनेके लिये “अहं ब्रह्मास्मि” नामक साधनाकी डोंगी बहोत छोटी है। ब्रह्मके प्रति झुकाव न होके अपने अहंकारके प्रति झुकावके कारण ऐसी साधना सफल नहीं हो पाती है।

जागृती मिथ्यारूपता या भेदरूपता साधकको भयभीत कर देती है, जिसके कारण परमात्मामें रति प्रकट नहीं होती है। आत्मरतिमूलक तादात्म्यभावके कारण प्रकट होती भक्ति ही “त्वं मामकिनोऽसि मदीय एव” इस प्रकारका भाव प्रकट कर सकती है। ये ही श्रुतितात्पर्य है।

श्रीभागवतदशमतात्पर्यचतुःश्लोकी

द्वितीय आलेखकी रचना भागवतके जन्मप्रकरणकी शिविरके हेतु हुई है। इस विज्ञप्तिमें दशमस्कन्धका तात्पर्य बताया गया है। संसार हो या मुक्ति, अपनी मति गति और रति सर्वदा कृष्णके लिये होनी चाहिये। बुद्धिमें कृष्णका माहात्म्यज्ञान रहे और कृष्णलीलामें संमोह अनिवारित रहे ऐसी भावना फलात्मक निरोध है। कृष्णजनमें मैत्री, उनके द्वेषीमें द्वेष, उनमें उदासीनके साथ उदासीनता, कृष्णके द्वारा फलके लिये निग्रह हो या अनुग्रह वो कृष्णकी कृपा है। इस प्रकारका भाव सदा मेरेमें बना रहे ऐसी भावना साधनात्मक निरोध है।

धर्मादि-प्रमाणादिचतुष्टययोः सम्बन्धबोधिका साप्तदशी

तृतीय आलेखमें आलेखकार धर्मार्थकाममोक्षकी तुलनामें प्रमाणप्रमेयसा-

धनफलकी मार्गस्थ एकात्मकता (इन्द्रान्जिक युनिटी) बताना चाह रहे हैं। वैसे बाह्यदृष्टिसे दोनों अलग लग रहें हों। पर धर्म-प्रमाण, अर्थ-प्रमेय, काम-साधन, मोक्ष-फल ये चारों युनिट् भीतरसे एकत्मक हैं।

धर्मको कर्तव्यताकी दृष्टिसे लें तो वो क्रिया हो जा रही है। कुछ बातें क्रियासे ही समझमें आती हैं करके क्रिया प्रमाणरूप हो भी सकती है। मेयको हम जानना चाहते हैं। जिसको चाहते हैं उसको जाने बगर रह नहीं सकते। उस अर्थमें प्रमेय भी अर्थ हो रहा है। हमारी कामनाका वस्त्वात्मकरूप (ऑब्जेक्टिफाइड) साधन है। कोई चीजकी कामना है तो सिद्ध करनेका साधन बन सकती है। उस दृष्टिसे काम एक साधन है और साधन एक काम है। बाह्यरूपमें साधन है तो आन्तररूपमें काम है। ऐसे ही हर मुक्तिमें एक फल छिपा हुआ है और फलप्राप्तिमें मुक्तिका अनुभव होता है।

स्रष्टृसृष्ट्ययोर्वैपरीत्येऽपि स्रष्टृस्वरूपरूपगुणधर्मानुगुणतानिरूपणम्

चतुर्थ आलेखमें मुख्यतया ये प्रतिपादित हुआ है कि सच्चिदानन्द ब्रह्मकी कर्तृरूपता कारणरूपता और कार्यरूपता ही व्युत्क्रम (रिवर्स) मुखाकृति/विपरीत (ओब्बर्स) या रूपान्तरित (कन्वर्ज) रूपमें अनुगत हुई है।

उपादान-उपादेयमें जैसी परस्परानुरूपद्रव्यता है, वैसी परस्परानुरूपद्रव्यता कर्ता-कार्यमें प्रकट होती नहीं है। ऐसी स्थितिमें आरंभवादकी दृष्टिसे सृष्टि-स्रष्टाका संबंध इतरेतरात्मक न होनेके कारण तादात्म्यसंबंध स्थापित नहीं होता और भेद प्रतीत होता है।

किन्तु ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि सत्यसंकल्प भगवान्के आनन्दरूप गुण ही व्युत्क्रमसे सृष्टिमें लीलार्थ प्रकट होते हैं। जैसे ऐश्वर्यका व्युत्क्रम मद है ऐसे सभी गुण विषमरूपसे प्रकट होते हैं।

जडमें वस्तुस्वभावोत्था प्रकट होती क्रिया ही कृत्यादिसे भक्तितक पर्यवसित होती है। क्रियाके एक होनेके बावजूद संदर्भभेद या भावभेद के कारण उसमें विषमता दिखलाई देती है जिसको लीलाके सन्दर्भमें

समरूपमें देखा जा सकता है।

एक कलाकारकी कलाकुशलता जैसे उनकी कलाकृतिमें अभिव्यक्त होती है ऐसे ब्रह्मकी कलात्मिकासृष्टिमें ऐश्वर्यादिके व्युत्क्रमरूपसे, महत्त्वादि विपरीत रूपमें और धर्मरूपकी भक्तिमें रूपान्तरित होके अपनी कलाविशेषता प्रकट होती है। इस प्रकार स्रष्टा अपनी सृष्टिरूपकृतिमें अनुप्रवेश करता है। ब्रह्मवादी उपनेत्रके बिना ऐसी कलात्मकता नज़र आना संभव नहीं।

इससे आलेखकार समझा रहे है के सृष्टि कैसे स्रष्टात्मक है और स्रष्टा कैसे सृष्ट्यात्मक है। समता और विषमता दोनोंमें भी तादात्म्य अखंडित है।

पराभिध्यानबन्धतद्विपर्ययप्रक्रियानिरूपणम्

पंचम आलेख चतुर्थ आलेखके साथ पूर्वोत्तरभावसंगतिके समान है। इसमें मुख्य विषय ये है के बंध या मोक्ष अपने असामर्थ्य या सामर्थ्य से नहीं पर ब्रह्मके सामर्थ्यसे होता है।

इसमें अतिरिक्त बात ये है कि भगवान्की कृपाके कारण ही हमारे भीतर पुष्टिभक्तिका प्रादुर्भाव संभव है। भगवान्के पुष्टिरूप पात्रमें हमारा भक्ति रूपी कमल खिल सकता है और वो भक्ति हमारे गुण-कर्म-स्वभावानुरूप होनेसे भक्तिमें भी सात्त्विक राजस तामस भेद आ रहे हैं। उसमें किरदार अपना है, नाटकका कथानक भगवान्का है। पात्र हम हैं, द्रव्य वो हैं।

सिद्धान्तापवादापसिद्धान्तप्रभेदः

षष्ठ आलेख सिद्धान्त अपवाद और अपसिद्धान्त के प्रभेदको समझानेके लिये निरूपित किया गया है। आदिकालसे वर्णाश्रमधर्म पाला जाता था। देशकालादिके बदलावके कारण वर्णाश्रमधर्मका धर्मोपदेश किसके लिये है वो भी विचारणीय बात हो गई। और तो और अशक्योपदेश लगने लगा! उसको समझनेके लिये कोई नियम परिपाटी नहीं बना

सकते हैं क्योंकि वर्णाश्रमधर्म कालादिषट्क सापेक्ष होनेसे परिवर्तनशील वह होता है।

इस समस्याका समाधान सिद्धान्त अपवाद और अपसिद्धान्त का प्रभेद समझके प्राप्त किया जा सकता है। सिद्धान्त एक छोर है, जबकि अपसिद्धान्त दूसरा छोर है। इस दोनोंके बीच अपवाद आ रहा है। जैसे, वर्णाश्रम पालना सिद्धान्त है वैसे पाषंडमतको स्वीकारे बिना वर्णाश्रमधर्मको छोड़ना अपवाद है। पाषंडमतका ही अनुसरण करने लग जाना ये अपसिद्धान्त है।

आलेखकार इस बातको भक्तिके परिप्रेक्ष्यमें कुछ ऐसे कह रहे हैं कि भक्तिके कंधाके ऊपर वर्णाश्रम लाद जा रहे हो वैसा वर्णाश्रम निभ रहा है तो अच्छी बात है पर असामर्थ्यवशात् दुःसाहस किया तो समयान्तरमें दुष्परिणामकी संभावनाको स्वीकारनेके लिये तैयार रहेना पड़ेगा।

भक्तिस्वरूपानवबोधनिरासिका

सातवां आलेख भी अगले आलेखका पूरक बनके बातको आगे बढ़ा रहा है। भक्तिमें आचार अनाचार सदाचार के पहलुको ११२श्लोकोंमें है। इस बातको आचार्यचरणके वचनसे उपपन्न किया है, “द्रव्य आचार क्रिया सु भगवान् प्रसन्न होत नाहीं” आलेखकारने इस बातकी महत्ता बताई है के अगर हम भक्तिनिष्ठ है तो भगवान् प्रसन्न हैं। श्रीगोपीनाथजीके साधनदीपिकामें उद्धृत वचनका भी बाध नहीं होता है। इसके अलावा भागवतजीका ये वचन “नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वा असुरात्मजाः, प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्जता, न दानं न तपो न इज्या न शौचं न व्रतानि च, प्रीयते अमलया भक्त्या हरिः अन्यद् विडम्बनम्” (भाग.पुरा.७।७।५२)को नजर-अंदाज नहीं किया जा सकता है। भगवान् आचारसे प्रसन्न नहीं है भक्तिसे प्रसन्न है। सचमुचमें अनाचार त्याजने योग्य है पर परिवर्तनशील परिप्रेक्ष्यमें आचार-अनाचारकी भी परिसीमा बदलती रहती है। जो नियम उपदेश हमारे लिये बने है उसके पालनमें

घोर उपेक्षावृत्ति रखते हैं और और प्रभुके ऊपर थोप रहे हैं। जबकि भक्ति शुद्ध और स्वतन्त्र है। वर्णाश्रमधर्मसे भगवान्का कोई लेन-देन नहीं है।

कोई भी विधि सबके लिये विधि नहीं हो सकती है, कोई भी निषेध सबके लिये निषेध नहीं हो सकता है। ब्राह्मणके लिये जो निषेध है वो क्षत्रियके लिये विधि हो सके है। आचार्यचरणकी दृष्टिसे लौकिक-वैदिक कापट्यसे होना आवश्यक है। ऐसी कई मार्मिक बातें यहां प्रकाशित की है।

पुरुषसूक्ततात्पर्यसूचनिका

इस निबंधका प्रतिपाद्य विषय पुरुषसूक्तकी सिनोप्सिस है। निबंधकार पुरुषसूक्तका उपक्रम तादात्म्यसे होता बता रहे हैं। तादात्म्यका स्वरूप समझनेके लिये यज्ञरूप तादात्म्य बताया है। जैसे यजनमें देवता यजमान और हवि होते हैं। ऐसे समस्त सृष्टि यज्ञ है। ब्रह्मने यज्ञात्मक सृष्टि की है जिसमें वो खुद देवता हवि और यजमान बना है। आगे जाके समष्टिसे यज्ञरूपता और व्यष्टिसे तत्त्वरूपता बताके व्यष्टिरूपसे वो क्या-क्या बना है उसकी झांकी करवाके विविध नामरूपोंसे लीलाका निरूपण किया है। उसके बाद प्रमाण-प्रमेय-साधन-फल वो खुद बना है। उपसंहारमें विराट पुरुषके वर्णनके बाद अन्तमें ब्रह्मकी स्तुति की है कि जो ब्रह्मको जानता है वो अमृत हो जाता है।

भक्तिवरीयस्त्वनिरूपणम्

नवम आलेखमें भक्ति कैसे वरीय है इस विषयकी उठान इस बातको लेके की है कि भक्ति एक रस है। वह आत्म-परमात्मभावात्मिका निरुपाधिक रति होनेके कारण अलौकिक होती है। “इस सृष्टिमें जो कुछ है वह परमात्माकी सुकृति ही है। इसमें कारण यही है कि वह परमात्मा वस्तुतः रस है! इसी रसको पानेपर कोई आनन्दको पा सकता है” इस श्रुत्युक्त वचनसे रसता हि आनन्दके अनुभवका

हेतु है.

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य भक्तिको लौकिक रसोंके भेदोपभेदसे ऊपर परब्रह्मके अद्वैतस्वरूपमें प्रकट होनेवाला द्वैतका रसात्मक अनुसन्धान मानतें हैं. यद्यपि लौकिक रसोंमें भी मूलमें तादात्म्य ही हेतु है. पर अज्ञानवश त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके उपाधिसे प्रयुक्त होनेके कारण आभासमात्र है. सभी रसोंमें आत्मरति ही कारणरूप होनेके बावजूद भक्तिरसकी विशेषता ये है कि भगवदनुग्रहजन्य होनेपर भगवान्की आत्मरतिका ही विस्तार होनेके कारण निरुपाधिक होती है.

ऐसी भक्तिकी वरीयता ये है कि भगवान्-भक्तकी परस्पर वश्यत्वकी साधिका है. भगवान् स्वयं ही भक्तिके रूपमें भक्तमें हृद्गत होते हैं. परन्तु ये उनकी कृपाके कारण ही संभव है, न की स्वतः.

तादात्म्यस्वरूपविवेचनम्

दसवें आलेखमें मंगलाचरण, तादात्म्यका लक्षण, प्रमाण, तादात्म्यका भेद इत्यादि बिंदुओंसे लेखको आकारित किया है. सृष्टिमें प्रकट जड-जीव-ईश्वरके बीचमें न तो आत्यन्तिक भेद है या अभेद ही. द्वैतवादके द्वारा निरूपित भेद श्रुति असमन्वित होनेके कारण तादात्म्यवादसे ही समन्वित किया जा सकता है. मंगलाचरणमें तादात्म्यका लक्षण इस प्रकारसे निरूपित किया है कि पार्थक्यमें आत्यन्तिक भिन्नता न होना और एकता, अनेकताविरहित न होना उसे 'तादात्म्य' कहा जाता है. "एतदात्म्यमिदं सर्वम्" उस श्रुतिवचनका प्रमाण दे रहे हैं. इस तादात्म्यप्रक्रियाका आश्रय करके ज्ञान-ज्ञेय तत्त्वका वर्णन कर रहे हैं.

वस्तुका याथात्म्य (thing as it is); ज्ञानके यथार्थ्य (thing as conceived) भिन्न नहीं हो सकता और अभिन्न भी नहीं हो सकता. क्योंकि वस्तुका समग्रतया ज्ञान उपस्थित होना संभव नहीं है. परोक्षापरोक्ष भेदसे वस्तुके याथात्म्य और याथार्थ्य में भेद या अभेद नहीं हो सकता. इन दोनोंमें तादात्म्यभावसे ही गति संभव है. भेदनिरूपक

या अभेदनिरूपक श्रुत्युक्त वचनकी उपपत्ति तादात्म्यभावसे ही सुलभ है.

तादात्म्यके स्वाभाविक और कृत्रिम ऐसे दो भेद हैं. कृत्रिमके पुनः चार भेद बताये हैं, औपाधिक सापेक्ष आरोपित और संघातात्मक.

अंशीसे प्रकट अंशका स्वाभाविक तादात्म्य है जैसे शुक्राणुका देहमें परिवर्तन होना. अंशोंको अंशीको प्रकट करना कृत्रिम तादात्म्य है जैसे पूजासे कारका होना. आरंभवादी, अंशमें अंशीका होना समवेतरूपसे स्वीकारते हैं पर उसको कृत्रिम तादात्म्यमें अन्तर्भाव किया जा सकता है.

ऐसे द्रव्य और क्रिया में भी तादात्म्य ही है. भाव-अनुभावमें भी तादात्म्य है. तार्किकोंके मतसे जहां समवाय है वहां ब्रह्मवादकी दृष्टिसे तादात्म्य ही है.

साकारब्रह्मवादानुरोधेण अभावस्वरूपनिरूपणम्

ग्यारवें आलेखमें ये प्रतिपादित किया है कि सत्का अभाव ब्रह्मवादमें स्वीकारा नहीं है. वस्तुकी बाह्य जगत्में प्रकट होती प्रतीति या अप्रतीति भगवान्की आविर्भाव-तिरोभाव शक्तिके कारण होती है पर महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य एक और आज्ञा कर रहे हैं "अभावस्तु अस्मन् मते तिरोभावातिरिक्ताः न भवन्ति" (सुबो.२।१।३२). इससे ये भी स्पष्ट है कि अभावका कोई स्वरूप ब्रह्मवादमें भी स्वीकारा गया है.

तार्किकमतके अनुसार लोकसिद्ध भावाभावके प्रकार ऐसे बताये हैं "यथा 'अस्ति' इति प्रतीत्या षड्विधो भावः सिद्धः, तथा 'नास्ति' इति प्रतीतिसिद्धो अभावः. यथा 'घटो अस्ति' इति व्यवहार तथा 'घटो नास्ति' इत्यपि व्यवहारः सर्वसंमतः, पदानां चतुर्विधत्वात् पदार्था अपि द्रव्यगुणकर्मसामान्यानि चत्वारः. चत्वारि लोकव्यवहारसिद्धानि. एतेषां निषेधस्यापि लोकव्यवहारसिद्धत्वात् अभावोऽपि लोकव्यवहारेणैव सिद्धः" (त.सं.आ.व्या.).

ब्रह्मवादी दृष्टिसे लोकसिद्ध प्रकारमें भावका हेतु तादात्म्य और संसर्ग होता है. अभावका हेतु तादात्म्यप्रतियोगी और संसर्गप्रतियोगी होता है. तादात्म्य पुनः धर्म-धर्मी भेदसे और संसर्ग देशिक-कालिक भेदसे होता है.

द्रव्य-गुण-कर्मको भेदसाधकके बजाय तादात्म्य संबंधमें अन्तर्भाव किया जा सकता है. गुण-द्रव्य-कर्मके कारण तादात्म्य भी त्रिविध होते हैं. प्रकृत्यादि धर्मदृष्टिसे देखने पर धर्मरूपता और घटादिको धर्मिदृष्टिसे देखने पर धर्मिरूपता प्रकट होती है. ये तो विवक्षाके ऊपर आधारित है.

संसर्गाभाव भी कालसंसर्गकी सापेक्षमत्तिका गोचर है.

उपसंहारमें ये बात निरूपित है कि तिरोभावकी अभावरूपता लोकसिद्ध अभावके प्रकारमें स्वीकारी है. जो वस्तुदृष्ट्या या बुद्धिदृष्ट्या अप्रतीतिरूप होती है. अभावका ये स्वरूप ब्रह्मवादसे अविरुद्ध होनेके कारण स्वीकार्य है.

शब्दार्थवैविध्यनिरूपणम्

इस बारवें आलेखमें आलेखकार ये जताना चाहते हैं के हमारी सीमित समझके कारण हमको भ्रान्ति हो गई है के बोले वो भाषा. हम ध्वन्यात्मक (फोनेटिक) शब्द और अर्थ को ही भाषा समझते हैं. हकीकत कुछ और ही है. शास्त्रमें शब्दके बहोत सारे रूप माने हैं, जिसको आंगिक आहार्य अभिनय इत्यादि कह सकते हैं. मूक, बच्चा या जानवर की भी अपनी कोई भाषा होती है. वे अपने भावोंको जतानेकी क्षमता रखते हैं. दूसरी बात—एक शब्दके अनेक अर्थ होनेका भी वैविध्य हो सकता है. इस तरहसे शब्द और अर्थ का एक ही अर्थ सोचना अपनी संकीर्णता है.

औपाधिकधर्मसत्यत्ववाद

तेरहवें आलेखमें आलेखकारने कार्य-कारण, अंश-अंशी एवं वचन

का तादात्म्य बताया है. बौद्धोंके अनुसार धर्म औपाधिक असत्य हो जाता है. उनके सामने आलेखकारने ब्रह्मवादकी दृष्टिसे तादात्म्यको समझाया है. आलेखकार कह रहे हैं के औपाधिक धर्म सत्य क्यों नहीं हो सके? जैसे त्रिकोण और उसकी तीन रेखाएं अभिन्न है. उनका तादात्म्य मानना पड़ेगा. स्थूल उदाहरणमें औपाधिक तादात्म्य है तो ब्रह्ममें तादात्म्य स्वीकारनेमें क्या आपत्ति हो सकती है?. औपाधिक तादात्म्य, कृत्रिम होते हुवे भी सत्य है.

तं तु औपनिषदं पुरुषं पृच्छामि ?

चौदहवा आलेख न्यायशास्त्रविशारद श्रीबलिराम शुक्लके पिता श्रीहरिराम शुक्लकी स्मारिकामें लिखा गया था.

इस आलेखमें मुख्यतया आकांक्षा-समाधानके द्वारा ब्रह्मवादका प्रतिपादन किया है. आरंभमें यह शंका की है कि 'ब्रह्म' पद और उसका अर्थ, अर्थविशेषवाचक है या शब्दराशिविशेषवाचक है? उसके समाधानमें कहा गया कि 'ब्रह्म' पद स्वाध्यायका अपरपर्यायवेदादि शास्त्रका वाचक है, वेदरूप परमप्रमाणभूत शब्दराशिका वाचक है, ब्रह्म ही स्ववाचकवेदादिके शब्दरूपसे प्रकट हुआ है.

जहां तक अर्थविशेषवाचकताका प्रश्न है वहां ब्रह्मकी अव्याकृत नाम-रूपता ही नाम-रूपमें व्याकृत हुई है. "ब्रह्म ही इन सारे नाम-रूप-कर्मोंका भारण करता है. अतः इनके तीन होने पर भी आत्मा तो एक ही रहता है इसी तरह आत्मा एक होने पर इन तीन रूपोंमें प्रकट होता है." ब्रह्मकी त्रैकालिक सर्वरूपता भी श्रुतिवचनसे सिद्ध करी है.

निष्कर्षतया ये उद्घोषित किया है कि ब्रह्मवादमें प्रमाण-प्रमेय-साधन-फल या अपेक्षित सर्ववस्तु एक ही ब्रह्मके बहुभवनसामर्थ्यसंकल्प प्रयुक्त ही है. इस ब्रह्मवादको महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यने अपने बहुधा ग्रन्थोंमें प्रतिपादित किया है.

वैदिक और वैज्ञानिक चिन्तनमें ब्रह्मांडकी अवधारणा

पंद्रहवें आलेखमें ये निरूपित किया है कि ब्रह्मांडके बारेमें विज्ञान और वैदिक चिंतन की अवधारणा क्या है। दिलचस्प बात तो ये है कि हमारी वेदनिरूपित थियरीमेंसे सायन्सकी कोई भी थियरी बाहर नहीं जा रही है। ब्रह्मांडकी उत्पत्तिके बारेमें युरोपके प्राचीन चिंतकोंकी धारणा एवं आधुनिक ब्रह्मांडविज्ञानकी कई थियरी जैसे 'बिगबैन्' थियरी, ओसिलेटिंग् थियरी, पल्सेटिंग् थियरी, एक्स्पान्डिंग् थियरी इत्यादिको हमारा वैदिक साहित्य पुष्टि देता है। हमारा वैदिकमत, क्योंकि सभी रूप ब्रह्मके होनेके कारण इस विषयको विस्तृत फलकमें निहारता है। इन सब वाद-मतोंका विहंगावलोकन कराके आलेखकार एक निष्कर्षपर पहुँचे हैं कि यदि ब्रह्मवादके ऑडिटोरियममें लीलाके चश्मा पहनके इन सारी प्रक्रियाको निहारते हैं तो कोई भी वाद बहिष्कृत नहीं लगेगा।

वाल्लभ वेदान्तमें चेतनावबोधनके विविध प्रतिमान या स्तर

इस सोलहवें आलेखमें ब्रह्मकी अंशभूत चेतनाके विविध स्तर जैसे संवेदना, संकल्पना, अनुभव, स्मृति, परिज्ञान आदि सोचे गये हैं। चेतनाके विविध स्तरको न स्वीकारके कोई एक गुणमें सीमित करना या आधुनिक विज्ञानके मतकी तरह संघातविशेषसे चेतना, जड पदार्थके गुणधर्मतया या द्वैतवादी संप्रदायकी तरह चेतन-अचेतनका अत्यधिक प्रभेद करना या एकान्तिक अद्वैतवादी शांकरवेदान्तके मतकी तरह पारमार्थिक न मान कर अपारमार्थिक द्वैत मानना चेतनाका अनवबोध प्रतीत होता लगता है। “यह सभी कुछ ऐतदात्मक है, आत्मा तो वह है और वही तुम हो” इस श्रुतिवचनमें ‘तुम’ पदद्वारा अभिप्रेत चेतना, ज्ञानात्मक चिदंश पुरुष है। ये चेतनाका ब्राह्मिक पक्ष है। पारमार्थिक पक्षमें ‘रसमलाई’के उदाहरणसे उपादानरूप और अन्तर्यामिरूप अभिप्रेत है।

ब्राह्मिक चेतना देश-काल और उनमें प्रकट होनेवाले नाम-रूप-कर्मोंके

परिच्छेदोंसे रहित होती है तो पारमात्मिक चेतना देश-काल-स्वरूपके विविध परिच्छिन्नरूपमें प्रकट होती है। उस पारमात्मिक चेतना सृष्टिमें पुनः अनौपाधिक एवम् औपाधिक रूप धारण करती है।

चेतना औपाधिक है इस लिये जड है और चेतना अनौपाधिक है इस धारणाके कारण सब उपाधि मिथ्या है। ये दोनों पक्ष उपनिषद्मान्य नहीं हैं।

चेतनाके क्रियात्मक ज्ञानात्मक अज्ञानात्मक सुषुप्त्यात्मक रूपकी स्वीकृति, औपनिषदिक सिद्धान्तकी स्वीकृति है। निष्कर्षतया ये प्रतिपादित किया है कि जड और चेतन में भेद नहीं है, तादात्म्यभाव है। एक छोरपे जड है तो दूसरे छोरपे चेतना है। प्रकृतिके साथ पुरुष एकभावापन्न है। मनुष्यके बच्चाकी तरह चेतना प्रकट नहीं हुयी है।

आधुनिक विज्ञानमें जैसे नाइट्रोजनकी सायकल् चेतनाके बारेमें बतायी है उसके समानान्तर प्रक्रिया पंचाग्निविद्यामें बतायी है। इस औपनिषदिक मंतव्यसे हम समझ सकते हैं कि विज्ञानके द्वारा हमारी चेतनाकी प्रक्रियाका प्रत्याख्यान संभव नहीं है।

श्रीभागवतस्कन्धप्रकरणाध्यायविभाग सूचिका

ये सत्रहवां आलेख दस आलेखोंका समूह है। प्रभुचरण श्रीगोपीनाथजीके पंशशती महोत्सवके अन्तर्गत प्रथमस्कन्धसे जन्म-प्रकरणके चार अध्याय तकके भागवतपूजन-पठन-अध्ययन शिविरका अयोजन हो पाया था। इसमें आलेखकारने भागवतार्थ प्रकरणके आधार पर मार्गदर्शिकाके तौरपे स्कन्धार्थ प्रकरणार्थ अध्यायार्थ के विभागोंकी सूचिका दर्शाते आलेख प्रस्तुत किये थे। जो भागवतका अध्ययन करनेवालोंके लिये मननीय चिंतनीय एवं मार्गदर्शिका के रूपमें उभरके सामने आते हैं। “यस्यां न मे पावनमङ्ग कर्म, स्थित्युद्धवप्राणनिरोधमस्य, लीलावतारेप्सितजन्म वा स्याद्, वन्ध्यां गिरं तां बिभृयान्न धीरः” (भाग.पुरा.११।११।२०) इस भागवत पुराणके वचनके आधार पर इतना तो स्पष्ट है ही कि श्रवण-कीर्तन-स्मरणका विषय भगवान् ही होना जरूरी है। क्योंकि भगवान्

एवं भगवल्लीला अन्योन्यात्मक होती है। इन लीलाओंके श्रवणादिमें अधिकार और साधन के निरूपणके बाद तृतीयस्कन्धसे सर्ग विसर्ग स्थान पोषण ऊति मन्वन्तर ईशानुकथा निरोध मुक्ति एवं आश्रय यों दशधालीलाके साथ लीलाकर्तृके रूपमें भगवान्के श्रवणादि करने चाहिये। भागवतको समझनेके लिये ये आलेख बहोत ही श्रवणीय एवं मननीय है।

गीतगोविंदरसावगाहन

इस अठारवां आलेख भक्तकवि श्रीजयदेवजीके 'गीतगोविंद'पे रची भूमिका है। 'गीतगोविंद' काव्य राधा-माधवकी प्रणयकेलीके रंगकी बोछार कर रहा है। इस छोटीसी भूमिकामें भूमिकाकारने राधा-माधवके प्रणय/स्नेह/रतिको लौकिककाम/रतिमें सीमित न करके दिव्य गंभीर और व्यापक संदर्भमें देखा है। ये काव्य दिव्यशृंगारके वर्णनार्थ है, नहीं के लौकिकरसके।

ईसाईयोंकी कोई ऐसी धारणाको नकारके सृष्टिकी उत्पत्ति वियदादिक्रमसे बताके विषयकी पूर्वभूमिका बांधी है। भारतीय आर्षपरंपरा हमारे अस्तित्वको उसकी संपूर्णतामें स्वीकार करता है। हमारे देव-देवीओंके स्वरूप, उनके प्रणय-कलह इत्यादिको पौराणिक गण्य मानना हमारे शास्त्रोंके प्रति घोर उपेक्षावृत्तिका साक्ष्य है।

सृष्टिके आरंभमें ही काम और रति की सर्वप्रथम प्रणयकेली सम्पन्न हुयी। उससे यह सृष्टि प्रकट हुयी। ये आधिदैविक प्रणयकेली थी। परमात्माके भीतर हो रही काम-रतिको आलेखकारने आधिभौतिक, स्थूलशरीरमें होते यौन-विकार, द्यौ-पृथ्वीके बीच होती काम-रतिसे उपपन्न किया है। रसशास्त्रमें भी काम-रतिको शृंगारात्मक माना गया है। मूलमें आधिदैविक रतिको लौकिकरतिमें पर्यवसित नहीं करके आत्मारतिमें पर्यवसित किया है।

श्री'विट्ठलायन' महाकाव्यकी भूमिका

इस उन्निसवां आलेख सर्वजन सुबोध ग्रन्थ 'श्रीविट्ठलायन'की भूमिकाके रूपमें हमारे सामने प्रस्तुत हुआ है। श्रीरूपचन्द्र खण्डेलवाल 'भूप'ने श्रीतुलसीकृत रामचरितमानस, अन्य षोडशग्रन्थ, विज्ञप्ति, सेवाप्रकार अष्टछाप आदि भक्तकवियोंके ललितपदोंको समाविष्ट किया है, जिसमें 'भावात्मक अतियथार्थ'को सरल सुंदर भाववाही गेयशैलीमें गाया है।

समग्र आलेखका मूल विषय सत्यका बुद्धि और श्रद्धा के साथ जो आपसी संबंध है वो पुरुषकी जननी एवं अर्धांगिनी के समान है। बुद्धिको अर्धांगिनी और श्रद्धाको जननीके रूपमें बताई है जो सत्यको पैदा कर सके है। श्रद्धाकी कथा है, बुद्धिकी कथा नहीं है।

अनेकविध भक्तोंके साथ भगवान्की लीला भी अनेकविध होती है। सर्वसमर्थका सर्वस्वभावानुसरण सारे यथार्थोंसे ऊपर एक अतियथार्थ या परमयथार्थकी स्थिति है। समग्र कृष्णावतारलीलाके सम्यग्बोधके लिये अतियथार्थका परिचय करवाया है। कृष्णलीला तो कालातीतकी कालिकता है, कालातीतका कालमें प्रवेश है अथवा कालातीतका कालको स्वीकारना इसी अर्थमें इसे नित्यलीला कहा जाता है।

श्रीवल्लभाचार्यमहाप्रभु और श्रीचैतन्यमहाप्रभु एक परिसंवाद

ये बीसवां आलेख अपने आपमें एक अनूठा है। इसकी विशेषता इसकी नाट्यशैली है। यहां श्रीवल्लभाचार्य एवं श्रीचैतन्य दोनोंके मुखारविंदमें अपने-अपने संवाद बुलवाये है। ऐसे प्रश्नोत्तरभावके संवादसे दोनों संप्रदायके बिच मनोमालीन्य बढ़ानेवाले प्रसंगपर कुछ प्रकाशपातन किया गया है।

पूर्वमीमांसासालघुकोश-प्रस्तावना

ये इक्कीसवें आलेखमें अर्थबोध और शाब्दबोध के वैविध्यकी बात फिरसे हिन्दीभाषमें बताई गई है। समादरणीय विद्वान श्रीकिशोरनाथ झाके द्वारा 'पूर्वमीमांसासालघुकोश' ग्रन्थका जब संकलन किया तब ग्रन्थकी

प्रस्तावना लिखनेके उनके आग्रहवश आलेखकार उद्यत हुए। उस निमित्तसे यह आलेख प्रकट हुआ है।

बौद्धमत निर्विकल्पक प्रत्यक्षको ही प्रमाण मानते हैं। अनुभूतिको शब्दविद्ध करनेपर अप्रमाण हो जाता है। मानके चलो के यदि अर्थ निर्विकल्पक है तो बुद्धिमें प्रकट होते विकल्पप्रत्ययका कारण क्या? यदि वासनाके कारण है तो वासनाका कारण क्या? ऐसे पूर्व-पूर्व कारणमें तो अनवस्था ही होयेगी।

यदि वर्णोंको भी निर्विकल्पक अनुभूतिके गोचर माना जाय तो पदान्तःश्लिष्ट वर्णों और वाक्यान्तःश्लिष्ट पदोंके स्वरूपभेदको भी विकल्परूप सिद्ध कर देगा। ऐसी स्थितिमें बुद्धि विकल्पोंका वर्णान्तर्गर्भित तथ्यके रूपमें करेगी या वर्णस्वरूपबाह्य मिथ्याभासके रूपमें? ऐसी स्थितिमें तथता और शब्दार्थता अवास्तविक और अबोध्य होती है।

आलेखकारने इन सभी बातोंका खुलासा दे के ये अतीव मननीय बात कही है कि 'याथार्थ्य' एवं 'याथात्म्य' के बीच मानसिक संकल्पितार्थ होता है और दूसरा मौलिक तथ्य। इन दोनोंके परस्पर संवादकी वास्तविकताको झुटलाया नहीं जा सकता।

ब्रह्म जैसे चतुष्पाद है ऐसे भाषा भी वर्ण-पद-वाक्य-प्रमाणतया चतुष्पाद है। कोई एक पादको प्रमाणित माननेपर प्रमा पैदा नहीं होती। अतएव वर्ण-पद-वाक्य-प्रमाणकी चतुष्टयीका सुविशद चिन्तन वैदिक चिन्तनमें उपलब्ध होता है।

सत्यसंधान

इस अन्तिम बाईसवें आलेखकी पृष्ठभूमि कुछ ऐसी है कि श्रीमान् उपेन्द्ररायजीने वैष्णवसंप्रदायके 'वार्ता-साहित्य'की अप्रामाणिकता सिद्ध करनेके हेतुसे कुछ आलेख 'वैचारिकी' 'विश्वम्भरा' 'सम्मेलन-पत्रिका' में प्रस्तुत किये थे। 'वार्ता-साहित्य'की प्रामाणिकताके बारेमें सत्यसंधान करे बिना, अप्रामाणिक प्रस्तुतिके जवाबके रूपमें आलेखकारने पत्रद्वारा कुछ बातें समझानेका प्रयास किया। इस व्यक्तिगत पत्र-व्यवहारको

और उल्लिखित मासिकमें प्रकाशित अर्धसत्य या जेहादी प्रवृत्तिको उजागर करके सत्यसंधानकी मनोवृत्ति क्या हो सकती है उस बातको द्वेषरहित हो कर और वेदादि-स्वसंप्रदायमें निष्ठ हो कर आलेखकारने कड़ी आलोचना करी है। 'वैचारिकी'में प्रकट हुयी 'पुष्टिमार्गीय वार्ता-साहित्य'पे किये गये आक्षेपका निरसन चार मुद्दोंसे प्रस्तुत किया है जो अतिविचारणीय है।

यदि बुद्धिमें जेहादीवृत्ति प्रेरित या छिद्रान्वेषण की कुरुचिके कारण कोई विचारधारा प्रकट होती है तो न वो आर्षपरंपरा हो सकती है न वो सत्यसंधान करनेवाली। "एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति तस्य धीराः परिजानन्ति योनिम्"।

इस ग्रन्थकी भूमिकाको आलेखकारके ही वचनसे प्रस्तुत करनेके लिये हमारी स्याही वापरनेका अवसर प्राप्त हुआ वो हमारा सौभाग्य है। इस ग्रन्थको सांगोपांग करानेमें सहयोग प्रदान करनेवालोंमें श्रीधर्मेन्द्र झाला, श्रीअनिल भाटिया, श्रीजगदीश शेठ श्रीकेतन गांधी और श्रीमनीष बाराई अविस्मरणीय है।

मनीषा-परेश



विषयानुक्रमणिका

आलेखक्रम	पृष्ठक्रम
१. सिद्धान्तसारसप्तकम्...	१-२
२. श्रीभागवतदशमतात्पर्यचतुश्श्लोकी...	३
३. धर्मादि - प्रमाणादिचतुष्टययोः सम्बन्धबोधिका साप्तदशी...	४-५
४. स्रष्टृसृष्ट्योर्वैपरीत्येऽपि स्रष्टृस्वरूपगुण - धर्मानुगुणतानिरूपणम्...	६-९
५. पराभिध्यानबन्धतद्विपर्ययप्रक्रियानिरूपणम्...	१०-११
६. सिद्धान्तापवादापसिद्धान्तप्रभेदः...	१२-१३
७. भक्तिस्वरूपानवबोधनिरासिकाः...	१४-२३
८. पुरुषसूक्ततात्पर्यसूचनिका...	२४-२६
९. भक्तिवरीयस्त्वनिरूपणम्...	२७-२८
१०. तादात्म्यस्वरूपविवेचनम्...	२९-३२
११. साकारब्रह्मवादानुरोधेन अभावस्वरूपनिरूपणम्...	३३-३६
१२. शब्दार्थवैविध्यनिरूपणम्...	३७-४४
१३. औपाधिकधर्मसत्यत्ववादः...	४५-४८
१४. तं तु औपनिषदं पुरुषं पृच्छामि?...	४९-५७
१५. वैदिक और वैज्ञानिक चिन्तनमें ब्रह्मांडकी अवधारणा...	५८-७९
१६. वाल्लभ वेदान्तमें चेतनावबोधके विविध प्रतिमान या स्तर...	८०-१२५
१. औपमक्रमिक ब्रह्माद्वैत...	८०
२. ब्रह्मान्तर्गत आत्मपरमात्मप्रभेद...	८९
३. ब्रह्म और परमात्मा के प्रभेद श्रुत्यादि शास्त्रप्रतिपाद्य प्रमेय है उत्प्रेक्षामूलक नहीं...	९२
४. वाल्लभ वेदान्त वेदादिशास्त्रोंकी व्याख्या है	

उत्प्रेक्षामूलक चिन्तन नहीं...	९२
५. सदेव, सौम्य!, इदम् अग्रे आसीद् एकमेवाद्वितीयं...	
तद् ऐक्षत 'बहु स्यां प्रजायेय!' इति...	९३
६. चेतनाका सृष्ट्यन्तर्गत अवान्तर-सृष्ट्याधाररूप स्वरूप...	९५
७. चेतनाके विविध प्रतिमान या स्तर में कुछ अनौपाधिक तो कुछ सोपाधिक भी हो सकते हैं...	१०६
८. सच्चिदानन्द ब्रह्ममें से त्रिगुणात्मिका प्रकृति और त्रिगुणातीत एवं गुणत्रयबद्ध पुरुष के प्राकट्यकी प्रक्रिया...	१०७
९. चेतनाके प्राणमय आदि पुरोंके और पुरुषके साथ जुड़े विविध स्वरूप...	११३
१०. चार्वाकसदृश आधुनिक विज्ञान और ब्रह्मतादात्म्यवादी वेदान्त...	११५
११. पंचाग्निविद्या...	१२०
उपसंहार...	१२४
१७. श्रीभागवतस्कन्धप्रकरणाध्यायविभाग सूचिका...	१२६-२११
उपक्रम...	१२६
प्रथम स्कन्ध...	१२९-१३३
प्रथम-द्वितीय स्कन्धार्थ अधिकार-साधन...	१२९
प्रथमस्कन्धके तीन प्रकरणोंका अर्थ...	१२९
१-३ यों तीन अध्यायोंवाला ^क प्राथमिक या हीन अधिकारका द्योतक प्रथम प्रकरण...	१२९
४-६ तीन अध्यायोंवाला ^ख मध्यमाधिकारका द्योतक द्वितीय प्रकरण...	१३०
७-१९ यों तेरह अध्यायोंवाला ^ग उत्तमाधिकारका द्योतक तृतीय प्रकरण...	१३१
द्वितीय स्कन्ध...	१३४-१३७

द्वितीयस्कन्धके तीन प्रकरण...	१३४
१-२ दो अध्यायोंवाला प्रथम ^क तत्त्वध्यान का निरूपक प्रकरण...	१३४
३-४ दो अध्यायोंवाला ^ख हृदयके भीतर सहज प्रसन्नताके मनोभावका निरूपक द्वितीय प्रकरण...	१३४
५-१० छह अध्यायोंवाला ^ग मननरूप साधनका निरूपक तृतीय प्रकरण...	१३५
उत्पत्तिके बारेमें मनन...	१३५
उपपत्तिके बारेमें मनन...	१३६
तृतीय स्कन्ध...	१३८-४७
तृतीयस्कन्धार्थ सर्गलीला...	१३८
प्रकारान्तर...	१३८
तृतीयस्कन्धमें बन्धसृष्टिके निरूपणार्थ १-६ अध्यायोंवाला गुणातीतसृष्टिका प्रथम प्रकरण...	१३८
तृतीयस्कन्धमें बन्धसृष्टिके निरूपणार्थ ७-९ अध्यायोंवाला सगुणसृष्टिका द्वितीय प्रकरण...	१३९
तृतीयस्कन्धमें बन्धसृष्टिके निरूपणार्थ १०-११ अध्यायोंवाला कालसृष्टिका तृतीय प्रकरण...	१४०
तृतीयस्कन्धमें बन्धसृष्टिके निरूपणार्थ १२ वें अध्यायवाला मुक्तजीवकी सृष्टिका चतुर्थ प्रकरण...	१४१
तृतीयस्कन्धमें बन्धसृष्टिके निरूपणार्थ १३-१९ यों कुल सात अध्यायोंवाला पांचवां प्रकरण...	१४१
तृतीयस्कन्धमें मुक्तसृष्टिके निरूपणार्थ २०-२४ अध्यायोंवाला तत्त्वमुक्तिका छद्मा प्रकरण...	१४२
तृतीयस्कन्धमें मुक्तसृष्टिके निरूपणार्थ २५ वें अध्यायवाला कालमुक्तिका सातवां प्रकरण...	१४३
तृतीयस्कन्धमें मुक्तसृष्टिके निरूपणार्थ २६-२७ अध्यायोंवाला गुणातीतमुक्तिका आठवां प्रकरण...	१४४
तृतीयस्कन्धमें मुक्तसृष्टिके निरूपणार्थ २८ वें	

अध्यायवाला सगुणमुक्तिका नौवां प्रकरण...	१४४
तृतीयस्कन्धमें मुक्तसृष्टिके निरूपणार्थ २९-३३ अध्यायोंवाला जीवमुक्तिका दसमां प्रकरण...	१४५
चतुर्थ स्कन्ध...	१४८-१५५
चतुर्थस्कन्धार्थ विसर्गलीला...	१४८
विसर्गलीलाके वर्णनार्थ चतुर्थस्कन्धके अन्तर्गत सात अध्यायोंवाला धर्मरूप पुरुषार्थका प्रथम प्रकरण...	१४८
विसर्गलीलाके वर्णनार्थ चतुर्थस्कन्धके अन्तर्गत पांच अध्यायोंवाला दूसरा अर्थरूप पुरुषार्थका प्रकरण...	१५०
विसर्गलीलाके वर्णनार्थ चतुर्थस्कन्धके अन्तर्गत ग्यारह अध्यायोंवाला तीसरा कामरूप पुरुषार्थका प्रकरण...	१५१
विसर्गलीलाके वर्णनार्थ चतुर्थस्कन्धके अन्तर्गत आठ अध्यायोंवाला चौथा मोक्षरूप पुरुषार्थका प्रकरण...	१५३
पंचम स्कन्ध...	१५६-१६३
पंचमस्कन्धार्थ स्थानलीला...	१५६
प्रकरणार्थ...	१५७
अध्यायार्थ...	१५७
स्थानलीलान्तर्गत स्वरूपस्थितिके मुख्य प्रकरणके अन्तर्गत भगवान्की अपने छह गुणोंसे स्वरूपस्थितिके निरूपणार्थ १-६ अध्यायोंवाला अवान्तरप्रकरण...	१५८
स्थानलीलान्तर्गत स्वरूपस्थितिके मुख्य प्रकरणके अन्तर्गत भगवान्की अष्टांगयोग तथा ज्ञान द्वारा स्वरूपस्थितिके निरूपणार्थ ७-१५ अध्यायोंवाला अवान्तरप्रकरण...	१५९
स्थानलीलान्तर्गत द्वितीय मुख्य प्रकरण देशस्थितिका है अतः तदन्तर्गत तीन अवान्तर प्रकरणोंमें प्रथम अवान्तरप्रकरण १६-२० अध्यायोंका...	१६०
स्थानलीलान्तर्गत २१-२३ अध्यायोंवाला पांचवा प्रकरण...	१६२
स्थानलीलान्तर्गत २४-२६ अध्यायोंवाला छद्मा प्रकरण...	१६२
षष्ठ स्कन्ध...	१६४-१६८

षष्ठस्कन्धार्थ पोषणलीला...	१६४
प्रकरणार्थ...	१६४
अध्यायार्थ...	१६४
पोषणलीलाके अन्तर्गत १-३ अध्यायोंवाला प्रथम नामप्रकरण...	१६४
पोषणलीलाके अन्तर्गत भगवद्रूपके ध्यानका निरूपण करनेवाले ४-१७ अध्यायोंवाला द्वितीय प्रकरण...	१६५
पोषणलीलाके अन्तर्गत भगवान्के अर्चनका निरूपण करनेवाले १८-१९ अध्यायोंवाला तृतीय प्रकरण...	१६८
सप्तम स्कन्ध...	१६९-१७२
सप्तमस्कन्धार्थ ऊतिलीला...	१६९
प्रकरणार्थ...	१६९
अध्यायार्थ...	१६९
ऊतिलीलाके अन्तर्गत १-५ अध्यायोंवाला प्रथम असद्वासनाप्रकरण...	१७०
ऊतिलीलाके अन्तर्गत ६-१० अध्यायोंवाला द्वितीय सदवासनाका प्रकरण...	१७१
ऊतिलीलाके अन्तर्गत ११-१५ अध्यायोंवाला तृतीय मिश्रवासनाका प्रकरण...	१७१
अष्टम स्कन्ध...	१७३-१७९
अष्टमस्कन्धार्थ मन्वन्तरलीला...	१७३
प्रकरणार्थ...	१७३
अध्यायार्थ...	१७३
मन्वन्तरलीलाके अन्तर्गत १-४ अध्यायोंवाला आपद्में श्रीहरिस्मरण सद्धर्मका प्रथम प्रकरण...	१७४
मन्वन्तरलीलाके अन्तर्गत ५-१४ अध्यायोंवाला सम्पद्में दानरूप सद्धर्मका द्वितीय प्रकरण...	१७५
मन्वन्तरलीलाके अन्तर्गत १५-२३ अध्यायोंवाला अपने दिये वचनकी सत्यताको निभानेके सद्धर्मका	

तृतीय प्रकरण...	१७६
मन्वन्तरलीलाके अन्तर्गत २४वें अध्यायवाला सद्धर्मके वक्तावाला चतुर्थ प्रकरण...	१७९
नवम स्कन्ध...	१८०-१९०
नवमस्कन्धार्थ ईशानुकथालीला...	१८०
प्रकरणार्थ...	१८१
ईशानुकथाके अन्तर्गत १-१३ अध्यायोंवाला दुःखनिवारक श्रीहरिकी लीलाके साथ सूर्यवंशके वर्णनपरक प्रथम प्रकरण...	१८१
ईशानुकथाके अन्तर्गत १४-२४ अध्यायोंवाला सुखप्रापक श्रीहरिकी लीलाके साथ चन्द्रवंशके वर्णनपरक द्वितीय प्रकरण...	१८७
दशम स्कन्ध...	१९१-२११
दशमस्कन्धार्थ निरोधलीला...	१९१
स्कन्धार्थ...	१९१
प्रकरणार्थ...	२०४
जन्मप्रकरणान्तर्गत चार अध्यायोंका प्रतिपाद्य अर्थ...	२०७
प्रथमाध्यायार्थ हेतुता...	२०७
द्वितीयाध्यायार्थ उद्यम...	२०८
तृतीयाध्यायार्थ रूपान्तरस्वीकरण...	२०९
चतुर्थाध्यायार्थ मायानाट्य...	२१०
१८. गीत गोविन्द रसावगाहन...	२१२
१९. श्री'विट्ठलायन' महाकाव्यकी भूमिका...	२१७
२०. श्रीवल्लभाचार्यमहाप्रभु और श्रीचैतन्यमहाप्रभु...	२२३-२४१
एक परिसंवाद...	२२३
श्रीधर तथा श्रीचैतन्य के अनुगामी...	३३४
चैतन्य सम्प्रदायकी वृन्दावनशाखा और बङ्गशाखा...	२३७
श्रीरूपगोस्वामी और वाल्लभसम्प्रदाय...	२३८
उपसंहार...	२४०

२१. पूर्वमीमांसासालघुकोश-प्रस्तावना...	२४२
२२. सत्यसंधान...	२४९
उद्धरण तालिका...	२८२-२८९



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

॥ १. सिद्धान्तसारसप्तकम् ॥

अगाधमाहात्म्यमहार्णवं तं
तितीर्षवः खल्वहमोडुपेन ॥
अहंतया ब्रह्मविभावेऽपि
स्वभावतोऽन्ते हि पराभवन्ति ॥१॥
अहं त्वम् एतत् तद् उ सर्वमेतत्
तदेव चास्तीति जगाद शास्त्रम् ॥
अहंविमुग्धा हि महाविदग्धाः
प्रपत्यभावाद् न तदाप्नुवन्ति ॥२॥
स्वकीयलीलार्थगृहीतभेदाद्
भयाकुला ये हि भवन्ति भूमौ ॥
परात्मजीवात्मविभेदभीताः
प्रपन्नतायामपि नो रमन्ते ॥३॥
रतिस्त्वभेदाच्च विजायतेऽत्र
भिदातु भीतिर्हि विवृद्धिमेति ॥
ततोऽद्वितायामुतवा द्वितायां
नात्यन्तिकत्वं परिकल्पनीयम् ॥४॥
स एकएवात्र बहुस्वरूपं
स्वभावशक्त्या प्रकटीकरोति ॥
अतः प्रपञ्चो नहि मायिकोऽस्ति
न प्राकृतो वा परमाणुजातः ॥५॥
अभावतो वापि न कालतो वा
स्वभावतो वापि नचेह सिद्धः ॥
तदात्मकस्तस्य च कार्यरूपः

इति श्रुतिप्रोक्तमतं मतं नः ॥६॥
अहं त्वमेवास्मि तवाहमस्मि
त्वं मामकीनोऽसि मदीयएव ॥
इति त्रिधा भेदवती मतिः स्यात्
विज्ञानमाहात्म्यरतिप्रयुक्ता ॥७॥
गोस्वामिना श्याममनोहरेण
निरूपितो दीक्षितसूनुनेति ॥
श्रीवल्लभोक्तश्रुतिसारसारः
संसारनिःसारणसाधनायै ॥८॥

इति गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मजेन श्याममनोहरेण विरचितं
सिद्धान्तसारसप्तकं
सम्पूर्णम्



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

॥ २. श्रीभागवतदशमतात्पर्यचतुश्श्लोकी ॥

मतिः कृष्णे गतिः कृष्णे रतिः कृष्णेऽस्तु सर्वदा ॥
संसृतिर्वापि मुक्तिर्वा कृष्णैव सदा मम ॥१॥
बुद्धिर्हि कृष्णमाहात्म्यज्ञानायोद्घोषणाय वा ॥
सम्मोहः कृष्णलीलासु वानिवर्त्यः सदा मम ॥२॥
(इति फलात्मको निरोधः)

मैत्री कृष्णजनैः साकं द्वेषः श्रीकृष्णद्वेष्टरि ॥
औदासीन्यम् उदासीने कृष्णाय हि सदा मम ॥३॥
निग्रहोऽनुग्रहो यो वा चेत् कृष्णेन फलाय हि ॥
कृष्णास्यकृपयैवं वै भूयाद् भावः सदा मम ॥४॥
(इति साधनात्मको निरोधः)

दशमस्कन्धतात्पर्यं चतुश्श्लोक्यां निरूपितम् ॥
फलसाधनद्वैविध्यं श्यामेनाचार्यसंश्रयात् ॥५॥

इति गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मजेन श्याममनोहरेण विरचिता
श्रीभागवतदशमतात्पर्यचतुश्श्लोकी
सम्पूर्णा



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

॥ ३. धर्मादि-प्रमाणादिचतुष्टययोः सम्बन्धबोधिका साप्तदशी ॥

धर्मार्थकाममोक्षाख्यं पुरुषार्थचतुष्टयम् ॥
प्रमाणेन प्रमेयेण साधनेन फलेन च ॥१॥
सम्बन्धतारतम्ये चैतेषां तु विविधे मते ॥
तन्मीमांसया ये विभात एते हि निरूपिते ॥२॥
धर्मः प्रमाणरूपो हि अर्थानर्थावबोधने ॥
प्रमेयो लोकसिद्धोऽयं लाभहानिकरः परः ॥३॥
“अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्” ॥
(महाभा. ६।२।३९)

प्रमेयता परा लोके न कस्यापि तथा मता ॥४॥
अर्थानर्थविवेकस्तु नेच्छातो न यदृच्छया ॥
धर्मेणाधिगमस्तस्य ततो धर्मप्रमाणकः ॥५॥
धर्मार्थयोरतो ज्ञेया मानमेयस्वरूपता ॥
धर्म्ये चार्थे यदा कामः स कामः साधनं मतम् ॥६॥
अधर्म्येऽनर्थरूपे तु कामः स्याद् दुष्टसाधनम् ॥
तस्मात् सुकामदुष्कामौ स्यातां साधकबाधकौ ॥७॥
साधकेन फलं मोक्षः बन्धनं बाधकेन हि ॥
मोक्षस्तु तावत् सर्वेषां स्वस्वरूपे ह्यवस्थितिः ॥८॥
अस्वरूपस्थताऽस्वास्थ्यं आरोग्ये स्वास्थ्यमित्यपि ॥
ब्रह्मवादाश्रिते पुष्टिमार्गे तूभयोरपि ॥९॥
निरूपितो “हरेर्दास्यं धर्मोऽर्थो हरिरेव हि ॥
कामो हरिदिदृक्षैव मोक्षो कृष्णस्य चेद् ध्रुवम्” ॥१०॥
(वृत्रा. चतु. टिप्प.)

आचार्योक्त्या हि विज्ञेयास्तद्व्याख्यानमिहोच्यते ॥

निवेदितात्मनश्चेह श्रीकृष्णे परमात्मनि ॥११॥
 दास्यभावेन या सेवा स्वधर्मो हि परः स नः ॥
 धर्मेणैतेन बोद्धव्यः प्रमेयस्तु ब्रजाधिपः ॥१२॥
 तत्सेवा लाभपूजादिदुर्भावरहिता मता ॥
 यदृच्छालाभसन्तुष्ट्यानुभूतो हि भवेद् हरिः ॥१३॥
 हरेर्दिदृक्षा सेव्ये स्वे भक्तिभावात्मिका सदा ॥
 न पुनः स्वीयसेवायाः आडम्बरप्रदर्शना ॥१४॥
 स्वमात्मानं यदा तस्य कृष्णस्य मनुते जनः ॥
 यथा करोति स्वस्वामी तथावस्थितिस्वस्थता ॥१५॥
 निष्ठा लोकेऽप्यवस्थाने मोक्षः सोऽत्र मतो हि नः ॥
 प्रोक्तास्त्वेवं स्वमार्गीय-पुरुषार्थाः विलक्षणाः ॥१६॥
 प्रमाणादिचतुर्णाञ्च तत्सम्बन्धोऽपि वर्णितः ॥
 श्रीमदाचार्यकृपया स्वभावविजयाय च ॥१७॥

इति गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मजेन श्याममनोहरेण विरचिता
 धर्मादि-प्रमाणादिचतुष्टययोः सम्बन्धबोधिका साप्तदशी
 सम्पूर्णा



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
 ॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

॥ ४. स्रष्टृसृष्ट्योर्वैपरीत्येऽपि स्रष्टृस्वरूपगुणधर्मानुगुणतानिरूपणम् ॥

(मंगलाचरणम्)

समुदितनिजमार्गबोधतुष्टः
 शरणसमागतजीवसंघजुष्टः ॥
 निरुपधिकरुणारसैकपुष्टः
 कृपयतु कृपयतु वल्लभः प्रभुः सः ॥१॥

(विषयोपक्रमः)

ब्रह्मणि सच्चिदानन्दे स्वानन्दस्य निगूहनात् ॥
 जडजीवात्मिका सृष्टिः रूपनामविभेदतः ॥२॥
 प्रादुर्भूता हि विषमा ततः सर्वसमात् खलु ॥
 मदक्रोधौ तिरोधानात् तस्यैवैश्वर्यवीर्ययोः ॥३॥
 लोभमात्सर्ययोर्जन्म श्रीयशोरहिते मतम् ॥
 ज्ञानवैराग्यलोपात्तु मोहकामसमुद्भवः ॥४॥
 एवमस्मासु ये दोषास्ते तिरोधानहेतुकाः ॥
 भगवद्गुणानामानन्दरूपाणां व्युत्क्रमात्मकाः ॥५॥
 अतो हि विषमा सृष्टिस्ततः सर्वसमाद् इयम् ॥
 तस्यातर्कितसामर्थ्यात् सत्यसंकल्पलीलया ॥६॥

(क्रियाकृतिव्यवहारनीतिधर्मभक्तयः)

जडवस्तुस्वभावोत्था क्रिया साऽचेतनात्मिका ॥
 ज्ञानेच्छायत्नसञ्जाता क्रिया सा हि कृतिर्मता ॥७॥
 परस्मै या कृतिः सातु परेष्टानिष्टकारिणी ॥

'व्यवहार'पदवाच्या ह्यन्योन्यकृतिभावुका ॥८॥
 पुरातु राजा राज्यं वा दण्डो वा दाण्डिकोऽपि वा ॥
 न कोऽप्यासीत् प्रजा सर्वाः धर्मनीताः स्वतो मिथः ॥९॥
 क्षीणे धर्मे कलावस्मिन् व्यवहारविनिर्णये ॥
 स्मृत्यादिषु धर्मसभा राजा चायोजितोदिता ॥१०॥
 नैकस्य धर्मशास्त्रस्य जनाः सर्वेऽनुयायिनः ॥
 इति हेतोः न्यायविदो न्यायमन्दिरवर्तिनः ॥११॥
 'संविधान'तयाख्यातं व्यवहारनियामकम् ॥
 अधुनातु पुरस्कृत्य तद्विरोध्यविरोधि वा ॥१२॥
 निर्धारयन्तो दृश्यन्ते सर्वदेशेषु प्रायशः ॥
 तत्रापि निर्णयो न्याय्यो न सर्वोऽपि मतो यतः ॥१३॥
 आत्मसाक्ष्योद्भवां नीतिं श्रयन्ति नान्यनिर्भराम् ॥
 नीतिरप्यात्मवैविध्याद् बीजभावप्रभेदतः ॥१४॥
 यादृश्येकत्र संदृष्टा नेतरस्मिंस्तु तादृशी ॥
 स्वदेशे यः सदाचारो भगवद्धर्मशालिभिः ॥१५॥
 प्रवर्तितः स धर्मोऽतः स्वकर्तव्यतयेष्यते ॥
 धार्मिकैर्विविधैः लोके तत्तन्मार्गानुवर्तिभिः ॥१६॥
 न सोऽपि सम्यक् केनापि निर्वोदुं शक्यतेऽधुना ॥
 अतो भक्तिप्रपत्त्योर्हि यैव शक्या भवेद्धि सा ॥१७॥
 अनुष्ठेया स्वेष्टदेवे गतिमन्यां न मन्वते ॥
 एतयोरपि जीवस्य स्वभावगुणकर्मतः ॥१८॥
 (तथैव तस्य लीलेति मत्वा चिन्तात्यागः)
 प्रतिबन्धका हि बहुलाः सन्त्येव नहि संशयः ॥
 अतोहि भगवल्लीलामवगत्य पुमानिह ॥१९॥
 संसारशोकमोहाग्नेरात्मानं त्रातुमर्हति ॥
 (यथास्वरूपं यः ब्रह्माण्डे तत्पिण्डेऽपि)
 तल्लीलातु तदानन्दोच्छलनाज्जडजीवता ॥२०॥

स्वरूपदेशकालीया ह्यानन्दोऽपरिच्छिन्नता ॥
 वीर्यैश्वर्ये तथा ज्ञानवैराग्ये च यशःश्रियौ ॥२१॥
 यथेमे भगवद्रूपधर्मिण्येवं चिदात्मनि ॥
 "महत् तत्त्वं ब्रह्मरूपम् अस्मच्चित्तं तथैव च ॥२२॥
 अहंकारो रुद्ररूपम् अहंकारोऽस्मदादिषु ॥
 मनश्चन्द्रशरीरं च मनोऽस्माकं तथैव च ॥२३॥
 चक्षुः सूर्यशरीरं च चक्षुरस्माकमेव च ॥
 मूलेन्द्रियाणि ब्रह्माण्डं देवदेहास्तथैव च ॥२४॥
 (त.दी.नि.२।१२२-१२४)
 अतो ह्यस्मद्गतं सर्वं विषमं सर्वसमो हि सः ॥

स्वभावश्च क्रियाकर्मव्यवहारास्तथापरे ॥२५॥
 नीतिधर्मावपि ज्ञेयौ जीवेषु गुणवत्सदा ॥
 स्वभावो वीर्यस्थानीयः क्रिया चैश्वर्यवन्मता ॥२६॥
 ज्ञानवत्कर्मव्यवहारौ स्यातां जीवे ह्युभावपि ॥
 नीतिर्वैराग्यवज्ज्ञेया यशोरूपस्तु धर्म वै ॥२७॥
 भक्तिर्भगवति श्रीः स्याद् धर्मिरूपात्मनि सदा ॥
 भगवद्-भक्तयोः भूमौ मिथो वश्यत्वसाधिकाम् ॥२८॥

भगवद्रूपान्तरां वन्दे भक्तिं जीवहृद्गताम् ॥
 जीवेषु विषमा ह्येते समास्युः परमात्मनि ॥२९॥
 न तस्मात्सच्चिदानन्दाद् बहिर्भवितुमर्हति ॥
 किञ्चिज् जातं हि यत् तस्मिन् ब्रह्मणि परमात्मनि ॥३०॥
 आतश्चैवमूह्यते हि समत्वं विषमेष्वपि ॥
 श्रुतौ निषिद्धमन्येषां तत्समत्वं न तस्य तु ॥३१॥

(उपसंहारः)

श्रीमदाचार्यकृपया भातं बुद्धौ निरूपितम् ॥

बुद्धिमान्द्यादिहायुक्तं बाल्यचेष्टां क्षमन्तु ते ॥३२॥

इति गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मजेन श्याममनोहरेण विरचितं
स्रष्टृसृष्ट्योर्वैपरीत्येऽपि स्रष्टृस्वरूपगुणधर्मानुगुणतानिरूपणं
सम्पूर्णम्



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

॥ ५. पराभिध्यानबन्धतद्विपर्ययप्रक्रियानिरूपणम् ॥

(मंगलाचरणम्)

न परो नापरः कश्चित् परापरविवर्जितम् ॥
परात्परतरं लीलानन्दे नन्दात्मजं भजे ॥१॥

(विषयोपक्रमः)

एकस्यैवाद्वितीयस्य सच्चिदानन्दब्रह्मणः ॥
अनेकताभिध्यानेन जडजीवेशभिन्नता ॥२॥
चिदानन्दांशयोस्वस्य गूहनं जडजीवयोः ॥
सर्वज्ञे चांशिनि तेनांशेष्वसर्वज्ञरूपता ॥३॥
तेन बन्धश्च मोक्षश्च यौ लीलायां हि निर्मितौ ॥
प्रक्रियाचार्यकृपया वर्णयामि यथामतिः ॥४॥

(तथाहि)

कामो वैराग्यरहिते अनैश्वर्यात्तु क्रोधिता ॥
अविश्रम्भात् स्ववीर्ये तु लोभो नूनं विवर्धते ॥५॥
ज्ञानाभावे भवेद् मोहो श्रिया हीने मदो मतः ॥
यशोहीनो मत्सरी स्याद् इत्येवं विपरीतता ॥६॥
भगवद्गुणतिरोधाने जीवे तल्लीलयोदिता ॥
विपरीतगुणैर् जीवोऽनीशो दुःखित्वमाप्नुयाद् ॥७॥

(वैपरीत्यनिवारणोपायः)

सोढ्वा दुःखत्रयं सोऽपि विवेकं लभते यदा ॥
तर्हि शक्तो भवेद् अत्र श्रीहरेस्त्वाश्रयाय वै ॥८॥

तस्मिन् अनन्यभावे हि जाते भक्त्यधिकारिता ॥
 भक्तिः स्नेहेन चांशस्य स्वांशर्थे स्वस्थितिर् मता ॥१॥
 सानुग्रहादेव शक्या ह्यन्यथापाधिकी भवेद् ॥
 प्रावाहिकी न सा मान्या पुष्टिभक्तितयात्र हि ॥१०॥
 पुष्टिभक्तौ हि जातायां तदानन्दानुभूतितः ॥
 भगवद्गुणानां षण्णां हि यथास्वांशे समुद्भवः ॥११॥

(तत्रापि चातुर्विध्यम्)
 आविर्भावतिरोभावौ पुष्टिभक्तेः निरूपितौ ॥
 सत्त्वप्रधानेऽनुग्रहेण सञ्जाता सात्त्विकी भवेत् ॥१२॥
 रजःप्रधाने राजसी सा तामसे तामसी तथा ॥
 सात्त्विक्या बोधप्रधान्यं राजस्या कर्ममुख्यता ॥१३॥
 तामस्या प्रेमदाढ्यं च निर्गुणे निर्गुणा सदा ॥
 नैर्गुण्ये सर्वसमता सर्वथा ब्रह्मभूयसी ॥१४॥

(विषयोपसंहारः)
 तत्कृपागुणलीलानुभावानां चिन्तनेन हि ॥
 पुष्टिभक्त्योर्हि बीजांकुरवच्चान्योन्यहेतुता ॥१५॥

इति गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मजेन श्याममनोहरेण विरचितं
 पराभिध्यानबन्धतद्विपर्ययप्रक्रियानिरूपणं
 सम्पूर्णम्



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

॥ ६. सिद्धान्तापवादापसिद्धान्तप्रभेदः ॥

(मंगलाचरणम्)

सर्वात्मसु स्थितः सर्वबुद्धिप्रेरको हि सन् ॥
 परमात्मा यस् तं ध्यायन् किञ्चिदत्र निरूप्यते ॥१॥

(सिद्धान्ततदपवादौ)

मतिभेदाद् मनुष्याणां मतभेदोऽपि जायते ॥
 सिद्धान्तश्चापसिद्धान्तप्रभेदात् स द्विधा मतः ॥२॥
 अभिधानविधानाभ्यां तत्त्वकर्तव्यभेदयोः ॥
 सिद्धान्तो द्विविधोऽन्त्येन निषेधोऽप्युपलक्ष्यते ॥३॥
 प्रमाणादिचतुर्भिश्चाभिधानं तत्त्वगं मतम् ॥
 देशादिषट्कैः सम्पाद्यं कर्तव्यन्तु विधानतः ॥४॥
 उत्सर्गापवादभेदाच्चोभयोः या द्विरूपता ॥
 प्रमाणादेश्च देशादेः सामान्योल्लेखनाद् भवेत् ॥५॥
 उत्सर्गश्चापवादस्तु तद्विशेषेषु बाधनात् ॥
 ततोऽन्यत्राप्रसक्तेस्तु ह्यपवादो न सर्वगः ॥६॥

(अपसिद्धान्तः ततोऽन्यः)

चतुर्विधेन सिद्धान्तेनापि यस्य विरोधिता ॥
 अपसिद्धान्ततैवेह तादृग्वचनतोदिता ॥७॥

(विषयोपसंहारः)

सिद्धान्तस्यापवादस्य यापसिद्धान्ततो भिदा ॥

निरूपिता मया चात्र जिज्ञासूनां तु तुष्टये ॥८॥

इति गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मजेन श्याममनोहरेण विरचितः

सिद्धान्तापवादापसिद्धान्तप्रभेदः

सम्पूर्णः



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

॥ ७. भक्तिस्वरूपानवबोधनिरासिकाः ॥

(मंगलाचरणेन विषयोपन्यासः)

श्रौतं स्मार्तं सदाचारम् अनिरास्य स्वनिर्भरम् ॥

स्वपरं चेतुरापेक्षारहितं शरणं हरिः ॥१॥

पार्थायोद्धवाद्यापि स्वोपदेशेन दर्शयन् ॥

तत्त्वतः स्वकृपा-मार्गबीजं शास्त्रीयमुक्तवान् ॥२॥

एतन्मूलं साधनानां साधनाभासतान्यथे- ॥

त्युपदेशपरं वन्दे वल्लभं पुष्टिवल्लभम् ॥३॥

तदुक्तभगवद्भक्तेः स्वरूपं वर्णयाम्यहम् ॥

स्वान्तर्भूतस्वरूपायाः अन्यापेक्षाविवर्जितम् ॥४॥

(तत्र पूर्वपक्षो ननु)

अनाचारस्तु सन्त्याज्यो ह्यत्याचारस्तु मूर्खता ॥

न भक्तौ नरकावाप्तिः ताभ्यां युक्तस्य हीनता ॥५॥

इत्युक्तत्वाद् भक्तिमार्गाचार्याचारोपदेष्टृभिः ॥

अनाचारः कथं सह्यो मार्गेऽस्मिन् मार्गवर्तिनाम् ? ॥६॥

(इति चेत् तत्समाधानम्)

शुकवच्चाभाणकं जल्पन् नच पूर्वापरं मृशन् ॥

प्रष्टव्योऽसि पुष्टिभक्तम्मन्यमानो यथामतम् ॥७॥

चतुरशीतिवार्ताद्वाचत्वारिंशत्तमे हि यत् ॥

उक्तं श्रीमदाचार्यैर् आचारादेरुपेक्ष्यता ॥८॥

भगवत्सेवने प्रीतिः परतोषप्रदा यतः ॥

गृहं धनं तथा संगः त्याज्याश्चैते हि यद्यपि ॥९॥

त्यागाशक्तौ तु कृष्णाय विनियोगोऽपि शंसितः ॥
 अनाचारोऽपि सन्त्याज्यः त्यागाशक्तौ च हीनता ॥१०॥
 योगेशेष्टापि तत्र श्रीयोगेश्वरमता नहि ॥
 “अपि चेत्सुदुराचारो भजते माम्” इति स्मृतेः ॥११॥
 (भग.गीता. ९।३०)
^{२क}अनाचारसदाचारौ भिन्नौ नैकान्ततः क्वचित् ॥
 एकस्मै यः सदाचारोऽपरेभ्यो हीनतरो न किम् ? ॥१२॥
 अतिगह्वर्यो पशोर्मांसो भक्षणाय हि वैष्णवे ॥
 पौर्वात्येषु श्रौत्रियेषु न दोषः श्राद्धभक्षणे ॥१३॥
 पुरापि बहुधा तत्र मांसभक्षणवर्णनम् ॥
 आर्षं भागवतादौ हि दृश्यते किं न स्मर्यते ? ॥१४॥
 अन्नकूटेऽपि हि बलिर् आसीन्मांसादिभिस्तदा ॥
 भगवतैवोपदिष्टा चेत् क्व भेदो वदतात् स्वयम् ॥१५॥
^{२ख}शूद्रस्थैवामन्त्रपूजा द्विजेभ्यस्तु न शंसिता ॥
 तन्त्रमार्गे, भक्तिमार्गे पूजायाम् अन्यथा स्थितिः ॥१६॥
 मन्त्रोच्चारणाग्रहस् तस्माद् अत्याचारो भवेन्न वा ? ॥
 अस्तिकल्पे मार्गरीतिर् मन्त्राणां मूर्खता न किम् ॥१७॥
 नास्तिकल्पे त्वनाचार - करणाद् हीनता ध्रुवा ॥
^{२ग}मधुपर्के गवालम्भो पुरा तु विहितोऽपि हि ॥१८॥
 कलौ निषिद्धस्याप्यत्र कालभेदान्न भिन्नता ॥
^३विध्येकशरणत्वन्तु कुशकाशावलम्बनम् ॥१९॥
 नहि कोऽपि विधिः सर्वान् अधिकृत्य प्रवर्तते ॥
 “वर्णाधिकारिता ज्ञेया गुणकर्मविभागशः ॥२०॥
 गुणः स्वभावमूलो हि गीतायामुपवर्णितः ॥
 “स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा” ॥२१॥
 “ब्राह्मणक्षत्रियविशां... स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥
 कर्माणि प्रविभक्तानि” कृष्णवाक्यप्रमाणतः ॥२२॥
 (भग.गीता. १८।६०, १८।४१)

स्वभावो बहुधा देशद्रव्यकालैर्हि भिद्यते ॥
 विधिः सर्वान्तः कोपि नाधिकर्तुं क्षमः क्वचित् ॥२३॥
 “त्रैपौरुषम् अनाधानम् अग्नेः पातित्यकारकम् ॥
 अपांक्तेयतयाख्यातं केनात्र विधिरादृतः ? ॥२४॥
 “अंगबंगकलिंगेषु सौराष्ट्रमगधेषु च ॥
 विनैव तीर्थयात्रां” हि पातित्यं गमने मतम् ॥२५॥
 पुनःसंस्कारं कुर्वस्तु न कोऽप्युपलभ्यते ॥
 सोऽयं किं स्यादनाचारोऽत्याचारो वेति कथ्यताम् ॥२६॥
^{७क}पतितस्यात्महन्तुश्च कारगृहमृतस्य च ॥
 नाशौचं वर्णितं यस्मात् पालनेत्वपवित्रता ॥२७॥
^{७ख}गृहे दासमृतिश्चापि आशौचापादिका मता ॥
 केनानुष्ठीयते तत्रेदानीं शक्यमपि भृशम् ॥२८॥
 “नैव किञ्चिन्मृताशौचं आद्यन्त्याश्रमयोः मतम् ॥
 अथाविहितहेतुश्चेद् अवर्णिषु कुतो न तत् ? ॥२९॥
 “वर्णाश्रमीयधर्मस्तु न पुरा जातिमूलकः ॥
 मिथ्याभिमानरूपत्वाद् जात्यादेर्न विधिस्तदा ॥३०॥

(तस्मात् सिद्धम्)

^{१०}वैधावैधौ सदाचारानाचारौ नहि सर्वगौ ॥
 उत्कर्षापकर्षहेतू नैकान्तिकतया मतौ ॥३१॥
 अभक्तिमार्गेऽप्येवं स्वशक्यानुष्ठेयता तयोः ॥
 भक्तौतु भक्तिरेकैव प्रायः श्रेयस्करी मता ॥३२॥
 अत उक्तं निजाचार्यैः स्फुटा मार्गविभिन्नता ॥
 “लौकिकत्वं वैदिकत्वं कापट्यात्तेषु नान्यथा ॥३३॥
 वैष्णवत्वं हि सहजं ततोऽन्यत्र विपर्ययः” ॥

(पु.प्र.म. २० - २१)

(तत्र आशंका)

“भक्तिशास्त्रानुकूल्येन स्वधर्माचरणं भवेत् ॥३४॥

देहः संशोधनीयो हि हरिभावो न चान्यथा ॥
 शौचाचारविहीनस्य ह्यासुरावेशसम्भवात् ॥३५॥
 (सा.दी.१७ - १९)
 इति ज्येष्ठात्मजानां हि वचनानान्तु का गतिः ? ॥

(तत्समाधानम्)

११ अत्रावधेयं तात्पर्यं 'स्व'पदस्य विशेषतः ॥३६॥
 यावत् स्ववर्णाश्रमगते देहेऽहंकृतिर्हि या ॥
 तावत् तथैव धर्मोहि न भक्तिरपि तत्र हि ॥३७॥
 भक्तौ कल्पद्वयञ्चेह समुच्चयविकल्पतः ॥
 वर्णाश्रमसदाचाराश्रितानाश्रितभेदतः ॥३८॥
 देहाभिमानशैथिल्ये त्वाद्ये ह्यधिकृतो भवेत् ॥
 विकल्पे तूभयविधो ह्यधिकारी मतो यतः ॥३९॥
 तादृश्याश्चाभिधाने हि विशेषणत्रयं मतम् ॥
 "भक्तिः शुद्धा स्वतन्त्रा च दुर्लभे"त्यपि तत्र हि ॥४०॥
 अतएव निबन्धेऽस्मिन् शुद्धिरूपनिरूपणे ॥
 "शुद्धिं केचित् पृथक् प्राहुः संस्कारः कस्यचिन्मते ॥४१॥
 देश-काल-द्रव्य-कर्तु-मन्त्र-कर्म-विभेदतः ॥
 षोढा शुद्धिः स्मृता सापि द्विधा ह्यन्योन्यतः स्वतः ॥४२॥
 सर्वशेषयमाख्याता श्रुत्यर्थेऽपि विशेषतः ॥
 धर्मः सम्पद्यते षड्भिर् अधर्मो ह्यन्यथा भवेत्" ॥४३॥

(त.दी.नि.२।४०-४१)

इत्युक्त्वापि पुनस्त्वग्रे यदुक्तं तद् निभाल्यताम् ॥
 "षड्भिः सम्पद्यते धर्मस्ते दुर्लभतरा कलौ ॥४४॥
 अथापि धर्ममार्गेण स्थित्वा कृष्णं भजेत् सदा" ॥
 (त.दी.नि.२।२१४-२१५)
 तदत्र धर्ममार्गे हि स्थितिः किमिति चिन्तने ॥४५॥
 पाषण्डमतस्वीकारहिता स्थितिरुच्यते ॥

देशादिषट्काशुद्धेश्चानुष्ठिते तु न धर्मता ॥४६॥
 मुख्यधर्मफलाभावः आचार्यैरेव वर्णितः ॥
 देहाभिमानशैथिल्यं देशकालादिसम्भवम् ॥४७॥
 यथा तथा ज्ञानभक्तेः सज्जातमपि कुत्रचित् ॥
 प्रवाहपतिते जीवे शक्यते प्रथमा यथा ॥४८॥
 न तत्रोद्धृति भक्त्या चेत् प्रह्लादोक्तिर्विरुद्ध्यते ॥
 "नालं द्विजत्वं देवत्वं ऋषित्वं वासुरात्मजाः ॥४९॥
 प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्जता ॥
 न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च ॥५०॥
 प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम्" ॥

(भाग.पुरा.७।७।५१ - ५२)

भक्तराजस्य चैतस्य वचनं हृदिकृत्य च ॥५१॥
 अस्मादाचार्यवर्योऽपि "द्रव्याचारक्रियादयः ॥
 न हेतवो हरेस्तुष्ट्यै भक्तिरेकैव तुष्टिदा" ॥५२॥

(८४वै.वा.४२)

सज्जगाद् इति मन्तव्यं मार्गे निजजनैः सदा ॥

(तत्र पूर्वपक्षः)

नन्वेवन्तु जनाः सर्वे निजासामर्थ्यदम्भतः ॥५३॥
 त्यक्त्वा स्वधर्माचरणं न भक्तिं दूषयेयुः किम् ? ॥
 मार्गं पाषण्डतापूर्णं नो करिष्यन्ति किं तदा ? ॥५४॥

(तत्समाधानम्)

१२ मार्गे पातभयं नास्तीत्याचार्योक्तेर्हि नो तथा ॥
 पातेऽप्युद्धारकः कृष्णः समर्थो हि स्वतः प्रभुः ॥५५॥
 १३ अथान्यदपि यच्चोक्तं ह्यवधार्य च तत्पुनः ॥
 "कृपयाधमतां प्राप्तं भक्तं वै मोचयेत् क्वचित् ॥५६॥
 अनियुक्ततपस्यानां पीडया क्रोधतः क्वचित् ॥

हीनभावं नयत्येषः दुष्टं वा मोचयेत् क्वचित् ॥५७॥
 अतोऽपि भजनं कार्यं भजनेन हि तादृशम् ॥
 (त.दी.नि. २।२६९, २७१)
 अनिच्छन्नप्युद्धारं नासेव्यो भगवान् क्वचित् ॥५८॥
 (भगवदिच्छाभावेऽपि भजने भजनमेव परं न
 निर्वहेत् नतु अनिष्टं किञ्चित्)
 (त.दी.नि.प्र. २।२७१)

(किञ्च)

“अधुनातु कलौ सर्वे विरुद्धाचारतत्पराः ॥
 स्वाध्यायादिक्रियाहीनास्तथाचारपराङ्मुखाः ॥५९॥
 क्रियमाणं तथाचारं विधिहीनं प्रकुर्वते ॥
 विक्षिप्तमनसो भ्रान्ता जिहोपस्थपरायणाः ॥६०॥
 ब्राह्म्यप्रायाः स्वतोदुष्टास्तत्र धर्मः कथं भवेत् ॥
 षड्भिः सम्पद्यते धर्मस्ते दुर्लभतरा कलौ ॥६१॥
 अथापि धर्ममार्गेण स्थित्वा कृष्णं भजेत् सदा ॥
 श्रीभागवतमार्गेण स कथञ्चित् तरिष्यति” ॥६२॥
 (त.दी.नि. २।२१२ - २१५)
 व्याख्या हि वचनस्यास्य यथाचार्यैः कृता ततः ॥
 धर्मत्वेन कृते स्वीये धर्माभासे न धर्मता ॥६३॥
 तथापि लोके पाषण्डमतस्वीकारवर्जितम् ॥
 यथाकथञ्चित् यत् शक्यं श्रौतस्मार्तादि कर्म हि ॥६४॥
 कुर्वन् भागवतोक्तं हि शरणं भजनं तथा ॥
 समर्पणं च तल्लीलागानादिकमेव च ॥६५॥
 क्रियते येन सोऽप्यत्र युगेऽस्मिन्नुद्धृतो भवेत् ॥
 चिन्त्यतेऽतो भागवतधर्मादपि पुरात्र हि ॥६६॥
 भक्तिशास्त्रप्रवृत्तेर्हि मूलं भागवतोदितम् ॥

(तथाहि)

१३“तपः शौचं दया सत्यम् इति पादाः प्रकीर्तिताः ॥६७॥
 अधर्माशैः त्रयो भग्नाः स्मय - संग - मदैस्तव ॥
 इदानीं धर्म ! पादस्ते सत्यं निर्वर्तयेद् यतः ॥६८॥
 तं जिघृक्षत्यधर्मोऽयं अनृतेनैधितः कलिः” ॥
 (भाग.पुरा. १।१७।२४ - २५)
 भग्नपादत्रये धर्मे सत्येनैकेन गामिनि ॥६९॥
 देशादिषट्कसापेक्ष-साधनाशक्यता ध्रुवा ॥
 प्रमाणादिचतुर्णां हि त्रिषु नैर्भर्यम् ईप्सितम् ॥७०॥
 श्रुतिस्मृतिपुराणादि प्रमाणं सत्यमूलकम् ॥
 तदेकवाक्यताभातं प्रमेयं सत्यमेव तत् ॥७१॥
 साधनानां तपःशौचाद्यपेक्षारहितं परम् ॥
 स्वकीयानुग्रहभरं जीवोद्धारक्षमं सदा ॥७२॥
 कृपावान्तरव्यापारभक्त्यादीन् जनयन् स्वतः ॥
 फलात्मकं हि फलदं श्रीमद्भागवतोदितम् ॥७३॥
 तदाश्रयः पुष्टिमार्गे श्रीभागवतमूलकः ॥
 तदाश्रयाद् भक्तिमार्गाचारकर्मोपदेशकः ॥७४॥
 वल्लभः प्राह स्वग्रन्थे सर्वनिर्णयवर्णके ॥
 प्रमाणादिचतुर्णामप्येकरूपतयात्र हि ॥७५॥
 मार्गोऽयं सर्वमार्गाणाम् उत्तमः परिकीर्तितः ॥
 कलिकालनिवृत्तायाः मर्यादायास्तु पालनम् ॥७६॥
 नातो फलोपकारि तत् नापि तत्त्वोपकारि तत् ॥
 प्रतिबन्धकाभावसम्पादकत्वं नापि चेष्ट्यते ॥७७॥
 पाषण्डकल्पिताचारसंगराहित्यनाटने ॥
 “लौकिकत्वं वैदिकत्वं कापट्यात् तेषु नान्यथा ॥७८॥
 वैष्णवत्वं हि सहजं ततोऽन्यत्र विपर्ययः” ॥
 (पु.प्र.म. २० - २१)
 इत्याचार्यचरणोक्तिरनुसन्धानमर्हति ॥७९॥

श्रौतं स्मार्तं सदाचारम् अनिरास्य स्वनिर्भरम् ॥
 स्वपरं चेतुरापेक्षारहितो भगवान् हरिः ॥८०॥
 पार्थयोद्धवायापि यथात्मानं समादिशत् ॥
 साधनानां हि तन्मूलं साधनाभासतान्यथे ॥८१॥
 १४५ त्त्यतो भावप्रकाशोक्तिः नाचारे भारदर्शिनी ॥
 निजाचार्यविरुद्धा चेद् न सा प्रामाण्यमश्नुते ॥८२॥
 अन्यथा तु निजाचार्यदीक्षितस्यात्मजस्य हि ॥
 मर्यादामार्गिताङ्गीकारोऽपि निपतेद् गले ॥८३॥
 इष्टापत्तिर्नैव शक्या अन्येष्वपि तथा तदा ॥
 पुष्टिमार्गस्य सन्देहाद् मार्गोच्छिस्तदा ध्रुवा ॥८४॥
 भावप्रकाशकर्तुश्च मर्यादामार्गिताऽपतेद् ॥
 अतः कापट्यनिर्वाहे भरस्तत्रापि कल्प्यते ॥८५॥
 १४६ निजात्मजौ वल्लभस्य गोवर्धनधरस्य यद् ॥
 कराङ्घ्रिकमले पुष्टिमर्यादाभक्तिवन्मतौ ॥८६॥
 अधिकं यथानुप्रविष्टं न हानाय तदिष्यते ॥
 १४७ श्रुतिरूपप्रमाणस्य मर्यादात्वं प्रमेयता ॥८७॥
 'ब्रह्मै'कपदबोद्ध्याहि तथा भागवतेऽपि हि ॥
 शब्दार्थावैकरूपौ हि नामरूपविभेदतः ॥८८॥
 श्रुतिरूपव्रजस्त्रीणां मर्यादात्वेपि पुष्टिता ॥
 प्रमेये पुष्टिरूपे स्यात् पुष्टेरेव प्रमाणता ? ॥८९॥
 मानमेयौ हि मार्गेऽस्मिन् साधनञ्च फलं तथा ॥
 चतुर्णाम् भगवद्रूपतया वै नान्यथा गतिः ॥९०॥
 रहस्यं ब्रह्मवादस्य श्रीमदाचार्यस्वीकृतम् ॥
 भगवच्छक्तिरूपायाः पुष्टेरज्ञानतः परम् ॥९१॥
 प्रवृत्ताः निर्णयं कर्तुं स्वात्मनो दर्शयन्ति हि ॥
 अविद्याशक्तिक्रीडायाः विषयत्वं न संशयः ॥९२॥
 यथाकथञ्चिद् मार्गेऽस्मिन् भक्तिनैराश्यभावुकाः ॥

अनाचारात् भजनस्यापीह हीनत्वद्योतकाः ॥९३॥
 अर्धश्रद्धार्धबोधाभ्यां गुरुगर्वैकद्योतकाः ॥
 माऽभूवन् मार्गनाशाय श्रोतव्यं यन्मयोदितम् ॥९४॥
 स्वमार्गाचार्यवाक्यैकवाक्यता यां मतिं कुरु ॥
 नो चेद् अधीतं यत्किञ्चित् यच्चानुष्ठितं तथा ॥९५॥
 अपगच्छेद् स्वमार्गेऽस्मिन् श्रद्धानिष्ठे च सर्वतः ॥
 न शोभते तथाचार्याश्रितानां तु कदाचन ॥९६॥

(समासेन प्रतिपदितार्थोक्तिः)

भगवत्तयोपदेष्टा फलसाधनयोर्मतः ॥
 तदाज्ञोल्लंघने तु स्याद् अपराधोऽपि चात्मनः ॥९७॥
 स एव भगवान् साक्षात् परमात्मतयात्मनि ॥
 संतिष्ठते प्रेरकत्वेन नोपदेशात् प्रवर्तकः ॥९८॥
 ब्रह्मैव स्वेच्छया जीवपरमात्मतया द्विधा ॥
 निजात्मानं संविभाज्य जातत्वाद् उभयं मतम् ॥९९॥
 प्रेरकं प्रेरितं चापि प्रमेयस्य त्रिधा स्थितिः ॥
 भगवान् भजनं भक्तः साधनञ्च फलं तथा ॥१००॥
 फलोपायोपदेशश्च देशकालाद्यपेक्षी हि ॥
 तत्र देशादिषु यस्य यच्छक्यं धर्मं सो भवेत् ॥१०१॥
 अशक्यस्योपदिष्टत्वे न धर्मत्वविभावना ॥
 धर्माधिकारिता चातो देशकालावलम्बिनी ॥१०२॥
 प्रमेयोद्धारकारिता कालादेरतिगामिनी ॥
 प्रमेयबलमालम्ब्य भक्तिश्च शरणागतिः ॥१०३॥
 साधनत्वेनोपदिष्टे पुष्टेः स्वारस्यमत्र हि ॥
 देहाभिमानमालम्ब्य शौचाचारादिधर्मता ॥१०४॥
 तत्तद्देशादिसम्बद्धा नहि सा शाश्वती क्वचित् ॥
 प्रवेष्टुदर्शनाद् द्वारोद्घाटनं यत् स्वतो भवेत् ॥१०५॥
 अधुनाचापणादिषु प्रवेष्टुकर्तृकं तथा ॥

प्रमेयसाधने चेमे तथैवाभिमते भृशम् ॥१०६॥
 विरहानुभवैकार्थसर्वत्यागोपदेशकः ॥
 भक्त्याचारोपदेष्टा च कर्ममार्गप्रवर्तकः ॥१०७॥
 यागादौ भक्तिमार्गेकसाधनत्वोपदेशकः ॥
 नाम्नां चतुर्णां व्याख्याने त्वप्रसक्ततया मया ॥१०८॥
 नोपपादितमेतत्तु समासेनोपपादितः ॥
 विस्तारो विषयस्यास्य चेद् जिज्ञासितो यदि ॥१०९॥
 श्रोतव्यो वर्णितः श्रीमदाचार्यकृपया मया ॥
 इति भक्तेः स्वरूपस्यानवबोधस्य वारिकाः ॥११०॥

(उपसंहारः)

शताधिकानां श्लोकानाम् आचार्यकृपया भृशम् ॥
 निर्मितिमार्गसिद्धान्तबोधाय मतिशुद्धये ॥१११॥
 चिरमध्यापितस्यापि प्रतिभारहितस्य च ॥
 आचारजडताकाण्डताण्डवोक्तिनिराकृतिः ॥११२॥
 अशेषदोषशामकं स्वभक्तभावपालकं
 कृपाकटाक्षवृष्टिना स्वपुष्टिसृष्टितारकम् ॥
 वदान्यवृन्दवन्दितं सदैव कृष्णभावकं
 वदामि नाम वल्लभस्य वेदवेद्यवेदकम् ॥११३॥

इति गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मजेन श्याममनोहरेण विरचिता

भक्तिस्वरूपानवबोधनिरासिका

सम्पूर्णा

सकलान्तरात्मा श्रीहरिः प्रसन्नो भवतु !



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
 ॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

॥ ८. पुरुषसूक्ततात्पर्यसूचनिका ॥

क. (तादात्म्येनोपक्रमः)

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ॥
 स भूमिं विश्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम् ॥१॥
 पुरुषएवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम् ॥
 उतामृतत्वस्येशान यदन्नेनातिरोहति ॥२॥
 एतावानस्य महिमा अतो ज्यायाश्च पुरुष ॥
 पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥३॥
 त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवात् पुनः ॥
 ततो विश्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि ॥४॥

ख. (समष्ट्या यज्ञरूपता)

तस्माद् विराडजायत विराजो अधि पूरुषः ॥
 स जातो अत्यतिरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः ॥५॥
 यत् पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत ॥
 वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मश्शरद्धविः ॥६॥
 सप्तास्यासन् परिधयः त्रिः सप्त समिधः कृताः ॥
 देवाः यद्यज्ञं तन्वानाः अबध्नन् पुरुषं पशुम् ॥७॥
 तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः ॥
 तेन देवाः अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥८॥

ग. (व्यष्ट्या तत्त्वरूपता)

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम् ॥
 पशुस्ताश्चक्रे वायव्यान् आरण्यान् ग्राम्यांश्च ये ॥९॥

याज्यद्रव्यता

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे ॥^{यागमन्त्रः}
 छन्दासि जज्ञिरे तस्मात् यजुस्तास्मादजायत ॥१०॥
 तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः ॥^{तदुपलब्धिर्नैरन्तर्यं}
 गावो ह जज्ञिरे तस्मात् तस्माज्जाता अजावयः ॥११॥
 यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् ॥
 मुखं किमस्य कौ बाहू कावूरू पादावुच्येते ॥१२॥

घ. (विविधनामरूपलीलात्मकता)
 ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः ॥
 ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥१३॥
 चन्द्रमा मनसो जातः चक्षोः सूर्यो अजायत ॥
 मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ॥१४॥
 नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत ॥
 पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात् तथा लोका अकल्पयन् ॥१५॥
 वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्
 आदित्यवर्णस्तमसस्तु पारे^{लीलानिरूपणोपसंहारः}
 सर्वाणि रूपाणि विचत्य धीरः
 नामानि कृत्वाऽभिवदन् यदास्ते ॥१६॥

ङ. (प्रमाणादिचतुष्टयी)
 धाता^{प्रमाण} पुरस्ताद् यमुदाजहार
 शक्रः प्रविद्वान् प्रदिशश्चतस्रः ॥
 तमेवं^{प्रमेय} विद्वान्^{साधन} अमृतं इह^{फल} भवति
 नान्यः पन्था अयनाय विद्यते ॥१७॥

च. (विराट्पुरुषवर्णनोपसंहार)
 यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ॥
 ते ह नाकं महिमानः सचन्ते

यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥१८॥
 अद्भ्यः सम्भूतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणः समवर्तताधि ॥
 तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तत्पुरुषस्य विश्वमाजानमग्रे ॥१९॥

छ. (स्तुति)
 वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम् आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥
 तमेवं विद्वानमृतं इह भवति नान्य पन्था विद्यतेऽयनाय ॥२०॥
 प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तः अजायमानो बहुधा विजायते ॥
 तस्य धीराः परिजानन्ति योनिं
 मरीचीनां पदमिच्छन्ति वेधसः ॥२१॥
 यो देवेभ्य आतपति यो देवानां पुरोहितः ॥
 पूर्वो यो देवेभ्यो जातः नमो रुचाय ब्राह्मणे ॥२२॥
 रुचं ब्राह्मं जनयन्तः देवा अग्रे तदब्रुवन् ॥
 यस्त्वेवं ब्रह्मणो विद्यात् तस्य देवा असन् वशे ॥२३॥
 ह्रीश्च^{स्वरूपेणतिरोभावशक्तिः} ते लक्ष्मीश्च^{सामर्थ्येनाविभावशक्तिः}
 पत्न्यौ अहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपम् ॥
 अश्विनौ व्यात्तम् इष्टं मनिषाण
 अमुं मनिषाण सर्वं मनिषाण ॥२४॥

इति गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मजेन श्याममनोहरेण विरचिता
 पुरुषसूक्ततात्पर्यसूचनिका
 सम्पूर्णा



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

॥ ९. भक्तिवरीयस्त्वनिरूपणम् ॥

(मंगलाचरणेनोपक्रमः)

सच्चिदानन्दएवेदं भूतं भव्यं भवच्च यत् ॥
चतुष्पदश्चतुर्थांशे विश्वं सच्चांशभावतः ॥१॥
ज्ञानानि चेतनेष्वेवं तच्चिदंशात्मकानि हि ॥
रतिस्त्वात्मरतिस्तस्यानन्दांशाः जीवगोचराः ॥२॥
अतो भक्तेर्वरीयस्त्वं रसेषु निखिलेष्विह ॥
श्रीमदाचार्यकृपया तदेवात्र निरूप्यते ॥३॥

(रसानां भेदोपभेदाः)

शान्ताशान्तविभेदतो हि मनुजे भावौ तु यौ स्थायिनौ ॥
हृद्यास्वाद्यतया रसत्वमुभयोर् अंगीकृतं तद्विदैः ॥४॥
शान्तो निर्वेदरूपः प्रथम इह पराश्चाष्टधा वर्णिता हि ॥
शोकक्रोधौ जुगुप्सा भयमिति च भिदा दुःखदानां चतुर्णाम् ॥५॥
उत्साहो विस्मयश्च रतिरपि च तथा साहसः स्यात्तुरीयः ॥
भक्तेर्नैवं रसत्वं बहुभिरपि यदस्वीकृतं भक्तिमान्द्यात् ॥६॥

(भक्तिरसवरीयस्त्वोपपत्तयः)

देवादीनवलम्ब्य या रतिरिहास्वाद्या विभावादिभिः ॥
तन्मुक्त्युत्तरस्थाधिभक्त्यरसता चेत्लक्षणस्य क्षतिः ॥७॥
भक्तेश्चापि रसत्वमेवमुरीकार्यं रसज्ञैः यदि ॥
सर्वेष्वेव रसेषु श्रैष्ठ्यमपि तद्भक्तेस्तु सिद्ध्येद् ध्रुवम् ॥८॥
तस्याः माहात्म्यज्ञानांशे द्वैतबुद्धिप्रयोजिताः ॥
दुःखात्मकास्त्वमे भावास्त्वन्तर्भूताः भवन्ति हि ॥९॥
सुखात्मका रतौ तावत्तादात्म्यानुभवेन वै ॥

अन्तर्भवन्ति यस्मात्तु वरीयस्त्वं सुनिश्चितम् ॥१०॥
भूतले देवमाहात्म्यज्ञापिका यास्तु वर्णिताः ॥
लीलास्तास्वेव तादात्म्योद्बोधनं चेशभक्तयोः ॥११॥
तदुक्तं निखिलं नामरूपकर्मात्मकं जगत् ॥
उत्पद्यते स्थितं तस्मिन् लीयते चेति तन्मयम् ॥१२॥
माहात्म्यं तस्य भासेन सर्वमेवात्र भाति हि ॥
“रसो वै सो रसं लब्ध्वायमानन्दी” नचान्यथा ॥१३॥
श्रुत्युक्ता रसताजन्यानन्दानुभवहेतुका ॥
तत्र भेदमतेर्जन्या भीतिर्भेदेऽप्यभिन्नता- ॥१४॥
तादात्म्यस्यानुभूत्यैव दृश्यद्रष्टोर्मिथोऽपि तत् ॥
विभावस्थायिभावाश्रयभेदबुद्धेर्निवारणात् ॥१५॥
लौकिकेऽपि रसेष्वेवं मूलतादात्म्यहेतुकम् ॥
मूलाज्ञानेऽपि कुत्रापि रसानन्दानुभूतिगम् ॥१६॥
स्थायिभावारोपितधियानन्दोऽन्यत्रानुभूयते ॥
तादात्म्यं सर्वरतिषु सैका ह्यात्मरती रता ॥१७॥
अतो रसानां सर्वेषां रसता भक्तिहेतुका ॥
हेतुभिः साधिता नूनं संशयो नहि कश्चन ॥१८॥

(उपसंहारः)

भगवद्-भक्तयोः भूमौ मिथो वश्यत्वसाधिकाम् ॥
भगवद्-रूपान्तरां भक्तिं वन्दे भक्तहृद्गताम् ॥१५॥
भक्तेर्वरीयस्त्वमिहास्ति पुष्ट्या पुष्टेर्वरीयस्त्वमपि स्वतो न ॥
भक्त्यैवमाचार्यवचांसि चिन्तयन् नमामि तं वाक्पतिमत्र भूयः ॥१९॥

इति गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मजेन श्याममनोहरेण विरचितं

भक्तिवरीयस्त्वनिरूपणं

समाप्तम्



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
 ॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥
 ॥ १०.तादात्म्यस्वरूपविवेचनम् ॥

(मंगलाचरणम्)

यश्चैको निरुपाधिको बहुविधैर् नामादिभेदैः स्वयं
 चाविर्भूय हि भासतेऽत्र बहुधा स्वीये चिदंशे पृथक् ॥
 पार्थक्यं नच तत् कदाचिदपि स्यात् चात्यन्तिकी भिन्नता
 नाप्यैक्यं तदनेकताविरहितं तादात्म्यमित्थं परम् ॥१॥
 “ऐतदात्म्यमिदं सर्वं” प्रोक्तं यद् ब्रह्मणः श्रुतौ ॥
 श्रुत्येकगम्यं तच्चैक्यं सर्वथा शरणं मम ॥२॥

(विषयोपक्रमः)

यथा पञ्चविधो भेदो द्वैतवादे निरूपितः ॥
 तादात्म्यं ब्रह्मवादेऽत्र न कुतः सम्भवेत् तथा ॥३॥
 एकं तादात्म्यमादाय नान्यं गणयतः क्वचित् ॥
 श्रुत्यर्थानां चोपपत्तौ स्खलनं नैव कुत्रचित् ॥४॥
 अतस्तादात्म्यमाश्रित्य प्रक्रिया ज्ञानज्ञेययोः ॥
 तत्त्वयोः वर्ण्यते सम्यक् रहस्यं सर्वशास्त्रगम् ॥५॥

(तद् यथा)

याथात्म्यं वस्तुनो ज्ञानयाथार्थ्येन न भिद्यते ॥
 स्वपरवृत्तिभेदान्नाप्यभेदोऽप्युपपद्यते ॥६॥
 घटत्ववति यज्ज्ञानं घटत्वाकारकं हि यत् ॥
 प्रमारूपं चाभ्युपेतं तद्घटैकप्रमाणकम् ॥७॥
 कुलालकर्तृकत्वादि ह्यनुमित्यादिगोचरम् ॥
 परोक्षरूपं तज्ज्ञानं प्रमाणं तदपि स्मृतम् ॥८॥
 न भेदः सम्भवत्यत्र ज्ञानयोरेतयोर् द्वयोः ॥
 विषयैक्यात् प्रत्यभिज्ञायारन्यथानुपपत्तिः ॥९॥

नाभेदोऽपि परोक्षत्वापरोक्षत्वविभेदतः ॥
 अतोहि ज्ञानयोरत्र तादात्म्यं वै गतिर्मता ॥१०॥
 आत्मैषैव यश्चैषो मच्चक्षुषि दृश्यते^(छान्दो. ४।१५।१) ॥
 ब्रह्मतादात्म्योपदेशः ‘तत्त्वमस्या’दिवाक्यगः ॥११॥
 शिष्यस्य ब्रह्मजिज्ञासा ब्रह्मणोऽज्ञानहेतुका ॥
 ब्रह्मत्वं प्रश्नकर्तुर्हि ब्रह्मजदृष्टिगोचरम् ॥१२॥
 तस्माद् गुरोश्चक्षुषि स्वप्रतिबिम्बनिभालनम् ॥
 ‘अहं ब्रह्मो’पदेशोऽयं गुरोर्दृष्ट्या प्रबोधितम् ॥१३॥
 नश्वरस्य तु बिम्बस्य नाविनाशी भवेत् क्वचित् ॥
 चक्षुषि भासितो यो वै प्रतिबिम्बस्तदन्यथा ॥१४॥
 न वै मृषोपदेशेन तत्त्वज्ञानस्य शक्यता ॥
 अतस्तादात्म्यसिद्धान्तो गतिरेकावशिष्यते ॥१५॥
 सर्वस्यापि पृथग्बोधात् तत्त्वैक्यं नहि ज्ञायते^(छान्दो. ६।१।३-४) ॥
 तत्त्वैक्यस्य हि विज्ञाने सर्वं तत्त्वेन भासते ॥१६॥
 श्रुत्युक्तनियमस्यास्य न भेदाभेदयोः लभेद्^(छान्दो. ६।१।३-४) ॥
 उपपत्तिस्तु तादात्म्ये सुलभैव तु सर्वथा ॥१७॥

(एतादृशः तादात्म्यस्य प्रभेदाः)

द्विविधं तत्तु तादात्म्यं मन्तव्यं हि मनीषिभिः ॥
 सचाभेदो हि भिन्नानामभिन्नस्य च भिन्नता ॥१८॥
 आद्यः स्वाभाविको बोध्यो द्वितीयः कृत्रिमो मतः ॥
 ज्ञानेच्छायत्नजन्यं वा तदन्यतमहेतुकम् ॥१९॥
 तादात्म्यं कृत्रिमं ज्ञेयं स्वाभाविकमितोऽन्यथा ॥
 नन्वभिन्नस्य भेदो यः सतु नामैव केवलम् ॥२०॥
 सत्यं तत्त्वं मृदेवोक्तं विकारो नाम सो मृषा ॥
 इति चेद् तन्नवै युक्तम् अन्यश्रुतिविचारणात् ॥२१॥
 “यद्वै वाङ् नाभविष्यत्किं सत्यं वाप्यनृतं तथा ॥
 विज्ञापितं भवेद् नैव”^(छान्दो. ७।२।१) ततो नो सर्वथा मृषा ॥२२॥

“अनृतं हि वाग् वदती”ति वाक्यं नो सावधारणम् ॥
 नामभेदात् तत्त्वभेदप्रतीतिस्तु मृषैव हि ॥२३॥
 वस्तुस्वभावसिद्धं हि सामान्यगुणधर्मिणोः ॥
 स्वाभाविकं स्यात् तादात्म्यं न कार्यात्र विचारणा ॥२४॥
 वस्तुन्युत्पादितं यत्तु तदस्वाभाविकं मतम् ॥
 तस्य प्रभेदाः चत्वारस् ते तु बोध्याः विशेषतः ॥
 कृत्रिमौपाधिके त्वाद्ये सापेक्षारोपितेऽपरे ॥२५॥
 पाञ्चभौतिकदेहेऽस्मिन् भूतानां पञ्चकन्तु यत् ॥
 इतरेतरसंघातस्योपादानात्मकता तु यत् ॥२६॥
 तादात्म्यन्तु तयोरेवं संघातेन कृतं ततः ॥
 तादात्म्यस्य कृत्रिमस्य दृष्टान्तत्वेन बुध्यते ॥२६॥
 क्वचिदंगैः समारब्धो ह्यंगित्वं भजते तु यत् ॥
 स्यादुदाहरणं तच्च कृत्रिमस्यापरं तथा ॥२७॥
 औपाधिकं घटघटाकाशयोस्तु भवेत् पुनः ॥
 तादात्म्यस्य द्वितीयस्तु प्रकारोऽत्र विवेचने ॥२८॥
 द्व्यणुकघटकौ द्वौ यावणू स्यातां मिथो यथा ॥
 तयोर्द्व्यणुकतादात्म्यं सापेक्षमतिगोचरम् ॥२९॥
 आरोपितन्तु तादात्म्यमितोन्यत् सम्प्रकीर्तितम् ॥
 मिथोऽपेक्षारहितयोः चित्रत्रोः हि यथा भवेत् ॥३०॥
 समारोपिततादात्म्यं दर्पणे बिम्बबिम्बिनोः ॥
 हेतुहेतुमतोश्चापि ध्वनिप्रत्यययोर्यथा ॥३१॥
 प्रत्ययस्त्वान्तरो ज्ञेयो ध्वनिर्बाह्यो हि मौखिकः ॥
 ध्वनिप्रत्यययोर्यद्वत् तादात्म्यं लिंगलिङ्गिता ॥३२॥
 अध्वन्यात्मकवाणीनां तादात्म्यं भावप्रत्ययैः ॥
 अंशाशिनोर्हि तादात्म्यं द्वेधा चाप्युपपद्यते ॥३३॥
 अंशिन्यंशस्य प्राकट्याद् अंशिनोऽंशेष्वपि क्वचित् ॥
 आद्ये स्वाभाविकं तत्तु द्वितीये कृत्रिमं मतम् ॥३४॥
 आरम्भवाददृष्ट्यांशी स्वांशेषूत्पद्यते यतः ॥

समवेततया तस्मात् तादात्म्यं जन्यमेव तत् ॥३५॥
 अंशिन्यंशोद्भवो यः सः तादात्म्यादेव सम्भवः ॥
 अतः सोऽकृत्रिमो ज्ञेयोऽतः स्वाभाविकता मता ॥३६॥
 समवायतयाख्याते सम्बन्धेऽप्येवमेव हि ॥
 केन्द्रीकृत्य स्वमात्मानं क्रिया याऽऽकुञ्चनं मतम् ॥३७॥
 उल्लंघ्यैवात्मपरिधिं जायमाने क्रिये द्विधा ॥
 गमनप्रसारणे, तिस्रो दैशिक्यो हि क्रियाः मताः ॥३८॥
 कालिक्यश्चापराः ‘भावविकारा’ख्याः हि षड्विधाः ॥
 स्यात् क्रियाहेतुकं द्रव्यं क्रियापि द्रव्यहेतुका ॥३९॥
 क्रिया द्रव्यमनाश्रित्य यद्वन् नैवोपलभ्यते ॥
 द्रव्यञ्चापि क्रियाहीनं तद्वन् मन्तुं न शक्यते ॥४०॥
 सातत्येन जायमाने त्वाकुञ्चनप्रसारणे ॥
 ‘स्पन्दना’ख्यां लभेते वै स्वल्पानल्पप्रभेदतः ॥४१॥
 घनीभूता क्रिया क्वापि भजते द्रव्यतां यथा ॥
 तरलीभातो द्रव्यं क्रियात्मत्वं प्रदर्शयेत् ॥४२॥
 तादात्म्यं द्रव्यक्रिययोः विज्ञेयं सर्वदा बुधैः ॥
 भावानुभायोश्चापि तादात्म्यं न न सम्भवि ॥४३॥
 तार्किकाणां मते यत्र समवायो हि स्वीकृतः ॥
 तथैवासमवायिहेतुतापीतरत्र च ॥४४॥
 तत्र सर्वत्र तादात्म्यमस्माभिः स्वीकृतं मतम् ॥
 ब्रह्मणश्चाद्वितीयस्यात्यन्तभेदानपेक्षतात् ॥४५॥

(उपसंहारः)

एवं तादात्म्यस्वरूपं यथामतिनिरूपितम् ॥
 श्रीमदाचार्यकृपया दुष्टं चेत् तद् उपेक्ष्यताम् ॥४६॥
 इति गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मजेन श्याममनोहरेण विरचितं
 तादात्म्यस्वरूपविवेचनं
 सम्पूर्णम्



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

॥ ११. साकारब्रह्मवादानुरोधेण अभावस्वरूपनिरूपणम् ॥

(मंगलाचरणम्)

द्वितीयवर्जितस्य तस्य स्वस्य चैकभावतो
निराकृतं ह्यभावतात्त्विकत्वमत्र सर्वथा॥
तथापि नामरूपकर्मरागभाववर्जित -
स्वभक्तिभावसिद्धये ह्यभावरूपधारणम् ॥१॥
निरोधसाधनाय स्वेतरत्र रागवर्जनात्
तदैकभास्यता रतौ स्वभक्तिशोधनाय वै॥
निरुद्धभक्तवश्यताप्रकाशनं करोति यः
तमेकलीलानन्दकन्दनन्दनन्दनं भजे॥२॥

(विषयोपक्रमः)

ब्रह्मवादे ब्रह्मणोऽन्यद् न वै किञ्चिन्मतं त्विह॥
संसर्गतादात्म्याभावौ तिरोभावतया मतौ ॥३॥^१
आविर्भावतिरोभावशक्ती भगवतो मते ॥^२
सृष्टौ तद्ब्रह्मबुद्धिस्तु साक्षाच्छास्त्रीयशब्दजा ॥४॥
द्विविधा जायते यस्मात् तिरोभावो द्विधा भवेत् ॥
साक्षात्परोक्षभेदेन तृतीयो लोकबुद्धितः ॥५॥
अभावगोचरा बुद्धिः लोकसिद्धापि सर्वथा ॥
तिरोधानस्य चाभावाद् नहि भेदो निराकृतः ॥६॥
आविर्भावतिरोभाववादे श्रीपुरुषोत्तमे ॥
प्रतीतेर्व्यवहारे तु बाधाभावोपलम्भनात् ॥७॥

अभ्युपेयो ह्यभावो वाग्व्यवहारोपपत्तये ॥
आतश्चोपेक्षितानां ह्यभावानां हि विवेचनम् ॥८॥
कर्तुमेतत् प्रयत्नं मे विदांकुर्वन्तु कोविदाः ॥
तार्किकाणां मते भावाभावभेदपदार्थगः ॥९॥

(लोकसिद्धाः अभावप्रकाराः)

वस्तुतादात्म्यसंसर्गप्रतियोगित्वहेतुकः ॥
तादात्म्यमत्र द्विविधं धर्मधर्मिप्रभेदतः ॥१०॥
संसर्गोऽपि द्विधा ज्ञेयो देशिकः कालिकोऽथवा ॥

(तादात्म्याभावत्रैविध्यम्)

वस्तुनामत्र त्रैविध्यं द्रव्यकर्मगुणैः कृतम् ॥११॥
तादात्म्याभावत्रैविध्यमतो धर्मिनिरूपितम् ॥
तन्मात्राभ्यस्तु भूतानामुत्पत्तिः स्थूलभावता ॥१२॥
न चाणु परिमाणानामारम्भो मध्यमस्य तत् ॥
शास्त्रात् तदनुकूलाच्च तर्कादपि मतं त्विदम् ॥१३॥
क्रियारूपा हि प्रकृतिः ज्ञानरूपः पुमान् मतः ॥^३
प्रकृतिः कर्मकालश्च स्वभावश्चेतना तथा ॥१४॥
अक्षरब्रह्मणश्चैव या पञ्चात्मकतोदिता ॥
तदपेक्षया कस्यचित्तु यथा स्यात् धर्मरूपता ॥१५॥
अपरापेक्षया सोऽपि धर्मिरूपो भवेत् तथा ॥
द्वित्वैकत्वान्यतरयोः विवक्षातो यथा भवेत् ॥१६॥
नाम्नोहि ह्येकवचने प्रयोगो युज्यते यथा ॥
अतो विवक्षाभेदेन धर्मधर्मित्वमुच्यते ॥१७॥
विवादो नैव कर्तव्यो वाग्व्यवहारविलोपकः ॥
अथ सम्बन्धत्रैविध्यात् तदभावस्त्रिधा मतः ॥१८॥
घटत्वरूपं सामान्यं घटव्यक्तेः विशेषता ॥
अनेकविधसम्बन्धो वस्तूनां बुद्धिगोचरः ॥१९॥

त्रयप्रतियोगिताकस्याभावस्यापि त्रिधा प्रथा ॥
वस्तूनां प्रतियोगित्वं तादात्म्याभावबुद्धिगम् ॥२०॥
संसर्गप्रतियोगित्वं संसर्गाभावबुद्धिगम् ॥

(संसर्गाभावद्वैविध्यम्)

अथेदानीं हि संसर्गाभावोऽपि विनिरूप्यते ॥२१॥
द्विधा स हि भवेद् आद्यो यो दैशिक इतीर्यते ॥
अपरः कालिकः प्रोक्तः द्वयोर्भेदत्रयं मतम् ॥२२॥
इहान्यत्र च सर्वत्र देशासंसर्गहेतुकः ॥
अभावस्त्रिविधो ह्येषः तथा स्यात् कालिकोऽपरः ॥२३॥
पूर्वं पश्चादिदानीं च सर्वदेति चतुर्विधः ॥
अभावः कालसंसर्गसापेक्षमतिगोचरः ॥२४॥

(विषयोपसंहारः)

तार्किकैरितरैश्चाप्यभ्युपेतं न मन्यते ॥
एकस्यान्यस्य वा यत्तु मतमन्यैरपि सदा ॥२५॥
मन्तव्यमीदृशी काचिद् नाज्ञेयमीश्वरस्य हि ॥
अतोहि यावता दोषो मतेऽस्मिन् न प्रदर्श्यते ॥२६॥
अप्रमाणिकतासिद्धिः न वक्तुं शक्यतेऽत्र हि ॥
व्यवहारेऽह्यभावानां ब्रह्मवादाविरोधिनाम् ॥२७॥
स्वरूपं यत्तु स्वीकारयोग्यं तस्य निरूपणम् ॥
कृतं मया यथामत्या स्वाचार्यचरणाश्रयात् ॥२८॥
अथापि विपरीतं चेत् किञ्चिदाचार्यग्रन्थतः ॥
क्षमन्तु बुद्धिचापल्यं ते मयि दीनवत्सलाः ॥२९॥
अथैतस्यावैपरीत्ये मननीयं प्रयत्नतः ॥
विदुषां तोषहेतुश्चेत् सफलैषा कृतिर्मम ॥३०॥

इति गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मजेन श्याममनोहरेण विरचितम्

अभावस्वरूपनिरूपणं

सम्पूर्णम्

^१(सुबो. २।९ ३२), ^२(त.दी.नि. २।१४०), ^३(भाग.पुरा. २।५।१४, ३-
।२६।३-२५)



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

॥ १२.शब्दार्थवैविध्यनिरूपणम् ॥

(मंगलाचरणेनविषयोपक्रमः)
निःशेषनाम्नां परमो हि योऽर्थः
रूपेष्वशेषु सदेकरूपः ॥
अशेषजीवात्मसु योऽन्तरात्मा
सर्वाश्रयं श्यामविभुं तमाश्रये ॥१॥

(तथाहि)
साकारव्यापकः कृष्णो जड़-जीवौ तदंशकौ ॥
लीलापुष्ट्योर्हि व्यापारैः नैकैरेकं हि गम्यते ॥२॥
सदंशो रूपवान् यद्वत् चिदंशो नामवान् मतः ॥^१
नामार्थो ह्यत्र ज्ञानस्यार्थागत्वेन सदा मतः ॥३॥^२
रूपार्थागतया ह्यर्थो ह्यनित्योऽपि तथा भवेत् ॥^३
न विरोधः समुद्भाव्यो ह्येकस्यैवास्त्यनेकता ॥४॥^४

(अर्थद्वैविध्यादिभेदोपभेदाः)
अर्थोऽतो द्विविधः प्रोक्तो रूपनामविभेदतः ॥
जड़द्रव्यं रूपवद्धि नाम तद् जीवगं पुनः ॥५॥

(अर्थस्वरूपचतुष्टयेसिद्धार्थस्वरूपम्)
सिद्धासिद्धप्रभेदान्तूभयोः रूपचतुष्टयम् ॥
सिद्धं यद् तद् वर्तमानं ह्यसिद्धा भूतभव्यता ॥६॥^५
वर्तमानञ्च प्रत्यक्षपरोक्षप्रथया द्विधा ॥
परिमाणाकृतिर्गन्धः स्पर्शवर्णौ ध्वनिस्तथा ॥७॥

संख्यादयो वर्तमानाः बहिः सिद्धाः प्रकीर्तिताः ॥

(असिद्धार्थरूपचतुष्टयम्)
असिद्धाः भूतभव्याः ये ते चत्वारोऽर्थसंख्यया ॥८॥
भूतभव्यतया यस्मात् स्मृताः सम्भावितास्तथा ॥
नामप्रत्याय्यभूताः वै सर्वानुभवगोचराः ॥९॥^६
भावानुभावाः जीवेषु ज्ञानरागादयस्तथा ॥
चेष्टाकृतिस्तथा शब्दाकारभेदाः ह्यनेकधा ॥१०॥

(शाब्दबोधजननोपयिकचातुर्विध्यम्)
अधुना तु त्रिधा शब्दाः लिखितोच्चारितास्तथा ॥
टंकिताः नेत्रहीनार्थे दृश्याः श्राव्यास्तथापरे ॥११॥
स्पृष्टव्याश्च यतएतेषामभेदारोपहेतुका ॥
शब्दता ह्यन्यथा बोध्या ध्वन्यादिष्वप्यशब्दता ॥१२॥
नाम्नामभिव्यक्तिकरी ध्वनिष्वेषैव शब्दता ॥^७
नातोऽपलापो वै शक्योऽतः शब्दत्वे कथञ्चन ॥१३॥
वृक्षकीटपशुपक्ष्यादिभिर्नो भाष्यते क्वचिद् ॥
वर्णात्मकैस्तु शब्दैर्हि भाषा नादात्मिका परम् ॥१४॥
वर्णात्मकस्तुशब्दो वै वाचैव व्यवहियते ॥
मनुष्येषु तथा वाणी सर्वप्राणवतां नहि ॥१५॥^८
गन्धादिमात्राः याः सर्वाः ता जीवेष्वपि सन्मताः ॥
रूपानुकारिता नाम्नि रूपे नामानुकारिता ॥१६॥
सेतरेतरयोर्ज्ञेया चेतरेतरहेतुका ॥
अतएव हि ऋग्वेदे वाक्पुष्पादचतुष्टयम् ॥१७॥
तदेकैकपादसृष्टिः षण्णान्तु तदतीतता ॥^९
एतदप्यनुकारित्वमितरेतरयोः पुनः ॥१८॥
रूपनाम्नोश्च बृहतो बृहत्याश्चैवमेव हि ॥
विचित्य सर्वरूपाणि कृत्वा नामान्यपि स्वयम् ॥१९॥

शब्दैरनेकैरभिवदन् अर्थभावंगतो हि सः ॥^{१०}
 नामरूपविभेदात्मद्वैधं शब्दार्थगं मतम् ॥१९॥^{११}
 रूपनाम्नोरभिमतता यैवमन्यानुकारिता ॥
 तथा ते सर्वबुद्धीनां पितराविव सम्मते ॥२०॥^{१२}
 मूलं तदत्र तादात्म्यम् एतयोर् ब्रह्ममूलकम् ॥
 स्वाभाविकं न चेद् मास्तु कृत्रिमे हानि का भवेत् ॥२१॥^{१३}

(तत्र आक्षेपसमाधानम्)

आवां न कृत्रिमौ किंवा वादो नौ कृत्रिमो न किम् ? ॥
 जयः पराजयो वात्र स्यातां तौ कृत्रिमौ न किम् ? ॥२२॥
 कृत्रिमस्यतु मिथ्यात्वे सिध्येद् मिथ्या विवादिता ॥
 वस्तुषु नामधेयत्वं वागारब्धं यदुच्यते ॥२३॥^{१४}
 न तात्पर्यं श्रुतेस्तत्र मिथ्यात्वे शक्यते यतः ॥
 प्रकृतिर्मृत्तिका या च तद्विकारो मृदात्मकः ॥२४॥
 उभयोरव्यवहारे हि समानैवास्त्यबाध्यता ॥
 कल्पते यदि मिथ्यात्वं विकारत्वाद् घटस्य वै ॥२५॥
 मृदोऽप्यस्ति विकारित्वं कस्यचित्तु न चान्यथा ॥
 मृद्याकृतिर्न वै कल्प्या कुलालकृतिमूलिका ॥२६॥
 पुरुषैकमतिनिष्ठायाः वागारम्भणताक्षतेः ॥^{१५}
 अतो वागारम्भणोक्तेर्भिन्नैव ह्यर्थता मता ॥२७॥
 वागारब्धा हि सा चैवं मृदारब्धा तु रूपता ॥
 'घट'शब्दाभिधेयत्वं धर्मो वाग्जनितो मतः ॥२८॥
 औपाधिको मृत्तिकायां भेदस्तेन प्रसिध्यति ॥
 नामात्मको हि स ज्ञेयो जडरूपो न सो मतः ॥२९॥
 अंशिप्रजापतेः पूर्वं संश्लिष्टांशसमुद्भवः ॥^{१६}
 बहुभिर्नामरूपैस्तु प्रवेशेन पृथक्पृथक् ॥३०॥
 विश्लेषोऽभवत् तेषु जडजीवात्मनैव हि ॥

रूपाणां नामभिर् नाम्नां रूपैर्हि जायते तु या ॥३१॥
 प्रत्यभिज्ञा यतः ताभ्याम् इतरेतरहेतुता ॥
 तादात्म्यं तेन चाप्येवं तयोः सिद्ध्यति नान्यथा ॥३२॥
 कार्यकारणयोर्यत्तादात्म्यं तत्कार्ययोर्मिथः ॥
 अनिराकरणीयं तत् सर्वथा तु मनीषिभिः ॥३३॥
 तदभिन्नस्य तदभिन्नाभिन्नत्वन्यायतः खलु ॥
 सत्यत्वं चेन्मृदो यद्वत् तन्नाम्नोऽपि तथैव ॥३४॥
 स्वीकर्तव्यं हि सत्यत्वं न्यायसाम्याद् न संशयः ॥
 नाम्नां प्रत्यायकत्वन्तु प्रत्याय्यत्वञ्च रूपगम् ॥
 रूपे कारकहेतुत्वं नाम्नि ज्ञापकहेतुता ॥३५॥
 नेहान्योन्याश्रयः शंक्यो ब्रह्मानन्याश्रयं मतम् ॥
 "सर्वं खल्विदं ब्रह्मो" कथैव सर्वस्य ब्रह्मता ॥३६॥^{१७}
 तस्य वाग् 'बृहती' नामा द्वेधा तत्त्वैक्यमिष्यते ॥
 ततश्च ब्रह्मणो ह्येषा वाग्वाच्योभयरूपता ॥३७॥
 स्वप्रकाशस्वरूपत्वं श्रौतमक्षुण्णमत्र वै ॥^{१८}
 ब्रह्म तद् बृहतीवाच्यं धर्मिधर्मप्रभेदतः ॥३८॥
 प्रत्यायकानां शब्दानामतः प्रत्याय्यवस्तुनः ॥
 ब्रह्मता शास्त्रतो यद्वद् भगवद्रूपता तथा ॥३९॥
 श्रीकृष्णस्य भगवतस्तथा भागवतस्य च ॥
 रूपनामविभेदेन द्वयोरन्योन्यरूपता ॥४०॥^{१९}

(उपसंहारः)

श्रीमदाचार्यकृपया मयैवं प्रतिपादिता ॥^{२०}
 नमस्कृत्य पितृपादं विट्ठलनाथदीक्षितम् ॥४०॥
 येनेह स्वमताभ्यासे दीक्षितोऽस्मि कृपालुना ॥
 श्यामोऽहं मत्प्रभुश्यामसुन्दरं हृदिकृत्य वै ॥४१॥^{२१}

इति गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मजेन श्याममनोहरेण विरचितम्

शब्दार्थवैविध्यनिरूपणं सम्पूर्णम्

^१रूपसृष्ट्यपेक्षया नामसृष्टिः विलक्षणा : अन्तवती रूपसृष्टिः अनन्ता नामसृष्टिः, स्थूला रूपसृष्टिः सूक्ष्मा नामसृष्टिः, विकृता रूपसृष्टिः कूटस्था अविकृता नामसृष्टिः, जडरूपा रूपसृष्टिः बोधरूपा नामसृष्टिः (सुबो.१०।१३।४३).

^२अर्थो हि ज्ञानस्य अर्धम् अंगम् (सुबो.३।२६।३०).

^३द्विविधा हि वेदान्ते सृष्टिः : भूतभौतिकं सर्वं ब्रह्मणएव विस्फुलिंगन्यायेन एका, अपरा वियदादिक्रमेण. साच अनामरूपात्मनां नामरूपवत्त्वेन अभिव्यक्तिः. सा जडस्यैव कार्यत्वात्. जीवस्यतु अंशत्वेनैव न नामरूपसम्बन्ध(=नामरूपवत्त्वेन): अनित्ये(जडे) जननं नित्ये परिच्छिन्ने (जीवे) समागमः नित्यापरिच्छिन्नतनौ (अन्तर्यामिलीलावतरादिषु) प्राकट्यं चेति सा द्विधा (अणुभा.२।३।१).

^४एकं रूपं/बीजं बहुधा यः करोति (कठोप.५।१२/श्वेता.उप.६।१२) एकएव अग्निः बहुधा समिद्धः, एकः सूर्यः विश्वमनु प्रभूतः, एकैव उषा सर्वम् इदं विभाति, एकं वा इदं विबभूव सर्वम् (ऋक्संहि.८।५।८।२).

^५पुरुषएव इदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम् उत अमृतस्य ईशानो यद् अन्नेन अतिरोहति (ऋक्संहि.१०।९०।२) असति सत् प्रतिष्ठितं सति भूतं प्रतिष्ठितं भूतं ह भव्य आहितं भव्यं भूते प्रतिष्ठितं तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि (अथर्वसं.१७।१।१९).

^६ननु एवं नामसृष्टौ जगद्विलयप्रसंगः, तत्र आह ‘नानावादानुरोधाय’ इति, सर्वैरेव यथा निरूप्यते तथा भगवान् भवति इति तत्र उपपत्तिम् आह ‘वाच्यवाचकशक्तये’ वाच्यो अर्थो वाचकः शब्दः. उभयत्रापि शक्तयो यस्य. यथैव अर्थं वक्तुम् इच्छति तथैव अर्थो भवति (भाग.सुबो.१०।४३।१३).

^७शप्यते आकृश्यते “ ‘शप्’आक्रोशे” भ्वादि. “शाशपिभ्यां ददनौ”

इति ‘दन्’ “शब्दो अक्षरे यशोगीत्योः वाक्ये खे श्रवणे ध्वनौ”(हैम.२।२३८)/ “ ‘शब्द’शब्दकरणे चुरादि. “एच्”(३।३।५६)...(अम.रामा.१।५।७ / ११।६।२२).

^८सा वै वाक् सृष्टा चतुर्धा व्यभवद् एष्वेव लोकेषु त्रीणि पशुषु तुरीयम्. या पृथिव्यां सा अग्नौ सा रथन्तरे. या अन्तरिक्षे सा वायौ सा वामदेव्ये. या दिवि सा आदित्ये सा बृहती सा स्तनयित्नौ. (निरु.१३।१।९).

^९१.चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुः ब्राह्मणाः ये मनीषिणः गुहा त्रीणि निहिता पदानि नेगयन्ति तुरीयं वाचं मनुष्याः वदन्ति. २.पुरुषएव इदं सर्वं... एतावान् अस्य महिमा अतो ज्यायांश्च पुरुषः पादो अस्य विश्वा भूतानि त्रिपाद अस्य अमृतं दिवि (ऋक्संहि.२।३।२२। ऋक्संहि.१०।९०।३).

^{१०}तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुः तस्माद् अजायत. तस्माद् अश्वा अजायन्त ये के चोभयदतः गावो ह जज्ञिरे तस्मात् तस्माद् अजावयः...सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वा अभिवद् यदास्ते (तैत्ति.आर.३।१२।१०-१६).

^{११}त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म... तद् एतत् त्रयं सद् एकम् अयम् आत्मा, आत्मा उ एकः सन् एतत् त्रयम् (बृह.उप.१।६।३).

^{१२}वागर्थविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिप्रतिपत्तये जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ (स्रुवं.१।१)

^{१३}सो अकामत बहु स्यां प्रजायेय इति... इदं सर्वम् असृजत...यद् इदं किञ्च तत् ‘सत्यम्’ इति आचक्षते... तद् आत्मानं स्वयम् अकुरुत. तस्मात् तत्सुकृतम् उच्यते. यदा हि एव एष एतस्मिन् उदरम् अन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति (तैत्ति.उप.२।६-७).

^{१४}एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृणमयं विज्ञातं स्याद् वाचारम्भणं ‘विकारो’ नामधेयं ‘मृत्तिका’ इत्येव सत्यम् (छान्दो.उप.६।१।४).

^{१५}पूर्वोक्तएव वचने.

^{१६}स्वतो भिन्नेष्वपि तत्तत्सृज्यवस्तुषु नामरूपप्रविभागः. तत्र केषुचित्

रूपात्मना प्रवेशे रूपकृतो रूपवदरूपयोः विभागः. रूपरहितेष्वपि केषुचिद् नामात्मना प्रवेशे जडचेतनप्रविभागः सम्पद्यते : “प्रजापतिः प्रजाः असृजत. ताः सृष्टाः समश्लिष्यन्. ताः रूपेण अनुप्राविशत्. तस्माद् आहुः ‘रूपं वै प्रजापतिः’. ताः नाम्ना अनुप्राविशत्. तस्माद् आहुः ‘नामं वै प्रजापतिः’. तस्माद् अमित्रौ संगत्य नाम्ना चेद् ह्वयेते मित्रमेव भवतः” (तैत्ति.ब्राह्म.२।२।७।१). “ब्रह्म वा इदम् अग्र आसीत्. तद् देवान् असृजत. तद् देवान् सृष्ट्वा एषु लोकेषु व्यारोहयद्, अस्मिन्नेव लोके अग्निं वायुम् अन्तरिक्षे दिव्येव सूर्यम्. अथ ये अतः ऊर्ध्वा लोकाः तद् याः अतः ऊर्ध्वा देवताः तेषु ताः देवताः व्यारोहयत्... अथ ब्रह्मैव परार्धम् अगच्छत्. तत् परार्धं गत्वा ऐक्षत कथन्तु इमान् लोकान् प्रत्यवेयाम् इति. तद् द्वाभ्यामेव प्रत्यवैद् रूपेण वैव नाम्ना च. स यस्य कस्य च नाम अस्ति तन्नाम, यस्यापि नाम नास्ति यद् वेद रूपेण ‘इदं रूपम्’ इति तद्रूपम्. एतावद् वा इदं यावद् रूपञ्चैव नाम च. ते ह एते ब्रह्मणो महती अब्धे” (शतप.ब्राह्म.११।२।३।१-४).^{१७}(छान्दो.उप.३।१।४।१).

^{१८}“१.शब्दब्रह्म सुदुर्बोधं प्राणैन्द्रियमनोमयं... यथा ऊर्णनाभिः हृदयाद् ऊर्णाम् उद्वमते मुखाद् आकाशाद् घोषवान् प्राणो मनसा स्पर्शरूपिणा... विचित्रभाषाविततां... बृहतीं सृजति आक्षिपते स्वयम् (भाग.पुरा.११।२-१।३५-४०) अस्तमिते आदित्ये... चन्द्रमसि... शान्ते अग्नौ किञ्ज्योतिरेव अयं पुरुषो इति वागेव अस्य ज्योतिः भवति (बृह.उप.४।३।५). २. “शब्दब्रह्मात्मनः तस्य व्यक्ताव्यक्तात्मनः परं विभाति ब्रह्म विततं नानाशक्त्युपबृंहितं” : ननु शब्दब्रह्मणः कथं जगज्जनकत्वं शब्दार्थयोः द्वैरूप्याद् ब्रह्मणैव अर्थात्मकस्य जगत् उत्पादितत्वात्. तत्र आह ‘विभाति ब्रह्म’ इति. अर्थात्मकं जगद् उत्पादितमपि नामव्यतिरेकेण न प्रकाशतइति ‘विभाति’ इति उक्तम्. इदं सर्वं जगद् विततं ब्रह्मैव विभाति. बृहत्त्वाद् बृंहणत्वात् च ब्रह्मणः. बृहत्त्वाद् विततं बृंहणतत्वाद् नानाशक्त्युपबृंहितम्.

शब्दब्रह्मव्यतिरेकेण परब्रह्मणः प्रकाशनं न भवति, शब्दब्रह्मणैव परब्रह्म प्रकाशयते स्वप्रकाशमपि. स्वप्रकाशत्वमपि तस्य वेदेनैव उक्तम्, अनुपलब्धे तत् प्रमाणं, “पराञ्चि खानि” इत्यादिवाक्याद् अनुपलब्धत्वम् (भाग.सुबो.३।१२।४६).

^{१९}“तेन इयं वाङ्मयी मूर्तिः प्रत्यक्षा वर्तते श्रीहरेः (श्रीभाग.माहा.३।१२) इदं नामात्मकं भगवतो रूपम् (त.दी.नि.३।१।२७) इतीदं द्वादशस्कन्धं पुराणं हरिरेव सः. तत्र आह ‘इति इदम्’ इति पुराणं हरेः स्वरूपं शब्दतो अर्थतः च. (त.दी.नि.३।१।६).

^{२०}एतद्धारणमात्रेण कृष्णो भवति धृतः (त.दी.नि.३।१।१०)



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

॥ १३. औपाधिकधर्मसत्यत्ववादः ॥

(तत्र विरुद्धमतालोचनम्)
नर्ते प्रमाणं भवति प्रमेयः
ऋते प्रमेयं हि कथं प्रमाणं ? ॥
न साधनं येन फलं न लभ्यं
फलं च नो साधनवर्जितं क्वचित् ॥१॥
मार्गो हि मृग्येन विना न सम्भवेद्
अष्टांगमार्गेण विनापि मृग्यः ॥
न ह्येतदेवं परमार्थतश्चेद्
भवेत्तदा संवृत्तिसत्यरूपम् ॥२॥
परमार्थसत्यं नहि संवृत्तिं विना
न संवृत्तिर्वै परमार्थवञ्चिता ॥
अन्योन्यमन्योन्यतराश्रितं चेत्
सर्वं तदौपाधिकसत्यमेतत् ॥३॥
तथा प्रमाणादिचतुष्टयं स्यात्
भवेत्तथा कारणकार्ययोरपि ॥
स्वाभाविकाः स्युर्धर्मा न चैते
राज्ञां नचाज्ञास्ति ह्युपाधिजा मृषाः ॥४॥
स्वयंप्रकाशिनी संवित् शून्यताग्राहिका यदि ॥
लोके संविदि सिद्धायां शून्यताभाससम्भवः ॥५॥
तदैक्यभानविरहात् तत्रापि परभास्यता ॥
ऋते भास्यं न भासः स्याद् भासाभावे न भास्यता ॥६॥
अतस्तत्रापि जागर्ति ह्यन्योन्याश्रिता ध्रुवा ॥
अप्रतीत्य समुत्पादः स्वयमेव न स्वीकृतः ॥७॥

(द्रष्टः इमे सक्कडा धम्मा संभवन्ति सकारणा अकारणा
विनस्सन्ति : । ।)

समुत्पादमृते तस्मै प्रतीत्यत्वं कथं भवेत् ॥
तथा प्रतीत्यताभावे समुत्पादो न सम्भवेत् ॥८॥
तदभावे न शून्यत्वमशून्यत्वे न चोद्भवः ॥
कार्यकारणयोर्वापि साध्यसाधनयोस्तथा ॥९॥
मेयप्रमाणयोर्वापि प्रतीत्योत्पादयोरपि ॥
शून्यबोधेन बुद्धो हि शून्यं बुद्धैकबोधगम् ॥१०॥
तस्माद् बुद्धत्वशून्यत्वे स्यातामन्योन्यसंश्रिते ॥
अन्योन्यौपाधिकाः धर्मा यदि चैतेऽमृषामता ॥११॥
मृषात्वेतु मृषावादो मृषैव स्यात् कुतो नहि ? ॥

(ब्रह्मवादानुसारेण औपाधिकर्मसत्यत्वम्)
ब्रह्मवादानुसारेण वक्तव्यञ्चेद् इदन्त्विह ॥१२॥
उपाध्युपहितद्वैतं न स्वाभाविकमिष्यते ॥
स्वभावसिद्धमैक्यं तदैच्छिकी बहुरूपता ॥१३॥
स्वीयोपाध्युपहितं तत् स्वेच्छया बहु जायते ॥
आतश्चोपाधिको भेदो ब्राह्मिकश्चेत्तु भास्करो ॥१४॥
साकारब्रह्मवादैकदेशी वेदान्तभाष्यकृद् ॥
नाप्रामाणिकतया ज्ञेयो ब्रह्मवादानिराकृतेः ॥१५॥
भिन्नो रेखात्रयात् चेत् स्थितिरपि च तदा नो कुतो तद्विनाशो
भेदाभावे समोऽयं नहि भवति कुतस्तत्रिकेणात्रिकोणे ॥
रेखाभिस्तिसृभिर्हि भवति नहि भिदा नाप्यभेदस्त्रिकोण-
स्येत्यं तादात्म्यसिद्धिर्जगति सुविदिता ब्रह्मणोऽप्येवमेव ॥१६॥
अखण्डसच्चिदानन्दापरिच्छिन्नं हि ब्रह्म तत् ॥
सच्चिदानन्दखण्डेषु स्वात्मानं लीलया स्वतः ॥१७॥
संविभाज्य ततो धर्मान् सत्ताज्ञानरतीनपि ॥
कालकर्मस्वभावादीन् ततः प्रकृतिपुरुषौ ॥१८॥

तयोः स्वलीनान् निखिलान् रूपनामविभेदतः ॥
आविष्कार यत् तस्माद् “ऐतदात्म्यमिदं” मतम् ॥१९॥

(तत्राक्षेपसमाधाने)

कार्यकारणतादात्म्यं श्रुतिवाक्यप्रमाणकम् ॥
तर्कतस्तस्य सिद्धौ त्वज्ञातज्ञापकताक्षतिः ॥२०॥
तर्केण तु विरुद्धत्वे काव्योक्तिवदप्रमाणता ॥
एवं ह्युभयतः पाशात् तादात्म्यमप्रमाणकम् ॥२१॥
श्रुतिवाक्यप्रवक्तुश्च रागद्वेषादिवर्जितम् ॥
सार्वज्ञ्यं वाक्यप्रामाण्यहेतुकं च कथं भवेत् ॥२२॥
अनंगीकाराद् वक्तुश्चेश्वरस्याप्यसिद्धितः ॥
रागद्वेषादिरहितः सर्वज्ञः सुगतो मतः ॥२३॥
वक्ता विश्वसनीयश्च तदुक्तेस्तु विरोधतः ॥
न तादात्म्यं हि मन्तव्यं प्रामाणिकमिह क्वचित् ॥२४॥

इति चेद् न

वचनस्येह कस्यापि यत्प्रामाण्यं मतं तु तत् ॥
सार्वज्ञ्याद् रागद्वेषादिरहित्याद् वानुमानतः ॥२५॥
सार्वज्ञ्यमाद्येऽसर्वज्ञेन ज्ञातुं शक्यते क्वचित् ॥
मीयेत यदि सार्वज्ञ्यं स्यात् सर्वज्ञः स्वयं पुनः ॥२६॥
रागद्वेषादिरहित्यं वाग्वृत्तानुमितं यदि ॥
स्वस्य तादृगदोषवत्त्वात् अनुमा न प्रमा भवेत् ॥२७॥
श्रद्धाजाड्याद् मीयते चेत् परस्मै न तथा भवेत् ॥
वाग्वृत्तयोः बाह्यभावात् स्यादन्तर्व्यभिचारिता ॥२८॥
संदेहाद् निर्णयस्तत्र कर्तुं केनात्र शक्यते ॥
लोकाज्ञातसमाधेस्तु ज्ञाते सत्ये भरस्तदा ॥२९॥
असर्वज्ञेनेतरेण न समाधेर्बोधसंभवः ॥
वचःप्रामाण्यतो वा तत्प्रामाण्याद्वा वचःप्रमा ॥३०॥
अन्योन्याश्रयतादोषाद् तदज्ञानं ह्यविनिश्चितम् ॥

तादात्म्यं तर्कतः सिद्धं नापहारि श्रुतेर्भवेत् ॥३१॥
प्रामाण्यस्य यतस्तत्तु तर्कागम्यस्य ब्रह्मणः ॥
अपरोक्षस्य जगतः ‘इदमा’ गोचरस्य हि ॥३२॥
उभयोर्यत्तु तादात्म्यं श्रुत्येकावगतं हि तत् ॥
तर्काविरुद्धं तादात्म्यं समान्यमवगत्य हि ॥३३॥
ब्रह्मणा च विशेषेण तद्बोधः श्रुतिसाधितः ॥
ब्रह्मवादैकदेशीये ब्राह्मिकोपाधिवादिनि ॥३४॥
ब्रह्मवादविचारेण ह्युपपादानमत्र हि ॥
कृतं यत् तेन तुष्यन्तु श्रुतिप्रामाण्यवादिनः ॥३५॥

इत्थं हि श्रुति^(छान्दो. उप. ६।८।७)सिद्धान्ते ब्रह्मतादात्म्यवादिनि ॥
विरुद्धसर्वधर्माणाम् आश्रयं युक्त्यगोचरम् ॥३६॥
ब्रह्मोपादानकं सर्वं ब्रह्मणि ब्रह्मणा कृतम् ॥
ब्रह्मकार्याशभूतं च संक्षेपेणेह वर्णितम् ॥३७॥

गोस्वामिना श्याममनोहरेण

सत्यत्वमौपाधिकधर्मधर्मिणां ॥

प्रसाधितं युक्तिभिरेव ताभिः

याभिर्हि सत्यत्वम् अपाकृतं परैः ॥३८॥

इति गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मजेन श्याममनोहरेण विरचितः

औपाधिकधर्मसत्यत्ववादः

सम्पूर्णः



॥ १४. तं तु औपनिषदं पुरुषं पृच्छामि ?

(बृह.उप.३।१।२६).

ब्रह्म ते ब्रवाणि ! ॥

(बृह.उप.२।१।१)

वाच्यं ब्रह्मेति बोद्धव्यं वचनमपिच तदबोधकं ब्रह्मतत्त्वम्
बोद्धा जीवस्तदंशो वचनकरणता वाचि या सापि चैवम् ॥
कर्मज्ञानाद्युपायैर् विविधवचनैः प्राप्यमप्येतदेवं
ब्रह्मैवेदं हि सर्वं श्रुतिरिति वदति ब्रह्मवादं सदैवम् ॥१॥
नाधीतवानहं न्यायं सम्यङ् नोदितोऽपि हि ॥
गुरुभिर्गुरुकल्पानां 'हरिरामा'ख्यशास्त्रिणाम् ॥२॥
श्रीमतां स्मारिकायां वै लेखनार्थमतोऽत्र हि ॥
ब्रह्मणः सर्वरूपस्य निरूपयिषा मम ॥३॥
कामये तुष्टये भूयात् 'बलिरामा'ख्यशास्त्रिणः ॥
श्रीमतः न्यायशास्त्राब्धिपारगस्य सुहृन्मणेः ॥४॥

तदिह 'ब्रह्म'पद-तदर्थयोः मीमांसायां किम् इदम् पदं तावद्
अर्थविशेषवाचकम् आहोस्वित् शब्दराशीविशेषवाचकं वा ? इति भवति
खलु विचिकित्सा.

कुतः एतद् एवम् ? इति जिज्ञासायां ब्रूमः : उभयथापि
पदप्रयोगोपलब्धेः. तथाहि श्वेताश्वतरोपनिषदि श्रूयते “ब्रह्मवादिनो वदन्ति,
किं कारणं ब्रह्म ? कुतः स्म जाताः, जीवामः केन, क्वच सम्प्रतिष्ठाः ?
अधिष्ठिताः केन सुखेतेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ?” (श्वेता.उप.१।१।)
इति. तदिह न 'ब्रह्म'पदेन श्रुत्यादिशास्त्राणि विवक्षितानि किमुत
श्रुत्यादिशास्त्रप्रतिपाद्यं परमं किल तत्त्वमेव. तथाच उक्तं श्रीमच्छंकराचार्यैः
“ब्रह्मवादिनो, ब्रह्मवदनशीलाः सर्वे सम्भूय, वदन्ति 'किं कारणं ब्रह्म ?'.
'किम्' इति स्वरूपविषयो अयं प्रश्नः” (श्वे.उ.शां.भा.तत्रैव) इति.

तैत्तिरीयारण्यके तु छान्दोग्योपनिषदि च पुनः “ब्रह्म वदिष्ये”, “ब्रह्मवादिनो
वदन्ति यद् वसूनां प्रातःसवनं, रुद्राणां माध्यन्दिनं सवनम्, आदित्यानां
च विश्वेषां देवानां तृतीयसवनम्” (तैत्ति.आर.४।१।१, छान्दो.उप.२।२।१)
इति हि एवमादिषु वचनेषु 'ब्रह्म'पदं स्वाध्यायापरपर्यायवेदादिशास्त्रवाचकमेव
श्रीसायणाचार्यैः अभ्युपेतम्.

तत्र “यज्ञः कर्मसमुद्भवः, कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि, ब्रह्म
अक्षरसमुद्भवं, तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्”, “अक्षरं
ब्रह्म परमं... भूतभावोद्भवकरो विसर्गः 'कर्म'सञ्जितः” (भग.गीता.३।१४-
१५, ८।३) इति भगवद्वचनाभ्यां 'ब्रह्म'पदं यथा कर्मोपदेशपरवेदापरपर्यायरूपं
च इत्थंभूतवेदोपादानरूपाक्षरब्रह्मापरपर्यायरूपं चापि इति प्रतिपत्तिसितम्. तथाहि
“वेदैः च सर्वैः अहमेव वेद्यः” (भग.गीता.१५।१५) इति वचनोक्तस्य
वेदादिशास्त्राणां परमवाच्यार्थभूतस्य परब्रह्मणो वाचकम् इदं 'ब्रह्म'पदं यथा
अभ्युपगतं गीतोपदेष्टा तथैव “सर्वे वेदाः यत्पदम् आमनन्ति”
(कठोप.१।२।१५) इति श्रुतिवचनोक्ततया च वेदरूपपरमप्रमाणभूतशब्दराशेरपि
वाचकम् इदं 'ब्रह्म'पदम् इति अध्यवसीयते.

ननु किम् एतावता यदि चैतत् पदं उभयवाचकं भवेद्
आहोस्विद् एकतरवाचकं वा ? अयम् आशयः : उभयवाचकत्वे तु
'ब्रह्म'पदमपि स्वपरवाचकं भवेदिति यथाच औपनिषदं ब्रह्म स्वपरानुभासकं
“तमेव भान्तम् अनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वम् इदं विभाति” (कठोप.५।१५,
मुण्ड.उप.२।२।१०, श्वेता.उप.६।१४) इत्येवमादिवचनैः अंगीकृतम्. अत्र
आशंकेत भवतु स्वपरवाचकं एतद् 'ब्रह्म'पदं किं तेनापि ? इति. इदम्
इह सूक्ष्मेक्षिकया अवधेयम् : यथाहि “अत्र अयं पुरुषः स्वयञ्ज्योतिः
भवति” (बृह.उप.४।३।९) इति स्वयञ्ज्योतिष्टवं जीवात्मविषये प्रतिपादितं,
तथैव वेदवेदान्तादिशब्दराशेः 'ब्रह्मा'त्मकपदरूपतावद् 'ब्रह्म'रूपार्थवाचकता-
यामपि न खलु ब्रह्मणः स्वयञ्ज्योतिष्टवे काचन हानिः भवित्री, ब्रह्मणएव
स्ववाचकवेदादिशब्दरूपेण आविर्भावाभ्युपगमात्.

तदेतद् उक्तं श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणैः :

“शब्दब्रह्मव्यतिरेकेण परब्रह्मणः प्रकाशनं न भवति. शब्दब्रह्मणैव परब्रह्म प्रकाश्यते स्वप्रकाशमपि. स्वप्रकाशत्वमपि तस्य वेदेनैव उक्तम् ‘अनुपलब्धे तत् प्रमाणम्’ इति न्यायात्. ‘पराञ्चि खानि’ इति वाक्याद् अनुपलब्धत्वम्. स्वप्रकाशमपि सौरं तेजः दिवाभीतेन न दृश्यते. नच व्यवधानं किञ्चिद् अपेक्ष्यते, इन्द्रियाणामेव अग्राहकत्वात्. नहि आकाशाग्रहणे, चक्षुषा, रसाग्रहणे वा व्यवधायकम् अस्ति. यदपि ‘अन्यद् युष्माकम् अन्तरं बभूव’ इति व्यवधानम् उक्तं तदपि स्वप्रकाशस्य सर्वात्मकस्य मनसि चक्षुषि च घटे प्रकाशमानस्य व्यवधायकं न भवति... अतः शब्देनैव ब्रह्मणो भानम्. ‘यतो वाचो निवर्तन्ते’ इति तु इन्द्रियरूपा वाक् लौकिकः च शब्दः, लौकिकं च मनो; अन्यथा, ‘तं तु औपनिषदं पुरुषं पृच्छामि’, ‘मनसैव इदम् आप्तव्यम्’ इति विरुद्धम् आपद्यते. माहात्म्यार्थं वा द्वयम्. उभयमपि शब्दब्रह्मणएव ज्ञायते...” (भाग.सुबो.३।१२।४६).

तस्मात् सच्चिदानन्दाद् ब्रह्मणो जातायाः रूपसृष्टेः सद्रूपतेव नामसृष्टेः चैतन्यरूपतायाः अपि अंगीकारेण तयोरेतयोश्च अव्याकृतनामरूपयोः सच्चिदानन्दे ब्रह्मण्येव किल ब्रह्मात्मकतया अवस्थितयोः व्याकरणमात्रं हि सृष्टिः इति श्रौतसिद्धान्तरहस्याधिगमात्. तद् उक्तं “तद्धा इदं तर्हि अव्याकृतम् आसीत्. तद् नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत ‘असौनामा’ अयम् ‘इदंरूपः’ इति” (बृह.उप.१।४।७) इति.

नच मृदि अव्याकृतयोः ‘घट’नाम-तद्रूपयोः व्याकर्ता कुम्भकारइति न खलु तयोः कुम्भकारात्मकता वक्तुं युक्ता इति वाच्यं, यदि कुम्भकारवद्

अनात्मभूतमृत्तो हि ब्रह्मणापि स्वव्यतिरिक्ताद् अनात्मभूतात् कस्माच्चित् खलु उपादानाद् नाम-रूपयोः व्याकृतिरूपा सृष्टिः कृता इति मतं वाचनिकं स्यात्. श्रुतयस्तु पुनः बह्व्यः “आत्मैव इदम् अग्रे आसीत् पुरुषविधः. सो अनुवीक्ष्य न अन्यद् आत्मनो अपश्यत्. सो ‘अहम् अस्मि’ इति अग्रे व्याहरत्. ततो ‘अहं’नामा अभवत्... स यत्पूर्वो अस्मात् सर्वस्मात् सर्वान् पाप्मानः औषत्”, “तद् आत्मानं स्वयम् अकुरुत” (बृह.उप.१।४।१, - तैत्ति.उप.२।७) इत्येवमादयो हि आत्मनएव आत्मनि नामरूपकर्मव्याकरणात्मिकां सृष्टिं प्रतिपिपादयिषन्ति. तेन तेषां ब्रह्मात्मकत्वे न काचन बाधा सम्भावयितुमपि शक्या. यथाच उक्तं “त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म... ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि नामानि... रूपाणि... कर्माणि बिभर्ति. तदेतत् त्रयं सद एकम् अयम् आत्मा. आत्मा उ एकः सन् एतत् त्रयम्”, “यद् वै किञ्च अनूक्तं तस्य सर्वस्य ‘ब्रह्म’ इति एकता” (बृह.उप.१।६।१-३, बृह.उप.१।५।१७) इति. ताभ्यमेताभ्यां उपनिषद्वचनाभ्यां “अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम् एकः सन् बहुधा विचारः. शतं शुक्राणि यत्र एकं भवन्ति, सर्वे वेदाः यत्र एकं भवन्ति, सर्वे होतारो यत्र एकं भवन्ति... सर्वात्मा सर्वाः प्रजाः यत्र एकं भवन्ति” (तैत्ति.आर.३।११।१) इति आरण्यकवचनरहस्यम् आविष्कृतं वेदनीयम्.

नच एतत् साम्प्रतम् : एतैः वचनोदितैः खलु एकत्वैः, अपारमार्थिकद्वित्वभ्रमाधिष्ठानचन्द्रमसो द्वित्वबाधकपारमार्थिकैकत्वसाधारणतयैव भाव्यम्, इति, “स वा अयम् आत्मा ब्रह्म, विज्ञानमयः मनोमयः प्राणमयः चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः पृथिवीमयः आपोमयः वायुमयः आकाशमयः तेजोमयो अतेजोमयः काममयो अकाममयः क्रोधमयो अक्रोधमयः धर्ममयो अधर्ममयः सर्वमयः. तदेतद् इदंमयो अदोमयइति यथाकारी यथाचारी तथा भवति. साधुकारी साधुः भवति, पापकारी पापो भवति, पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेन” (बृह.उप.४।४।५) इत्येवमादिवचनेषु जीवात्मस्वपि ब्रह्मैकत्वबुद्ध्यैव यत्र सर्वमयत्वस्य बाधसम्भावनारहितः तत्तद्धर्ममयताव्यपदेशः. नच मनोमयत्वादिधर्माः चिदेकरसस्य आत्मनः

स्वभाविकाः न वक्तुं शक्याः इति शङ्कनीयं, प्रायपाठविरोधाद्. अन्यथा विज्ञानमयत्वरूपधर्मोऽपि चिदेकरसस्य आत्मनो अस्वाभाविकः इति आपद्येत. सति चैवं परस्मिन् ब्रह्मणि स्वाभाविकसर्वमयत्वन्तु कथंकारं शङ्काभारं निर्वोढा? यस्माद् “ब्रह्म वा इदम् अग्रे आसीत् तद् आत्मानमेव अवेद ‘अहं ब्रह्म अस्मि’”. तस्मात् तत् सर्वम् अभवत्. तद् यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तद् अभवत्; तथा ऋषीणां तथा मनुष्याणाम्. तद्ध एतत् पश्यन् ऋषिः वामदेवः प्रतिपेदे ‘अहं मनुः अभवं सूर्यः च’ इति. तदिदमपि एतर्हि यः एवं वेद ‘अहं ब्रह्म अस्मि’ इति सः इदं सर्वं भवति” (बृह.उप.१।४।१०) इति श्रुतौ ब्रह्मत्वभानमूलिकैव सेयं ब्राह्मिकी सर्वमयता नहि केवले तस्मिन्नेव किमुत देवर्षिमनुष्यसाधारण्येव किल असौ समुपदिष्टा. तस्मादेव सामान्यलक्षणप्रत्यासत्तिप्रक्रियापि न इह लब्धपदा भवितुम् अर्हति. यस्मात् “सर्वं खलु इदं ब्रह्म”, “ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं, तत्^(ऐतदात्म्यं) सत्यं स आत्मा, तत्^(ऐतदात्म्यं) त्वम् असि” (छान्दो.उप.३।१४।१, ६।८।७) इत्येवमादिषु श्रुतिवचनेषु चिदचिद्रूप-द्रष्टृदृश्यसाधारणी ब्रह्मात्मकता या निर्दिष्टा सापि निरस्तसमस्तस्वेतरोपाधिरहितसर्वात्मकतायामेव खलु प्रमाणम् इति आस्थेयम्.

अतएव तैत्तिरीयोपनिषदि बृहदारण्यके च “सो अकामयत ‘बहु स्यां प्रजायेय’ इति... इदं सर्वम् असृजत यदिदं किञ्च. सच्च त्यच्च अभवत्, निरुक्तञ्च अनिरुक्तञ्च, निलयनञ्च अनिलयनञ्च, विज्ञानञ्च अविज्ञानञ्च, सत्यञ्च अनृतञ्च सत्यम् अभवत्”, “द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे : मूर्तञ्चैव अमूर्तञ्च, मर्त्यञ्चैव अमृतञ्च, स्थितञ्च यच्च, सच्च त्यच्च” (तैत्ति.उप.२।६, बृह.उप.२।३।१) इति निरूपितम्.

नच एतदग्रिमवचनएव प्रतिषेधार्थमेव प्रसक्तयोः एतयोः द्वयोरपि रूपयोः “अथात आदेशो ‘न’ इति-‘न’ इति” (बृह.उप.२।३।६) इति वीप्सया बाधितत्वेन उभयविधरूपरहितं केवलं स्वप्रकाशरूपमेव ब्रह्मेति तद्बोधार्थं “यद् रजतं तत् शुक्तिशकलम्” इति न्यायेन बाधनीयार्थबोधकं वचनम्

इदम् इति शङ्कनीयम्, अनुपपत्तेः. तथाहि ऋक्संहितायां तावत् “पुरुषएव इदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम् उत अमृतत्वस्य ईशान यद् अन्नेन अतिरोहति” (ऋक्संहि.१०।१०।२) इति श्रुतौ बाधितार्थानुवृत्तिप्रक्रियायाः बाधकस्य वचनस्य समुपलम्भाद्. बाधितार्थस्य हि “स्वप्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगि”त्वेन अभ्युपगतत्वाद्, इहतु ब्रह्मणि त्रैकालिकसर्वरूपतायाः कण्ठोपदिष्टत्वात् च.

ननु “...अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत् तत् पश्यसि तद् वद!” (कठोप.१।२।१४) इति उपदेशप्रार्थने “अजो नित्यः शाश्वतो अयं पुराणः”, “न संदृशे तिष्ठति रूपम् अस्य... नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा. ‘अस्ति’ इति ब्रुवतो अन्यत्र कथं तद् उपलभ्यते?” (कठोप.१।२।१८, २।३।९-१२) इति आत्मस्वरूपबोधके वचने अजत्वनित्य-त्वशाश्वतत्वपुराणत्वादीनां चक्षुरादिबाह्याभ्यन्तरकरणाग्राह्यत्वादेः च उपदेशात् मूर्तामूर्तरूपयोस्तु पुनः प्रत्यक्षेण उत्पत्तिनाशोपलम्भात् च न ब्रह्मणः सर्वरूपत्वं सर्वमयत्वं वा साहजिकं सम्भवति इति चेद्, अत्र प्रतिविधास्यामः : पूर्वोदाहृते पुरुषसूक्तएव तावत् “पुरुषएव इदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम्. उत अमृतत्वस्य ईशानः यद् अन्नेन अतिरोहति. एतावान् अस्य महिमा अतो ज्यायान् च पूरुषः. पादो अस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्य अमृतं दिवि. त्रिपाद् ऊर्ध्वम् उदैत् पुरुषः, पादो अस्य इह अभवात् पुनः. ततो विश्वं व्यक्रामत साशनानशने अभि” (तैत्ति.आर.३।१२।१-२) इति प्रतिपाद्य अग्रिमे त्रयोदशानुवाके “अजायमानो बहुधा विजायते तस्य धीराः परिजानन्ति योनिम्” (तैत्ति.आर.३।१३।१) इति वचने कस्मिन् अंशे स परमपुरुषः बाह्याभ्यन्तरकरणैः गृह्यमाणो जायमानः चापि सर्वथा अमृतएव तिष्ठति, केषु च अंशेषु पुनः अग्राह्यो अजायमानएव अवतिष्ठते, अन्नतया च नाश्य-मर्त्यत्वेऽपि अमृतत्वेऽतया क्वचिदपि कदाचिदपि न तिरोहति इत्यादि सर्वं श्रुतावेव समाहितमिति श्रुत्येकग्राह्ये तत्त्वे शुष्कतर्कैः नैव भ्रमितव्यम्. किञ्च “अणोः अणीयान् महतो महीयान्... आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः, कः तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुम् अर्हति” (कठोप.१।२।२०-२१)

इति श्रुत्यादिप्रमाणैकगम्यस्य तदितरप्रमाणागम्यस्य च विरुद्धसर्वधर्माश्रयत्वेन प्रतिपादनोपलम्भादपि न विरोधः कश्चन.

प्रकृतम् अनुसरामः : अतएव “ब्रह्म परिवृढं सर्वतः” (निघ.निरु.१।३।६) इत्यत्र निरुक्तविवृतिकारैः “‘ब्रह्म’ वेदान्तप्रतिपाद्यम्, ऋगादि वा, उभयमपि एतत् परिवृढं व्याप्तम्” इति निरुक्तविवृतौ निरूपितम्. ततश्च ब्रह्मसूत्रकुदभिः महर्षिबादरायणैरपि “अथातो ब्रह्मजिज्ञासा” (ब्र.सू.१।१।१) इति सूत्रे जिज्ञास्यत्वेन निर्दिष्टं ब्रह्म किं वेदवेदान्तप्रतिपाद्यम् अर्थरूपम् आहोस्वित् वेदवेदान्तरूपं शास्त्रमेव ‘ब्रह्म’पदेन विवक्षितम् इति विचारणीये वस्तुनि नैके भाष्यकाराः वेदान्तप्रतिपाद्यं परमतत्त्वमेव ‘ब्रह्म’पदाभिप्रेतम् अस्ति इति मतम् आतिष्ठन्ते. तत्तु शुद्धाद्वैतवादप्रतिष्ठापकानां श्रीवत्सलभाचार्याणां सर्वथैव अभिमतमपि सत् तैः “इदम् अत्र विचार्यते वेदान्तानां विचारः आरम्भणीयो न वा” (ब्र.सू.भा.१।१।१) इति प्रतिपादयद्भिः जिज्ञासाधिकरणस्य विषयसंशयौ विलक्षणावेव प्रदर्शितौ.

तस्माद् ब्रह्माधिगमे यद् वै किञ्चित् प्रमाणं प्रमेयं साधनं फलं वा अपेक्षितं तत् सर्वं खलु एकस्यैव ब्रह्मणो बहुभवनसामर्थ्य-संकल्पप्रयुक्तमिति सर्वस्यापि ब्रह्मात्मकत्वादेव न जातु ब्रह्मणः स्वयञ्ज्योतिष्ट्वे कस्मिंश्चिदपि रूपे वा नाम्नि वा कर्मण्यपि वा कस्याञ्चिदपि अवस्थायां बाधसम्भावना नाम. तदिदम् उक्तं भाष्यकारैः :

“‘सवै नैव रेमे तस्माद् एकाकी न रमते. स द्वितीयम् ऐच्छत्. स ह एतावान् आस’ (बृह.उप.१।४-१३) इत्यादिश्रुतिभिः, ‘एष उ एव’ (कौषि.उप.३।८) इति श्रुतेः च तानि-तानि साधनानि कारयित्वा तानि-तानि फलानि ददद् भगवान् स्वक्रीडार्थमेव जगद्रूपेण आविर्भूय क्रीडति इति वैदिकैः निर्णीयते. एतदेव काण्डद्वयेऽपि प्रतिपाद्यते, अन्यथा जीवस्य

साधनफले निरूपयन्त्याः श्रुतेः जीवपरत्वमेव स्याद् न ब्रह्मपरत्वम्. कर्मब्रह्मणोरपि जीवशेषत्वं न अपेयात्. एवं सति पूर्वकाण्डे अवान्तरफलानि उक्त्वा ‘एतस्यैव आनन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्राम् उपजीवन्ति’ (बृह.उप.४।३।३२) इति श्रुतेः निरवध्यानन्दात्मकमेव परमं फलम् इति तद् विवक्षमाणा पूर्वं सामान्यतः आह ससाधनं तैत्तिरीये ‘ब्रह्मविद् आप्नोति परम्’ (तैत्ति.उप.२।१) इति. अक्षरब्रह्मवित् परं ब्रह्म आप्नोति इति अर्थः” (ब्र.सू.भा.१।१।११).

अतएव श्रीमद्वत्सलभाचार्यचरणैः सोयं श्रौतो ब्रह्मवादः स्वकीयेषु ग्रन्थेषु बहुधा प्रतिपादितः :

१. “‘भगवच्छास्त्रे भगवानेव प्रमाणादि (प्रमेयसाधनफल-रूप) चतुष्टयम्” (भाग.सुबो.१०।२।३८).

२. “‘प्रत्यक्षादृष्टविषये पदार्थाः श्रुतिबोधिताः परस्परं विरुद्धाः ते नैकशेषं भजन्ति हि, उभयोः वैदिकत्वेन कः स्याद् अत्र नियामकः? विचारकानां बुद्धिस्तु सोपजीव्या श्रुतेः सदा. क्रियाविद्यापरत्वेतु विकल्पेन एकवाक्यता, दुष्टोऽपि आश्रीयते पक्षो विकल्पाख्यः श्रुतेः बलात्. तथैव भगवद्रूपं यथा हस्तादयः पृथक्. यथा सर्वाविरोधः स्यात् तथैव अत्र विचारणम्. सर्वरूपसमर्थत्वम् अतो ब्रह्मणि गीयते. अन्यथा प्रतिभानं यद् उच्चनीचादिभेदतः तद्भानं तस्य कर्ता च हरिरेव तथाविधः. यत् किञ्चिद् दूषणन्तु अत्र दूष्यं चापि हरिः स्वयम्. विरुद्धपक्षाः सर्वेऽपि सर्वम् अत्रैव शोभते, ‘यो अवशिष्यते सो अस्मि अहम्’

इति' (भाग.सुबो.२।१।३२).

३. “जगतः समवायि स्यात् तदेव च निमित्तकं,
कदाचिद् रमते स्वस्मिन् प्रपञ्चेऽपि क्वचित् सुखं,
यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद् यद् यथा यदा
स्याद् इदं भगवान् साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरः...
सर्ववादानवसरं नानावादानुरोधि तद् अनन्तमूर्तिं तद्
ब्रह्म कूटस्थं चलमेव च, विरुद्धसर्वधर्माणाम् आश्रयं
युक्त्यगोचरम्. आविर्भावतिरोभावैः मोहनं बहुरूपतः
इन्द्रियाणान्तु सामर्थ्याद् अदृश्यं स्वेच्छयातु तत्” (इश्य-
म्) (त.दी.नि.१।६८-७२).

४. “‘सर्ववादानवसरम्’ इति, वस्तुतः श्रुतौ
नानावाक्यानाम् एकवाक्यता निरूपिता, सर्वभवनसाम-
र्थ्येन विरुद्धधर्माश्रयत्वात्. नैवंवादिनां वाक्यानि
तत्तदंशवाक्यपराणि भवितुम् अर्हन्ति, तेषां तथा
हृदयाभावात्. अतः सर्वे वादाः स्वभ्रान्तिकल्पितत्वेन
वस्तुस्पर्शाभावाद् अनवसरपराहताएव. अस्तु वादिनां
हृदयं यथा-तथा वाक्यानां सरस्वतीरूपत्वात् कथं
न एकवाक्यता? इति आशङ्क्य आह ‘नानावादानुरोधि
तद्’ इति. एकैको वादो ब्रह्मणः एकैकधर्मप्रतिपादक-
वाक्यशेषइति भगवान् तान् सर्वानेव अनुसरति”
(त.दी.नि.प्र.१।७०).

सोऽयं श्रुतिगीताब्रह्मसूत्रभागवतादिशास्त्रोदितो ब्रह्मवादः
महाप्रभुश्रीमदवल्लभाचार्याणां नैकेषु ग्रन्थेषु उपपादितः इति संक्षेपः. इति
शम्.



॥१५.वैदिक और वैज्ञानिक चिन्तनमें ब्रह्मांडकी अवधारणा॥

मानवदृष्टि द्वारा गोचर या अगोचर ऐसी बुद्धिपरिकल्पित शुद्ध समग्रताको 'युनिवर्स' या 'ब्रह्मांड' ऐसा नामाभिधान दार्शनिक या वैज्ञानिक करते हैं।

यद्यपि युरोपके प्राचीन चिन्तकोंके मनमें 'कॉस्मिक एण्', ब्रह्मांड^{*}के पर्यायवाचक, जैसी धारणा कदाचित् थी नहीं। विज्ञानकी कॉस्मोलोजीकी नई वैकल्पिक तीन-चार धारणाओंमें से एक धारणा महाविस्फोट (The big bang theory) की प्रक्रिया अभिप्रेत है। इस प्रक्रियाके अनुसार सृष्टिजनक ऐसा महाविस्फोट उस कॉस्मिक-एण्में हुआ था ऐसा माना जाता है। हमारी भाषाके 'ब्रह्मांड' शब्दकी तुलनामें आनेवाला यह शब्दपर्याय है। इसमें प्रयुक्त 'कॉस्मिक' विशेषण 'कॉस्मोस्' शब्दसे व्युत्पन्न हुआ है और उसका अर्थ कोशकार "The universe regarded as an orderly, harmonious whole" (रीडर्स डाइजेस्ट् ग्रेट इलस्ट्रेटेड डिक्शनरी) करते हैं। क्योंकि पुरातन यूनानी चिन्तक 'कॉस्मोस्' पदका प्रयोग ऑर्डर और विश्व के अर्थोंमें करते थे।

हमारे वैदिक साहित्यमें "एतावान् अस्य महिमा अतो ज्यायँश्च पुरुषः. पादो अस्य इह भूतानि त्रिपादस्य अमृतं दिवि. त्रिपाद ऊर्ध्वम् उदैत् पुरुषः. पादो अस्य इह अभवत् पुनः. ततो विश्वइ व्यक्रामत् साशनानशने अभि. तस्माद् विराड् अजायत". (ऋक्संहि.१०।९०।१७) अर्थात् दृष्टिगोचर होता यह सारा विस्तार उस चतुष्पाद विराट् पुरुषकी विराटता या महिमा है। वह स्वयं तो इससे कहीं अधिक है। क्योंकि

^{*}द्रष्ट. : "तदा संहत्य च अन्योन्यं भगवच्छक्तिचोदिताः सदसत्त्वम् उपादाय च उभयं ससृजुः... वर्षपूगसहस्रान्ते तद् अण्डं... कालकर्मस्वभावस्थो जीवो अजीवम् अजीवयत्. स एव पुरुषः तस्माद् अण्डं निर्भिद्य निर्गतः" (भाग.पुरा.२।५।३३-३५).

उसके चारों से एक पादके अन्तर्गत यह सारे भूत-भौतिक पदार्थ रहते हैं। तीन पाद तो इन्द्रियागोचर द्युलोकमें होते हैं। अतः अपने अवशिष्ट तीन पादोंके साथ वह स्वयं दृश्य प्रपंचसे अतीत ही रहता है। उसके केवल एक पादसे यह समग्र विश्व व्युच्चरित हुआ है, चाहे अन्नोपजीवी हो या निरन्न विद्यमान रह पानेवाले द्रव्य। उस ऐसे पुरुषमें से विराट् प्रादुर्भूत हुआ।

इस श्रुतिवचनमें प्रतिपादित विराट्को ब्रह्मांडके आधिदैविक पर्यायरूपेण माना जा सकता है।

श्रीयास्कमुनि-विरचित निघण्टुनिरुक्तभाष्यमें यद्यपि 'ब्रह्मांड' शब्द संकलित हो नहीं पाया है, अतः वेदोंकी संहिता ब्राह्मण आरण्यक या प्रमुख उपनिषदों में भी कहीं 'ब्रह्मांड' पदका प्रयोग हुआ है या नहीं हुआ, यह तो गवेषणीय विषय लगता है। फिरभी इसके पर्यायके रूपमें प्रयोगार्ह एक 'विराज्' शब्द तो वहां भी उपलब्ध होता ही है। निरुक्तमें, यद्यपि, छन्दके अन्यतम प्रकारके अभिधानतया प्रयुक्त हुआ है, फिरभी पदव्युत्पत्तिका विचार करनेपर 'ब्रह्मांड'के पर्यायतया स्वीकारनेमें आपत्तिजनक कुछ नहीं लगता। क्योंकि वहां "विराजनात् सम्पूर्णाक्षरा" (निरु.७।३।१३।९)की व्याख्या करते हुवे श्रीदुर्गाचार्य कहते हैं "साकल्याद् विराजतइवेति विराजनाद् 'विराट्'" अर्थात् साकल्य (wholeness) को पदप्रवृत्तिनिमित्तके रूपमें स्वीकारा गया है।

इसीका वर्णन बृहदारण्यकोपनिषद्के "नैव इह किञ्चन अग्रे आसीद्. मृत्युनैव इदम् आवृतम् आसीद्, अशनायया. अशनाया हि मृत्युः. तद् मनो अकुरुत आत्मन्वी स्याम् इति" (बृह.उप.१।१।१) अर्थात् पहले यहां कुछ भी नहीं था। सभी कुछ विगत कल्पकी मृत्यु/अन्तर्भुक्तावस्थासे ग्रस्त था। क्योंकि अशनाया^{*} पूर्वकल्पमें व्यक्तद्रव्यरूपा सृष्टिकी अपने लयाधारभूत तत्त्वमें प्रलीनता या अन्तर्भुक्तता है। उस लयाधारमें पुनः

प्रकट होनेवाली सृष्टिके प्रादुर्भावानुकूल शक्तिरूपेण यहां अवस्थिति समझानी चाही है. उस शक्तिका पुनः द्रव्यभावापन्न होना ही यहां 'आत्मन्वी' पदके प्रयोगद्वारा ध्वनित किया गया है. और इसी हेतुवश प्रकट होनेसे पूर्व सृष्टिका एकान्तिक अभाव मान्य नहीं हो पाता. पूर्वसृष्टिके स्वरूपेण या आत्मना किसी अन्य आधारभूत तत्त्वमें अन्तर्भुक्त होनेके कारण उसका स्वयंका कोई विशेष स्वरूप या आत्मरूप नहीं बच गया था. अपनी निजात्मरूपरहित अन्तर्भुक्तावस्थामेंसे पृथक् स्वरूपमें प्रकट होनेको जब सूक्ष्मरूपा सृष्टि स्पन्दित होने लगी तब उसमें जगी आत्मन्वी होनेकी अभिवृत्ति अपने लयाधारसे पृथक् रूपधारण हेतु अभिवृत्तिके रूपमें सोची जा सकती है. अतएव इस वचनमें इदमास्पद विश्व प्रकट होनेसे पूर्व ऐसे किसी प्रकारकी अशनाया अर्थात् किसी ऐसे तत्त्वमें अन्तर्भुक्ति या भक्षित होनेकी अवस्थामें था. उस अन्तर्भुक्त तत्त्वके भीतरसे बाहर आ कर दोबारा आत्मन्वी होनेकी अर्थात् अन्तर्लीन अवस्थासे प्रकट होनेकी वृत्ति या स्पन्दन जैसा कुछ घटित हुवा दिखलाया जा रहा है. अर्थात् एकीभूत अवस्थामेंसे अनेकीभावापन्न होनेके स्पन्दनकी ओर संकेत किया जा रहा है. यों इस सृष्टिका क्रमिक चक्रमें पुनरांभ हुवा.

ब्रह्मांडके प्रकट होनेसे पहले उसके कहीं अन्तर्लीन होनेकी अवस्थाकोमनुस्मृतिकार 'मृत्यु' या 'भक्षित' होनेके कठोर शब्दमें निरूपित करनेके बजाय "न असद् आसीद् नो सद् आसीत्...तमः आसीत् तमसा गूढम्" (ऋक्संहि.१०।११।१२९।१-३) ऋचाका अवलंबनकर सुषुप्ति या तमस् अवस्थाके रूपमें निरूपित करना चाहते हैं : "आसीद् इदं तमोभूतम् अप्रज्ञातम् अलक्षणम् अप्रतर्क्यम् अविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः.

*दृष्ट. : तुलनीय : "ANTIMATTER-each particle of matter has a corresponding anti-particle. If they meet, they annihilate each other, leaving pure energy" THE GRAND DESIGN by Stephen Hawking ppp.183).

ततः स्वयम्भुः भगवान् अव्यक्तो... तमोनुदः... सो अभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुः... तद् अण्डम् अभवत् सहस्रांशुसमप्रभम्. तस्मिन् जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः... द्विधा भित्त्वा आत्मनो देहम्... विराजम् असृजत् प्रभुः" (मनुस्म.१।५-३२) अर्थात् यह पहले तमोभूत अप्रज्ञात किसी भी तरहके विशेष गुणोंके आधारपर परिभाषित न हो पानेवाला, अतएव अप्रतर्क्य, अतएव अविज्ञेय, अर्थात् प्रसुप्त होने जैसी किसी अवस्थामें था. बादमें उस तम या सुषुप्ति का अपहरण करनेवाले स्वयम्भू अव्यक्त भगवान् प्रकट हुवे. ऐसे उस भगवान्के शरीरमेंसे सहस्रांशु सूर्योपम अण्ड प्रकट हुवा. उसके भीतर सर्वलोकपितामह ब्रह्मा प्रकटे. ब्रह्माने अपने अपने शरीरको द्विधा विभक्त कर विराट्को सिरजा.

आधुनिक ब्रह्मांडविज्ञानको अभिमत ब्लैकहोल जैसी किसी अवस्थाका यहां निरूपण प्रतीत होता है. यह अधोनिर्दिष्ट प्रतिपादनके साथ तुलना करनेपर समझा जा सकता है :

"The star collapses under the pull of its gravity until nothing, not even light, can escape. It becomes a black hole... astronomers believe, of material being compressed and heated before it is sucked in".

(रीडर्स डाइजेस्ट् ग्रेट इलस्ट्रेटेड् डिक्शनरी पृ.१८८).

इस तरह मनुस्मृतिमें सृष्टिकी उसके लयाधारमें अन्तर्भुक्तावस्थाको सुषुप्ति और तमस् के रूपमें किञ्चित् क्रमान्तरपूर्वक वर्णित किया गया है. महाभारतमें तो 'ब्रह्मांड' पदका प्रयोग कण्ठतः कई स्थलोंमें उपलब्ध होता ही है. इसी तरह ब्रह्मांडपुराणमें भी "अण्डं हिरण्यं चैव ब्रह्मणः सूतिः उत्तमा" (ब्रह्मा.पुरा.१।१।१) ऐसा कह कर उस ब्रह्मांडकी सुषुप्तावस्थाको ब्राह्मिकी अवस्थाके रूपमें प्रस्थापित किया गया है—

“अव्यक्तं कारणं यत् तत् नित्यं सदसदात्मकं प्रधानं प्रकृतिं चैव यम् आहुः तत्त्वचिन्तकाः... ^१जगद्योनिं महाभूतं परं ब्रह्म सनातनं विग्रहं सर्वभूतानाम् अव्यक्तम्... अनाद्यन्तम् अजं सूक्ष्मं त्रिगुणं प्रभवाप्ययम् असाम्प्रतिकम् अज्ञेयं ब्रह्म यत् सदसत्परं, तस्य आत्मना सर्वम् इदं व्याप्तम् आसीत् तमोमयम्... बृहत्त्वाद् बृंहणत्वात् च भावानाम् अखिलाश्रयाद् यस्माद् बृंह्यते भावान् ब्रह्मा तेन निरुच्यते... बुध्यते पुरुषः च अत्र सर्वान् भावान् पृथक्-पृथक् तस्मिंस्तु कार्यकरणं संसिद्धं ब्रह्मणः पुरा... ^३सर्वे शरीरी प्रथमः पुरा ‘पुरुषः’ उच्यते. आदिकर्ता स भूतानां ब्रह्मा अग्रे समवर्तिनां हिरण्यगर्भः सो अण्डे अस्मिन् प्रादुर्भूतः चतुर्मुखः, सर्गे च प्रतिसर्गे च क्षेत्रज्ञो ब्रह्मसंमितः”.

(ब्रह्मा.पुरा.१।२।८-२६)

ब्रह्मांडपुराणकी इस प्रतिपादनशैलीमें सुषुप्ति या तमोऽवस्था में ब्रह्माण्डके पुनर्धनीभावकी प्रक्रिया ध्वनित हो रही है. उसके साथ उसके सर्ग और प्रतिसर्ग के भी उल्लेखके कारण, आधुनिक ^१द बिगबैंग थियरीकी जगह ^२दी ऑस्सिलेटिंग युनिवर्स थियरी के साथ यह प्रक्रिया प्रत्यासन्नतर लगती है. धैर्यपूर्वक, यदि कुछ विचारा जाये तो, ‘बिगबैंग’प्रक्रियाके अन्तर्गत ‘ऑस्सिलेशन’ होना आवश्यक नहीं परन्तु ऑस्सिलेशनकी प्रक्रियाके अन्तर्गत पुनः-पुनः सर्ग किसी प्रकारके बिगबैंगके साथ क्यों नहीं हो सकता? इसके अलावा यह ब्रह्माण्ड अखिल भावोंका आश्रयभूत है, ऐसा प्रतिपादन भगवद्गीताके ग्यारहमें अध्याय, नामशः, ‘विश्वरूपदर्शनयोग’ के वर्णनके साथ अधिक सुसंगत लगता है. अतएव ब्रह्माण्डमूर्ति नारायण और विराट् पुरुष के वर्णन एकदूजेके साथ पर्याप्त संनिकट प्रतिपादन लगते हैं.

बिगबैंग जैसी विविध प्रक्रिया या थियरी को ध्यानमें रखनेपर

आधुनिक विज्ञानचिन्तक, उदा. ‘द ग्रेड डिजाइन’ के लेखक स्टीफेन हॉकिंग कहते हैं:

“Strict realists often argue that the proof, that scientific theories represent reality, lies in their success. But different theories can successfully describe the same phenomenon through disparate conceptual framework.”

(पृ.सं.४४ वही)

अतः लगता है कि अब विज्ञानके आधुनिक चिन्तनके अनुसार कॉस्मोसके भीतर ही कहीं कुछ केओस् जैसा अन्तर्निहित है और उसी तरह ऐसे केओटिक युनिवर्सके भीतर भी कहीं एक कॉस्मोस् भी अन्तर्निहित है. उसे प्रस्तुत करनेवाली कोई न कोई ऑर्डरलीनेस उन-उन थियरीओंके अनुसार मिल जाती हैं और अनुभवपथमें भी आती ही हैं.

हमारे देशके दो वेदान्त-चिन्तनोंमेंसे एक चिन्तन अपारमार्थिक-मायिक-द्वैतवादको अन्तर्गर्भित रख कर पारमार्थिक ब्रह्माद्वैतवादके रूपमें भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यने प्रस्तावित किया. इस चिन्तनरीतिके अनुसार विश्वके बारेमें मानवमतिको उलझानेवाले प्रश्नोंका समाधान सदसद्विलक्षण अघटितघटनापटी-यसी माया या अविद्या के रूपमें खोजा गया है. जबकि पारमार्थिक लीलात्मक द्वैतवादको अन्तर्गर्भित रख कर पारमार्थिक ब्रह्मादात्म्यवादके पुरस्कर्ता महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ ऐसे परब्रह्म परमात्मा भगवान्की लीलाके रूपमें उसे अनुप्रस्थापित करना चाहते हैं. अतः इन दोनों मतोंके अनुसार सृष्टिप्रक्रियाकी व्याख्यामें इदमित्थंरूपेण कोई एक निश्चित प्रतिपादनशैलीमें बंधनेकी अनिवार्यता रह नहीं जाती है. अतएव मायावादाभिमत सृष्टिके बहुविध प्रकारोंके बारेमें सिद्धान्तलेशसंग्रहकार

कहते हैं “प्राचीनैः व्यवहारसिद्धविषयेषु आत्म्यैक्यसिद्धौ परां संनह्यद्भिः अनादरात् सरणयो नानाविधा दर्शिताः” (सि.ले.सं.२). उसी तरह महाप्रभु श्रीवल्लभ कहते हैं :

“एवं कदाचिद् भगवान् साक्षात् सर्वं करोति अजः, कदाचित् पुरुषद्वारा कदाचित् पुनः अन्यथा कदाचित् सर्वम् आत्मैव भवति इह जनार्दनः. महेन्द्रजालवत् सर्वं कदाचिद् मायया असृजत् तदा ज्ञानादयः सर्वे वार्तामात्रं न वस्तुतः, वियदादि जगत् सृष्ट्वा तदाविश्य द्विरूपतो जीवान्तर्यामिरूपेण क्रीडति स्म हरिः क्वचिद्. अचिन्त्यानन्तशक्तेः तद् यदेतद् उपपद्यते अतएव श्रुतौ भेदाः सृष्टेः उक्ताः हि अनेकधा”
(त.दी.नि.१।३६-४०).

दार्शनिकोंकी ऐसी रहस्यवादी वाणीके लिये आधुनिक विज्ञानके शैशवकालमें, ऐसी वाणीमें श्रद्धा न रखनेवालोंने, बड़ा बावेल मचाया था. उपेक्षा अस्वीकार से आरंभ कर उपहास पर्यन्त प्रतिक्रिया कुछ दशाब्दोंके पहले प्रकट की जाती थी. अभी भी आधुनिकविज्ञानको वैज्ञानिक मनोवृत्तिके बजाय श्रद्धातिरेकसे सुनने-माननेवाले लोग बहुधा उपहास करते रहते हैं. विज्ञान, परन्तु, अब स्वयं ही ऐसी वाणीमें मुखरित होने लगा है :

1. “After seeing physicists frustrated trying to solve this problem directly... This was Feynman’s trade-mark: not powerful mathematics, but powerful imagination, combined with physical understanding”.

2. “Model-dependent realism Short-circuit all this argument and discussion between the realist and

anti-realist schools of thought. According to model-dependent realism, it is pointless to ask whether a model is real, only whether it agrees with observation”.

(^१.लियोनार्द म्तोदिनोवलिखित फैनमेन्स रैनबो पृ.६१, ^२स्टीफेन् हॉकिंग लिखित द ग्रेड डिजाइन पृ.४४-४५).

आधुनिक ब्रह्मांडविज्ञान भी अब गणितशास्त्रीय इदमित्थंभावेन नहीं प्रत्युत ऊहापोहात्मिका कल्पनाओंके आधारपर ही तथा अपने अन्वेषणका एक वैचारिक मोडेल बना ब्रह्मांडको निरखने-परखनेकी बातें करने लगा है. ऐसी ही वाणीमें ‘युनिवर्स’ कहो या ‘कॉस्मोस’ कहो उसे निःसंकोच स्वीकारने भी लगा है. आधुनिक ब्रह्मांडविज्ञानकी ब्रह्मांडमीमांसा प्राचीन धर्म और दर्शन से इस दिशामें अग्रसरताको निहारना हो तो उल्लिखित ‘द ग्रेड डिजाइन’ के लेखक स्टीफेन् हॉकिंग जो सुस्पष्ट शब्दोंमें कह रहे हैं वह देख लेना चाहिये:

“...like particle, the universe doesn’t have just a single history, each with its own probability; and our observations of its current state affect its past and determine the different histories of the universe, just as the past observations of the particles...”

(वहीं पृ.८३).

अतः अब आधुनिक ब्रह्मांडविज्ञान भी ब्रह्मांडके बारेमें दार्शनिक अनिश्चित प्रतिपादनशैलीके याथार्थ्यिके प्रति अपनी उपेक्षा अस्वीकृति या उपहास की मनोवृत्तिको संयत कर पाया है. फलरूपेण ब्रह्मांडमीमांसामें निरत मानवमतिके इन चिरवृद्ध धर्म-दर्शनविभाग और नूतन यौवनोत्साहसे परिपूर्ण आधुनिकविज्ञान के विभागोंमें अब परस्पर संवाद उतना दुष्कर

नहीं रह जाना चाहिये. पहले कभी कैशोर्योन्मादवश जैसा मान लिया गया था !

आधुनिक ब्रह्मांडविज्ञान युनिवर्स या कॉस्मोस् को “The universe regarded as an orderly, harmonious whole” के रूपमें ही स्वीकारता हो ऐसा भी कह नहीं सकते. क्योंकि स्टीफेन् हॉकिंगके अनुसार तो द्रव्यकी चतुर्विध शक्तिओंमें निर्बलतम गुरुत्वाकर्षणशक्ति, द्रव्यकी प्रबलशक्तिओंमें एकतर विद्युच्चुम्बकीय शक्ति, परमाणुनाभिकगत दुर्बलशक्ति जो ब्रह्मांडकी आरम्भिक अवस्थामें द्रव्यसंघातके निर्माणमें प्रमुखहेतुतया अभिमत है; तथा परमाणुनाभिकगत प्रबलतमा शक्ति यह प्रोटोन और न्यूट्रोन को अन्योन्यधारण करनेमें और उन्हें परमाणुके नाभिप्रदेशमें धारण करनेमें हेतुभूता मानी जाती है. इन चारों शक्तिओंके एकीकरणकी (GUT) प्रक्रियामें भी एकाधिक प्रकार मान लेने उद्यत हैं (तत्रैव पृ.११०).

अतः ब्रह्मांड भी एक है या अनेक यह भी मीमांस्य विषय बन गया है. हमारा वैदिक साहित्य ब्रह्मांडनिरूपणमें ब्रह्मके एकत्व या एकमेवाद्वितीयत्व का ब्रती होनेके कारण आरम्भसे ही ब्रह्मांडैक्यवादके प्रति बहोत लगाव रख नहीं पाया.

इस मुद्देको छूनेसे पहले वेदों और उसके प्रतियोगी चिन्तनों के हिसाबसे जो सृष्टिप्रक्रिया वर्णित हुयी है, उनकी ओर दृष्टिपात कर लेना आवश्यक है.

सृष्टिके बारेमें, ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी धर्मोंद्वारा, प्रायः तीन प्रकारकी धारणायें प्रस्तुत हुयी हैं :

^१आदिमान्तिमसर्गादिवाद

^२सर्गनिरन्तर्यवाद

^३अ-सर्गवाद

^१इस धारणाके अनुसार यह विश्व परमेश्वर द्वारा निर्मित आदिम और अन्तिम सर्ग है. अर्थात् न तो इससे पहले कभी कोई सर्ग था और न इसके उपसंहरणके बाद कोई सर्ग होनेवाला है. अब्राहमिक, नामशः, यहूदी ईसाइ और इस्लाम धर्मोंकी परमेश्वरनिर्मित विश्वके सर्गके बारेमें ऐसी कुछ लोकप्रचलित धारणा है. ^२जो चिन्तक किसी परमेश्वरको जगत्सृष्टाके रूपमें मान्य नहीं रखना चाहते हैं, जैसे कि बौद्ध जैन कौमारिल आदि चिन्तक. उनके मतोंके अनुसार विश्वका सृजन न तो किसी एक निश्चित कालमें हुवा है और न किसी एक किसी निर्माता व्यक्तिके द्वारा यह विश्व निर्मित है. विश्व तो एक ऐसे निजोपादानरूप तत्त्वोंसे निर्मित है जो स्वतएव उत्पन्न और विनष्ट होते रहते हैं. ^३किसी भी उत्पत्तिशील पदार्थको स्वतः या परतः देश-कालविशेषमें उत्पन्न होनेकी आवश्यकता रह नहीं जाती, और जो पदार्थ स्वयं उत्पत्तिशील न हो उसे कोई उत्पन्न कर नहीं सकता है. अतः इस विश्वका वस्तुतः सृजन हुवा नहीं है फिरभी अपनी क्षुद्रमतिके वश उत्पत्ति-विनाशकी भ्रमणा हमें अवश्य सताती है. ऐसा मतवाद मूलमें शून्यवादी बौद्धों और बोद्धोंके बाद श्रीगोडपादाचार्य और भगवत्पाद श्रीशंकराचार्य जैसे समर्थ समर्थकोंद्वारा भारपूर्वक प्रस्तुत किया गया है.

यों ब्रह्मांडसर्गके बारेमें ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी धर्मों द्वारा प्रस्तावित तीन धारणाओंकी तरह आधुनिक ब्रह्मांडविज्ञान भी जैसी तीन-चार धारणा प्रस्तुत करता है उनका अवलोकन कर लेना चाहिये.

^१द बिगबैंग् थियरी

^२द ऑस्सिलेटिंग् / पल्सेटिंग् युनिवर्स थियरी

^३द स्टडी स्टेट् थियरी

अथवा तो
कन्टीन्यूअस् एक्स्पान्डिंग् युनिवर्स थियरी
‘द स्ट्रिंग् थियरी’.

‘इस थियरीके अनुसार आजसे करीब १३.७ खरब वर्षपूर्व अधुना दृश्य ब्रह्मांड केवल कुछ मिलिमिटर विस्तीर्ण पर अतीव सघन था. अपना भार न सम्हाल पानेके तथा अत्यधिक उष्णताके कारण वह फट कर इतना विस्तीर्ण हो गया. अतः अब इसका तापमान उतना उष्ण नहीं रह गया. फिरभी इसकी पूर्वकालिक अवस्थाको पृष्ठभागगत ब्रह्मांडीय माइक्रोवेव ऊर्जाके विकरणके रूपमें निहारा जा सकता है. यह कॉस्मिक एंग् स्वयंका भार झील न पानेके कारण केन्द्रसे ही फट पड़ा और उस विस्फोटके कारण उसमेंसे जो द्रव्य प्रकट हुवे उन्हींसे यह ब्रह्मांड निर्मित है. अतः अब नया कुछ भी इसमें उत्पन्न नहीं हो रहा है. ‘इस थियरीके अनुसार यह ब्रह्मांड संकोच-विकासशील होनेके कारण निरन्तर अपने केन्द्रकी ओर गुरुत्वाकर्षणशक्तिके वश घनीभूत होता रहता है और फिर फूट भी पड़ता है. और तब पदार्थ केन्द्रसे विपरीत चारों दिशाओंमें छितराने लगते हैं. बादमें शनैःशनैः जैसे वेग घटता जाता है, वैसे-वैसे केन्द्रापकृष्ट पदार्थ पुनः जब केन्द्रापकृष्ट होने लगते हैं तब पुनः केन्द्रकी ओर सिकुड़ना शुरू करते हैं. अतः ब्रह्मांडघटक द्रव्य न तो कभी उत्पन्न होते हैं और न कभी विनष्ट ही. फिरभी पुनः-पुनः संयोजित और वियोजित केवल होते रहते हैं. यों नित्य स्पन्दनशील यह ब्रह्मांड है. ‘इस थियरीके अनुसार समष्टिरूपेण यह ब्रह्मांड न तो कभी उत्पन्न हुवा और न कभी नष्ट होगा किन्तु व्यष्टिरूपेण इसमें द्रव्य निरन्तर उत्पन्न होता रहता है. और वह फैलता जाता होनेसे जो फैलनेके कारण शून्यावकाश जो पैदा होता है वह नूतन उत्पन्न द्रव्यसे भरता जाता है. यह निरन्तर चलती प्रक्रिया होनेके कारण किसी तरहके महाविस्फोटकी आवश्यकता नहीं है. क्योंकि इस ब्रह्मांडमें केन्द्रस्थानीय कुछ भी नहीं है. ‘इस अन्तिम थियरीके

अनुसार यह ब्रह्मांड अपने आतान-वितानात्मक तन्तुओंमें होते विविध स्पन्दनोंकी विविधरूपता प्रकट करता है. इन ब्रह्मांडघटक तन्तुओंमें लंबाई तो होती है परन्तु ऊंचाई या चौड़ाई कुछ भी नहीं होती. अतः इन ब्रह्मांडतन्तुओंमें प्रकट होते विविध स्पन्दनोंकी ही ब्रह्मांडघटक पदार्थोंके गुणधर्मोंके प्रभेदके हेतु बनते हैं (द्रष्ट. : लिओनार्द म्लोदिनोवकी ‘फेइनमैएन्स् रैनबॉ’ पृ.७०).

इस तरह एक ब्रह्मांडके बारेमें ऐसी अनेकविध धारणाओंमें एकवाक्यता सिद्ध न हो पाती हो; अथवा सभी धारणाओंको विभिन्न दृष्टिकोणोंसे निहारनेपर सभी सच्ची लगती हों, तत्तद्-दृष्टि-सापेक्षतया. परन्तु इन विविध मान्यताओंके रहते अपने वेदोंकी इस बारेमें क्या धारणा है उसकी मीमांसा करनेसे पहले दो बातें लक्ष्यमें रखने लायक लगती हैं. प्रथम तो यह कि हमारा वैदिक साहित्य दृश्यमान एकत्व या अनेकत्व के बारेमें यूनानके प्रसिद्ध दार्शनिक एरीस्टोटलके लॉज् ऑफ् थोट्स् ‘एकत्मतानियम’^१ अव्याघातनियम^२ मध्यकोटिपरिहारनियम को मान्य नहीं रखता है—

‘“एकएव अग्निः बहुधा समिद्धः, एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः, एकैव उषाः सर्वम् इदं विभाति, एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्”’.

‘“अजायमानो बहुधा विजायते”’.

‘“त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म... ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि नामानि... सर्वाणि रूपाणि... सर्वाणि कर्माणि बिभर्ति. तदेतत् त्रयं सद एकम् अयम् आत्मा, आत्मो एकः सन् एतत् त्रयम्”’.

‘सदेव, सौम्य!, इदम् अग्रे आसीद् एकमेवाद्वितीयं... तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय”’.

‘“एतदात्म्यम् इदं सर्वं तत् सत्यम्”’.

(^१ ऋक्संहि.८।५८।१०।२, ^२ यजुस्संहि.३।१।१६, ^३ बृह.उप.१।६।१-

३, ^१छान्दो.उप.६।२।१-३, ^२छान्दो.उप.६।६।७).

अतः जो एक हो वह अनेक नहीं हो सकता; अथवा तो जो अजायमान हो वह विजायमान हो नहीं सकता; अथवा तो भेद और अभेद के बीच, न भेद या न अभेद, ऐसा कुछ भी हो नहीं सकता, ऐसे तर्कनियमोंमें ब्रह्मप्रतिपादक वेदोपनिषद् बंधना नहीं चाहते हैं. क्योंकि दृश्यमान सकल यदि सत्यके साथ एतदात्मक हो तो उसे न भेद माना जा सकता है और न अभेद ही. यद्यपि उत्तरकालीन वेदान्तके विविध विविध सम्प्रदायोंके बीच द्वैत परमार्थ है या अद्वैत परमार्थ का मुद्दा प्रमुख एवं प्रखर विवादभूमि बन गया. पर वेदोपनिषद्के लिये तो —

^१“पुरुषएव इदं सर्वं, यद् भूतं यच्च भव्यम्, उत अमृतत्वस्य ईशानो यद् अन्नेन अतिरोहति. एतावान् अस्य महिमा अतो ज्यायाँश्च पुरुषः”

^२“सो अकामयत ‘बहु स्यां प्रजायेय’ इति... इदं सर्वम् असृजत यद् इदं किञ्च : सच्च त्यच्च अभवत्, निरुक्तञ्च अनिरुक्तञ्च, निलयनञ्च अनिलयनञ्च, विज्ञानञ्च अविज्ञानञ्च, सत्यञ्च अनृतञ्च सत्यम् अभवत्”.

^३“सर्वं खलु इदं ब्रह्म”.

(^१ऋक्संहि.१०।९०।१७, ^२२।६, ^३छान्दो.उप.३।१।४।१).

प्रकट-अप्रकट, वाच्य-अवाच्य, साधार-निराधार, विज्ञान-अविज्ञान और सत्य-अनृत सभी कुछ एकमेव अद्वितीय परमतत्त्वके द्वारा लिये गये विविध रूप होनेसे, द्वैत परमार्थ है या अद्वैत परमार्थ है? इसका झगड़ा वेदोपनिषदोंके लिये गम्भीर परामर्श करने लायक बात दीखती नहीं है.

इस स्पष्टीकरणके बाद अब यह सुखेन विचारा जा सकता है कि आधुनिक विज्ञानचिन्तकोंका जैसा कहना है कि किसी भी एक थियरीकी चौखटमें ब्रह्मांडके इतिहासको बांधा नहीं जा सकता, उस बारेमें अपना दृष्टिकोण क्या होना चाहिये? तदर्थ प्रवृत्त होनेपर सर्वप्रथम श्वेताश्वतरोपनिषद्द्वारा की गयी एक महत्त्वपूर्ण तथ्यकी घोषणा सुन लेनी चाहिये :

“कालः स्वभावः नियतिः यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुषः इति चिन्त्याः. संयोगः एषां नतु आत्मभावाद् आत्मापि अनीशः सुखदुःखहेतोः. ते ध्यानयोगानुगताः अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैः निगूढां, यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तानि अधितिष्ठति एकः”.

(श्वेता.उप.१।२).

इनमें परिगणित संभाव्य ब्रह्मांडके कारणीभूत तत्त्वोंमें जिसे जो स्वीकार कर ब्रह्मांडकी व्याख्या करनी हो वह वैसी कर सकता है क्योंकि वे सभी रूप ब्रह्मके हो सकते हैं. अतएव महाप्रभु वल्लभाचार्य कहते हैं :

“श्रुत्यादिभेदेषु नानाप्रकारेण प्रतिपादितत्वाद् अन्योन्यविरोधाद् न किञ्चित् प्रमाणं ब्रह्मणि भविष्यति इति आशंक्य आह ‘सर्ववादानवसरं नानावादानुरोधि तत्’ वस्तुतः श्रुतौ नानावाक्यानाम् एकवाक्ययता निरूपिता, सर्वभवनसामर्थ्येन विरुद्धधर्माश्रयत्वात्... एकैको वादो ब्रह्मणः एकैकधर्मप्रतिपादकवाक्यशेषइति भगवान् तान् सर्वानेव अनुसरति”.

(त.दी.नि.१।७०).

अर्थात् श्रुति-स्मृति-पुराण-तन्त्रागमोंमें नाना प्रकार सृष्टिकी उत्पत्ति

आदि प्रतिपादित मिलते हैं। अन्योन्यविरुद्ध जाते इन निरूपणोंमें कोई प्रामाणिक हो नहीं सकता ऐसा लगता है। समाधान, परन्तु, यह है कि ब्रह्म किसीभी वादकी चौखट फिट न बैठनेवाला और सभी वादोंके अनुरूप स्वरूप धारण करने समर्थ विरुद्धधर्माश्रय तत्त्व होनेसे किसी भी वादको सहसा अप्रामाणिक मान लेनेकी आवश्यकता नहीं है। प्रत्येक वाद ब्रह्मके ही किसी पक्षविशेषका आंशिक प्रतिपादक माना जा सकता है। इस आधारभूत स्पष्टीकरणको देख लेनेपर ब्रह्मांड एक है या अनेक यह विचार करने जायें तो उसके विस्तारके बारेमें भी दिशानिर्देश आवश्यक लगता है।

हमारा सौरमण्डल जिस आकाशगंगा या निहारिका की बाह्यपरिधिमें अवस्थित है, उसमें यह दृश्यमान सूर्य सर्वथा एक नगण्य तारा है। ऐसी तो अनेकानेक गेलेक्सीओंको एक-एक ब्रह्मांड मानें तो इस बारेमें किसी तरहके विचारको अवकाश नहीं रह जाता। जैसाकि लाइफ नेचुर लायब्रेरी द्वारा प्रकाशित 'द युनिवर्स' के लेखक डेविड बर्गामिनि कहते हैं कि एक अरब से ज्यादा संख्यामें गेलेक्सी तो सिर्फ मानवनिर्मित टेलीस्कोपसे दिखलायी देती हैं। अतः दिखलायी न देनेवाली तो न जाने कितनी गेलेक्सी होंगी! परन्तु जैसा अपने सौरमण्डलके सदस्य पृथ्वी आदि ग्रहोंका एक एक परिवार है, वैसा इन एक अरब अथवा तो एक हजार अरब गेलेक्सीओंका भी कोई परिवार न हो ऐसे पता कैसे लगाना! इस बारेमें निर्णायक मत अभी आधुनिकविज्ञान भी दे कहां पाया है? किसी भी सूरतमें असंख्य गेलेक्सीओंका पुनः कोई एक महा परिवार हो या न हो इसके निर्णयके बिना इनके केन्द्रका भी पता चल पाना कठिन समस्या है। इस विषयमें जो भी कुछ वास्तविकता हो ऐसा केन्द्र यदि हो तो उन गेलेक्सीओंको पुनः एक महाब्रह्मांडके रूपमें एकवद्भावापन्न मानना पड़ेगा! भागवतपुराण इस विषयमें ऐसा अभिप्राय प्रकट करता है :

“विकारैः सहितो युक्तैः विशेषादिभिः आवृतः आण्डकोशो बहिः अयं पञ्चाशतकोटिविस्तृतः दशोत्तराधिकैः यत्र प्रविष्टः परमाणुवत् लक्ष्यते अन्तर्गतः च अन्ये कोटिशो हि अण्डराशय तद् आहुः अक्षरं ब्रह्म ब्रह्म सर्वकारणकारणं विष्णोः धाम परं साक्षात् पुरुषस्य महात्मनः”.

(भाग.पुरा. ३।११।३७-४१).

इस वचनके आधारपर एक ब्रह्मांड होनेकी कमसे कम भागवतपुराणको तो अभिप्रेत नहीं लगती। अतः इन अनेक ब्रह्मांडोंका एक ही किसी व्याख्याके आधार ऋजुतम स्वरूप स्वीकार लेना बहुविध अनेकताका अनादर लगता है। अतएव महाप्रभु श्रीवल्लभ भागवतप्रतिपाद्य परमतत्त्वको 'कोटिब्रह्मांडविग्रहः' (पुरु.सह.ना.४।५०) कहते हैं।

निष्कर्षरूपेण ब्रह्मांडोत्पत्तिके बारेमें जो तीन : ^१आदिमान्तिमसर्गादिवाद ^२सर्गनैरन्तर्यवाद ^३अ-सर्गवाद की प्रक्रिया या थियरी ईश्वरवादी या अनीश्वरवादी धर्म-दर्शनों द्वारा प्रस्तावित की गयी हैं वे किसी एक ब्रह्मांडके हेतु सच्ची हों तब भी अथवा तो एक ही ब्रह्मांडको कोई विभिन्न दृष्टिकोणोंके अनुसार निरखना या परखना चाहता हो तो तब भी क्यों संभव नहीं? अनीश्वरवादी धर्मोंने जीवोंके कर्मवशात् अथवा स्वयं ब्रह्मांडघटक द्रव्योंके उत्पाद-ध्रौव्य-व्यय-शील होनेके कारण अथवा तो प्रतीत्यसमुत्पादवादमूलक संघातवादका सहारा ले कर सर्गनैरन्तर्यवाद ब्रह्मांडोत्पत्तिके बारेमें सृष्टिनिर्माताकी अनिवार्यता न रह जाय ऐसे प्रयोजनवश प्रस्तुत किया है। पर जैसा कि हम देख चुके कि “तदा संहत्य च अन्योन्यं भगवच्छक्तिचोदिताः सदसत्त्वम् उपादाय च उभयं समृजुः... वर्षपूगसहस्रान्ते तद् अण्डं... कालकर्मस्वभावस्थो जीवो अजीवम् अजीवयत्. सएव पुरुषः तस्माद् अण्डं निर्भिद्य निर्गतः” (भाग.पुरा. २।५।३३-३५) इस वचनमें स्वयं भागवतपुराण सृष्टिके उपादानभूत द्रव्योंके अन्योन्यसंघातकी प्रक्रिया भी स्वीकारता तो है ही, ब्रह्मकी उपादानता और भगवान्की

जगत्कर्तृता के साथ-साथ ही. अतः ब्रह्मवादके अन्तर्गत प्रतीत्यसमुत्पादको भी सर्वथा अप्रसक्त तो माना नहीं जा सकता.

उसी तरह अ-सर्गवादकी प्रक्रिया भी स्वयंसे भिन्न कार्यको उत्पन्न नहीं किया गया एतावता भिन्न कार्यरूप ब्रह्मांडके सृजनको मिथ्या भ्रम यदि माननेमें आता हो तो वह भी, श्रौत ब्रह्मवादके आधारपर मान्य किया जा सकता है! अतएव भागवतपुराणका एक वचन इस प्रसंगमें आवश्यकतया अनुसन्धेय है :

“आसीज् ज्ञानम् अथोहि अर्थः एकमेव अविकल्पितं...
तद् मायाफलरूपेण केवलं निर्विकल्पितं वाङ्मनोऽगोचरं सत्यं
द्विधा समभवद् बृहत्. तयोः एकतरोहि अर्थः प्रकृतिः सा
उभयात्मिका ज्ञानन्तु अन्यतमो भावः पुरुषः सो अभिधीयते.
तमो रजो सत्त्वम् इति प्रकृतेः अभवन् गुणाः”.

(भाग.पुरा.११।२४।२-५).

इस वचनमें यह देखा जा सकता है कि भागवतपुराणके अनुसार ज्ञान और ज्ञेय सृष्टिके प्राकट्यसे दो पदार्थ न हो कर एक अविकल्पित अद्वितीय पदार्थ थे. ऐसी स्थितिमें कोई एकमेवाद्वितीय तत्त्व ही ज्ञान-ज्ञेयोंके द्विविध विकल्पात्मना विभक्त हुआ और बादमें ज्ञेयतत्त्व त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके रूपमें प्रकट हुआ और ज्ञानतत्त्व पुरुषात्मना प्रकट हुआ. आधुनिकविज्ञानाश्रित चिन्तनमें बट्रेड् रसेल् ऐसा ही कुछ न्यूट्रल मोनीज़म् प्रस्तावित करना चाहते थे. एतावता दृश्य या ज्ञेय जगत्को अपारमार्थिक मान कर ज्ञानाद्वितीयतावादको भागवताभिप्रेत माना नहीं जा सकता क्योंकि इस सृष्टिप्राक्कालिक ज्ञान-ज्ञेयकी अविकल्परूपताका स्वरूप भागवतके द्वितीय स्कन्धमें :

“तस्मै नमो भगवते वासुदेवाय धीमहि यन्मायया दुर्जयया

मां ब्रुवन्ति जगद्गुरुं, विलज्जमानया यस्य स्थातुम् ईक्षापथे
अमुया... द्रव्यं कर्म च कालः च स्वभावो जीवएव च
वासुदेवात् परो ब्रह्मन् नच अन्यो अर्थो अस्ति तत्त्वतः...
तस्यापि द्रष्टुः ईशस्य कूटस्थस्य अखिलात्मनः सृज्यं सृजामि
सृष्टो अहम् ईक्षयैव अभिचोदितः. सत्त्वं रजः तमः इति
निर्गुणस्य गुणाः त्रय स्थितिसर्गनिरोधेषु गृहीता मायया विभोः”.

(भाग.पुरा.२।५।११-१८).

इस वचनकी एकादशस्कन्धीय वचनके साथ एकवाक्यता साधनेपर जिस मायाके कारण उस एकमेवाद्वितीय तत्त्वका ज्ञेय-ज्ञानके द्वैतघटित विकल्पके रूपमें विभाजन हुआ उसे स्वरूपतो निरस्त मान कर भी उन्हीं द्रव्य-कर्म-काल-स्वभाव-जीवका तत्त्वतः वासुदेवरूप होना प्रतिपादित किया गया है. अतः सृष्टिघटक इन दृश्यभूत तत्त्वोंके रूपोंमें कूटस्थ परमद्रष्टाका आत्मसंकल्पवशात् प्रकट होना प्रतिपादित किया गया है. न केवल इतना किन्तु इस प्रतिपादनके बाद आते विराजके निरूपणमें इसी तरह तृतीयस्कन्धके भी ८वें अध्यायमें भी “आयामतो विस्तरतः स्वमानदेहेन लोकत्रयसंग्रहेण” (भाग.पुरा.३।८।२५) वचनमें सृष्टिके प्राकट्यसे पूर्व विश्वरूप ब्रह्माजीको दर्साया गया. एतावता ज्ञानाद्वितीयतावादके अनुसार अपारमार्थिक होनेकी प्रमुख शर्त जो “नासीद् नास्ति न भविष्यति” है अर्थात् स्वप्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगिता रूपा मानी गयी है उसके विपरीत सृष्टिसे पूर्व भी अविकल्पतया सृज्यमान नाम-रूप-कर्मोंकी अव्यक्त सत्ता मान्य की होनेसे आत्मभिन्न सर्ग न हो कर स्वात्मक सर्गके निर्माणमें उसे अतदात्मक मानना मायाकार्य लगता है नकि स्वरूपतः द्रष्टा और दृश्य के दोनों या दोनोंमें से एकतरकी अपारमार्थिकता स्वीकारी जा सकती है.

यह अ-सर्गवादके वेदान्तप्रस्थानमें समर्थ उद्घोषक भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यके, यद्यपि आधुनिक विद्वान् मान्य करते हों या न करते

हों परम्परया मान्य ऐसे, 'प्रबोधसुधाकर' नामक ग्रन्थमें उपलब्ध होते —

“ब्रह्माण्डानि बहूनि पंकजभवान् प्रत्यण्डम् अत्यद्भुतान्
गोपान् वत्सयुतान् अदर्शयद् अजं विष्णून् अशेषान् च यः
शम्भुः यच्चरणोदकं स्वशिरसा धत्ते स मूर्तित्रयात् कृष्णो
वै पृथग् अस्ति कोऽपि अविकृतः सच्चिन्मयो निलिमा”.
(प्रबो.सुधा.आनु.प्रक.२४२).

इस वचनद्वारा भी यही तथ्य समर्थित होता है. अतः असर्गवाद भी ब्रह्मवादके अन्तर्गत एकान्तिकतया अस्वीकार्य नहीं होता परन्तु ब्रह्मको पारमार्थिक और माया-अविद्याको अपारमार्थिक माननेपर औपनिषदिक अभिप्रायके सन्दर्भमें अंशतो अमान्य करना पड़ता है. फिरभी, जैसाकि स्टीफेन् हॉकिंग कहते हैं कि ऑब्जर्वर् और ऑब्जर्वे दोनों ही ब्रह्मांडके अंश हैं दोनोंका वास्तविक अस्तित्व है और जो दोनोंके बीच प्रभेद दिखलायी देता है उसका कोई सार्थक महत्त्व नहीं है (द्रष्ट. : वहीं पृ.४३) तदनुसार द्रष्टा-दृश्य या ज्ञान-ज्ञेय के बीच ऐकान्तिक द्वैतकी भ्रान्तिसिद्ध धारणाके सन्दर्भमें असर्गवाद अमान्य किया जाना आवश्यक नहीं है. क्योंकि उपनिषद् तो बहुत पहले ही कह चुके हैं कि “कथम् असत्तः सद् जायेत? इति सत्त्वेव इदम् अग्रे आसीद् एकमेव अद्वितीयं तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय इति” (छान्दो.उप.६।२।२-३) यहां सुस्पष्ट शब्दोंमें न केवल वर्तमानमें प्रत्युत सृष्टिसे पूर्व भी सत्ता कण्ठतः घोषित की गयी है.

आदिमान्तिमसर्गवाद भी किसी एक ब्रह्मांडके सन्दर्भमें शक्य मान लेनेमें आपत्तिजनक कोई बात लगती नहीं है.

इसी तरह आधुनिक ब्रह्मांडविज्ञानके द्वारा उत्प्रेक्षित जो चार थियरी प्रस्तुत की गयी हैं, नामशः : ^१द बिगबैंग थियरी ^२द ऑस्सिलेटिंग

युनिवर्स थियरी ^३द स्टडी स्टेड् थियरी अथवा तो कन्टीन्यूअस् एक्स्पांडिंग युनिवर्स थियरी ^४द स्ट्रिंग् थियरी. इनमें अधिकांश चिन्तक ^५सर्गनैरन्तर्यवाद और उसकी सहधर्मी ^३द स्टडी स्टेड् थियरी अथवा तो कन्टीन्यूअस् एक्स्पांडिंग युनिवर्स थियरी को अब अमान्य कर चुके हैं.

कथमपि इन थियरीओंके कारण श्रौत-औपनिषदिक ब्रह्मवादके सिद्धान्तका निराकरण हो जाता हो ऐसा मान लेनेकी कोई अपरिहार्य धारणा प्रस्तुत हो नहीं पायी है. क्योंकि किसी एक एक ब्रह्मांडका सृजन इनमेंसे किसी एक थियरीके अनुसार हुवा हो उसमें अनन्तकोटि ब्रह्मांडके उपादानभूत ब्रह्मके निरस्त होनेका प्रश्न कहां उठता है?

भागवतपुराणके पूर्वमें उद्धृत वचनमें कहा ही गया है कि “द्रव्यं कर्म च कालः च स्वभावो जीवएव च वासुदेवात् परो, ब्रह्मन्!, न च अन्यो अर्थो अस्ति तत्त्वतः” (भाग.पुरा.२।५।१४) अब ये पांचों तत्त्व परस्पर भिन्न होनेपर भी वासुदेवसे भिन्न न हों तो उस वासुदेवको साक्षाद् ब्रह्मांडका उपादान मानो या इन पांचोंके संघात या अन्यतम को उपादान मानों ब्रह्मांडकी उत्पत्तिमें कारणभूत पदार्थको किसी विशेष गुणधर्मके रूपमें देखने कहने या प्रस्तुत करनेकी शैलीमें ही अन्तर पड़ रहा है कार्यरूप ब्रह्मांड और उसके अंगीकृत कारणतत्त्व के स्वरूप में नहीं.

किसी भी तरह विचार करनेपर आधुनिक ब्रह्मांडविज्ञानद्वारा प्रस्तावित काल (Time), कर्म (Motion), स्वभाव (Energy), प्रकृति=द्रव्य (Matter), और पुरुष(The inherent awareness of the direction of evolution of matter or inherent design) इन पांचों पदार्थोंमें से आधुनिक ब्रह्मांडविज्ञानको अमान्य हो तो वह पुरुषरूप चेतना पदार्थ ही है. भागवतपुराण इस विषयमें एक अतीव मननीय विधान करता है “प्रकृतिः पुरुषः च उभौ यद्यपि आत्मविलक्षणौ अन्योन्यापाश्रयात्,

कृष्ण!, दृश्यते न भिदा तयोः, प्रकृतौ लक्ष्यते हि आत्मा प्रकृतिः च तथा आत्मनि” (भाग.पुरा.१.१।२२।२६). अतः दोनों तत्त्व पृथक् हों तब भी एकवद् भासित होते हैं. यह हकीकत तो भागवतपुराणको सर्वथा मान्य ही है. परन्तु अचेतन द्रव्योंके विकासकी शृंखलामें किसी भी प्रकारकी, एकान्तिकतया नियत अथवा अनैकान्तिकतया अनेक सम्भाव्यताओंमें एक सम्भाव्यताके रूपमें ही योजनाबद्धता हो ही नहीं सकती ऐसा तो आधुनिक ब्रह्मांडविज्ञान भी कह नहीं पायेगा. अतः अन्तमें झगड़ा तब केवल नामोंका और उन-उन धारणाओंके उत्सतया शास्त्रश्रद्धाको आधार मानना या ब्रह्मांड और उसके घटक द्रव्योंके वैज्ञानिक परीक्षण-निरीक्षण के हेतु किये जाते एक ऊहके रूपमें मान्य रखना इतना ही तो रह जाता है! अतः इस विषयमें थोड़ी प्रतीक्षा तो भागवतदृष्टिको भी करनी ही पड़ेगी कि कब आधुनिक ब्रह्मांडविज्ञानको उसे अभिमत पुरुषकी अनिवार्यता अनुभूत होगी! किसी भी परिस्थितिमें पांच न मान कर चार तत्त्व भी स्वीकार लें पर उन तत्त्वोंका परस्परसापेक्ष होना उनकी किसी न किसी प्रकारकी एकताकी ओर इशारा करता है.

सकल ब्रह्मांडोंके विषयमें जो हठात् ऐसा स्वीकार किया जाता न हो तो अब्राह्मिकी विश्वसृजनप्रक्रिया, नामशः, आदिमान्तिमसर्गवाद भी किसी एक ब्रह्मांडके विशेष उदाहरणमें सच्ची प्रक्रियाके रूपमें मान्य की जा सकती है. मूलमें श्रौतदृष्टिसे निहारनेपर ^१कॉस्मिक एगमें महाविस्फोट प्रक्रिया ^२निरन्तर उत्पत्ति-विनाशशाली स्पन्दनकी प्रक्रिया ^३सृष्टिघटक तन्तुओंमें उत्पत्ति-विनाशके रूपमें अवभासित होते स्पन्दनकी प्रक्रिया परस्पर पर्याप्त प्रत्यासन्न धारणायें हैं. सर्वथा असर्गवाद और सर्गनैरन्तर्यवाद कुछ दूरतर अवस्थित अवधारणायें हैं. फिरभी सर्गनैरन्तर्यवादके सन्दर्भमें यह एक वचन भागवतपुराणका उल्लेखनीय लगता है “नित्यदा सर्वभूतां ब्रह्मादीनां... उत्पत्तिप्रलयौ एके सूक्ष्मज्ञाः सम्प्रचक्षते. कालस्रोतो जवेन आशु ह्रियमाणस्य नित्यदा, परिणामिनाम् अवस्थाः ताः जन्मप्रलयहेतवः”

(भाग.पुरा.१.२।४।३५-३६) अतः सर्गनैरन्तर्यवाद सृष्टिविधाताके अस्तित्वको नकारनेको प्रस्तुत हुवा सिद्धान्त होनेपर भी श्रौत ब्रह्मवादके ऑपन् एअर् थियेटर्में अपनी सीट रिजर्व करा कर लीला निरखना चाहता हो तो उसे बहिष्कृत करनेकी कोई आवश्यकता होनी तो नहीं चाहिये!

आप्यायन्तु मम अंगानि वाक् प्राणः चक्षुः श्रोत्रम्
अथो बलम् इन्द्रियाणि सर्वाणि सर्वं ब्रह्मोपनिषदम्
मा अहं ब्रह्म निराकुर्यां मा-मा ब्रह्म निराकरोद्!
अनिराकरणं मे अस्तु!^१ तद् आत्मनि निरते
ये उपनिषत्सु धर्माः ते मयि सन्तु! ते मयि सन्तु!!



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

॥१६॥ वाल्लभ वेदान्तमें चेतनावबोधके विविध प्रतिमान या स्तर ॥

एक ही अग्निका अनेक देवोंके रूपमें यागार्थ आधान किया जाता है, एक ही सूर्य सारे जगत्को प्रकाशदान द्वारा तत्तत् कर्मार्थ समर्थ प्रेरक बन जाता है, अकेली उषाके ही कारण रात्रीकी समाप्तिपर सब कुछ अवभासित होने लग जाता है, ऐसे एक ही तत्त्व यहां सब कुछ बना है (ऋक्संहि. ८।५८।१०)।

एक ज्ञान और दूसरा ज्ञेयार्थ के द्वैतका विकल्प पहले नहीं था... वह तो केवल निर्विकल्प वाङ्मनो-अगोचर था. वह बृहत् सत्य सर्वभवनसामर्थ्यरूपा मायाद्वारा ज्ञान और ज्ञेयार्थ रूपी दो भागोंमें बंट गया. तब एकतर अर्थ कार्य-कारण-उभयात्मिका प्रकृति बनी और अन्यतम भाग 'पुरुष' पदसे अभिहित हुवा. तब पुरुषकी रुझान और मेरे द्वारा प्रक्षोभ प्रकट किये जानेपर तमस् रजस् सत्त्व ऐसे तीन गुणोंवाली प्रकृति बन गयी... इस परिदृश्यमान प्रपंचका उपादान यह ऐसी प्रकृति बनती है. प्रकृतिसे पर ऐसा पुरुष उसके आधारतया अवस्थित हो जाता है. जो विद्यमान होनेपर भी अभिव्यक्त न हो उसका अभिव्यंजक काल बनता है. मैं, परन्तु, इन तीनोंरूपोंमें सर्वसमान ब्रह्म हूं. और इस तरह पौर्वापर्यभावसे नित्यशः सृष्टि प्रवर्तित होती रहती है (भाग.पुरा. ११।२४।२-२०)।

(१. औपमक्रमिक ब्रह्माद्वैत)

अनेक विद्वानोंके हृदयमें एक धारणा दृढ़तया समारूढ़ सी लगती है. वह यह कि ब्रह्मवादी श्रौत चिन्तनमें द्रष्टृदृश्यात्मक द्वैतघटित प्रपंच

एक अविकृत ब्रह्मकी आत्मकृति या आत्मपरिणति है तथा शून्यवादी बौद्ध चिन्तनमें द्रष्टृदृश्यात्मक द्वैतघटित प्रपंच शून्यमें प्रकट होता निरात्मक-निर्द्रव्यात्मक संघात या प्रतीत्यसमुत्पाद है. अतः ये दोनों चिन्तनसम्प्रदाय सर्वथा उत्तर-दक्षिणरूप दो ध्रुवोंकी तरह परस्पर न केवल एकान्तिकतया भिन्न अपितु इतरेतरविरोधी भी हैं. वैसे यह तो तथ्य है कि कालक्रममें इन दोनों चिन्तनोंकी विकासरेखा विभिन्न दिशाओंमें अग्रसर हो जानेके कारण इतरेतरविरुद्ध हो गयी. फिरभी सर्वब्रह्मतावाद और सर्वशून्यतावाद के आद्यन्त स्वरूपोंके विमर्श करनेपर, इन्हीं दोनों चिन्तनसम्प्रदायोंके बीच भी, किसी तरहकी कुछ विलक्षण एकसूत्रता भी प्रकट होती ही है. इस तथ्यपर दुर्लक्ष्य नहीं करना चाहिये.

इस आलेखपत्रके प्रथम विषयवाक्यतया उपर्युद्धत ऋक्संहिताके वचनमें एकके अनेकभावापन्न होनेका तथ्य जो घोषित किया गया है, उसका अवलोकन करनेपर इस विषयमें ब्रह्मवाद और शून्यवाद के बीच सृष्टिकी उत्पत्तिके प्रतिमानके बारेमें परस्पर गंभीर वैमत्य कहां सिद्ध होता है? शून्यके स्वरूपको समझाते हुवे, क्योंकि, सुस्पष्ट शब्दोंमें यह कहा गया है “अपरप्रत्ययं शान्तं प्रपञ्चैः अप्रपञ्चितं निर्विकल्पम् अनानार्थम् एतत् तत्त्वस्य लक्षणम्”-“यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्महे...” (मध्यमकशास्त्र. १८।९, २४।१८). इस सन्दर्भमें सृष्टिघटक जड़प्रकृति, चेतनपुरुष और काल यों के तीनोंके प्रतीत्यसमुत्पादवश प्रकट होता विश्वसंघात या विश्वसमष्टि मूलतः इस अर्थमें शून्य है कि वह स्वप्रकाश शान्त निर्विकल्प नानात्वरहित अद्वैत ही है. अतः श्रौत दर्शनमें भी तो ऐसे ब्रह्मसे ब्रह्मात्मक प्रपंच प्रकट हुवा है. अतः दोनों चिन्तनसम्प्रदायोंके बीच कार्य-कारणकी एकात्मकताके बारेमें अन्तर कहां है? मूलतत्त्वकी शून्यताकी तरह प्रतीत्यसमुत्पाद भी शून्यता ही है.

बौद्ध शून्य चतुष्कोटिविनिर्मुक्त है तथा ज्ञानरूप ब्रह्मसे पृथक्

है. अज्ञानरूपा माया सदसद्विलक्षण तमोनी कोटियोंसे विनिर्मुक्त और ब्रह्म सन्मात्र है ऐसे प्रभेदके वश बहुधा शांकर वेदान्ती “नासदासीद् नो सदासीद्... आनीद् अवातं स्वधया तद् एकं तस्माद् ह अन्यन् न परः किञ्चन आस. तमः आसीत् तमसा गूढम् अग्रे. अप्रकेतं सलिलम् सर्वम् आ इदं तुच्छयेन आभु अपिहितं यद् आसीत्, तपसा तद् महिना अजायत एकम्” (ऋक्संहि.१.०।१।१।२९।१-३) इस श्रुतिवचनमें स्वमताभिप्रेत स्वयंप्रकाश ब्रह्मसे भिन्न सदसद्विलक्षण तमोरूपा मायाका प्रतिपादन स्वीकारते हैं.

मूलतः तब वह सदसद्विलक्षण तमोरूपा माया थी या स्वयंप्रकाशरूप स्वयं ब्रह्म ही था? इस जिज्ञासाके समाधानार्थ “तस्माद् अन्यद् न परः किञ्चन आस तुच्छयेन तमसा गूढम् अपिहितम् आसीत्” पदावलीके अवलोकन करनेपर सदसद्वैलक्षण्य, सत्त्वासत्त्वादितसे अनिर्वचनीय होनेके अर्थके बजाय, प्रकटाप्रकटतया अवाच्य अतर्क्य होनेके अर्थमें प्रयुक्त हुवा, अधिक उपपन्न होता है. क्योंकि “यदा तमः तत्र दिवा न रात्रीः न सन् न च असन् च शिवएव केवलः”, “अनादिमत् परं ब्रह्म न सत् तद् न असद् उच्यते”-“...शुद्धं समं सद-असतः परम् आत्मतत्त्वं, शब्दो न यत्र पुरुकारकवान् क्रियार्थो, माया परेति अभिमुखे...”-“संसुप्तवत् शून्यवद् अप्रतर्क्यम् तद् मूलभूतं पदम्”(श्वेता.उप.४।१८, भग.गीता.१३।१३, भाग.पुरा.२।७।४७,१२।४।२१) इन उपनिषद्-गीता-भागवतके वचनदर्पणोंमें ऋक्संहिताके वचनका प्रतिबिम्ब निहार कर संवादित करनेपर क्रिया-कारकव्यापारहीनतया सदसत्त्वेन अवाच्य अतर्क्य अनादि-अनन्त शिव आभु आत्मरूप ब्रह्म ही वचनाभिप्रेत लगता है नकि माया. और तब उसका योगनिद्रा (MetaphysicalHybernation)रूप तमसे आवृत होना ही अधिक स्वारसिक अर्थ लगता है. अतएव महाप्रभु वल्लभाचार्य भी स्वोपज्ञ निबन्धप्रकाशमें ब्रह्मके अनेक अभिधानोंके अन्तर्गत “‘ब्रह्म’‘कूटस्थ’‘अव्यक्ता’दि शब्दैः... ‘आदि’शब्देन ‘असत्’-‘तमः’शब्दादयो गृह्यन्ते” (त.दी.नि.२।१००) ऐसा अंगीकार भी करते

ही हैं. अन्यथा तो “इस सदसद्विलक्षणसे पर अन्य कुछ भी नहीं था” ऐसा श्रौत निषेध अन्तमें ब्रह्मनिषेधमें ही पर्यवसित होने लगेगा! “उसने अपने तपद्वारा सृष्टि प्रकट की” यह विधान भी अन्यान्य उपनिषदोंके वचनोंसे संवादित करनेपर निःसंदेह ब्रह्मपरक होनेकी ही गवाही देता है. माया अथवा अविद्या तो तप या संकल्प द्वारा नहीं प्रत्युत स्वभाववश ही सृष्टि प्रकट कर सकती हैं. यह तो भगवत्पाद श्रीशंकराचार्य भी अंगीकार करते हैं “यदि तार्किकसमयइव वेदान्तेष्वपि भिन्ना कारणावगतिः अभविष्यत् क्वचित् चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं क्वचिद् अचेतनं... नतु एतद् अस्ति समानैव हि सर्वेषु वेदान्तेषु चेतनकारणावगतिः” (ब्र.सू.भा.१।१।१०). अन्यथा चेतनतया अज्ञान या अविद्या को भी आत्मरूप ही मानना अपरिहार्य बन जायेगा. ऐसी स्थितिमें बौद्ध शून्य और औपदिषद् ब्रह्म के बीच मूलतः कुछ न कुछ एकरूपता भी दृष्टिगत होने लगती ही है. त.दी.नि.पर आवरणभंगके व्याख्याकार ब्रह्मके सर्ववादानुसरणशील स्वरूपकी अपरिच्छिन्नता “एष ह्येव शून्यः, एष ह्येव तुच्छ, एष ह्येव अभाव, एष ह्येव अव्यक्तो अदृश्यो अचिन्त्यो निर्गुणः च” वचनद्वारा दर्साते भी हैं ही.

हां एक उल्लेखनीय अन्तर शून्य और ब्रह्म के बीच इतना सा अवश्य लगता है कि बौद्ध दर्शनमें सर्वदृष्टिप्रहाणार्थ शून्यताका उपदेश साधनावस्थ साधकको उद्देश्य बना कर दिया गया है. साथ ही साथ शून्यतामें चित्तका समाधिस्थ होना भी बौद्ध साधनामें उतना ही उपादेय माना गया है. श्रौतादि शास्त्रोंमें, जबकि, शून्योपम निर्विकल्पक ब्राह्मिक समाधि तो साधक-चेतनाकी सिद्धावस्थाकी कथा है, ब्रह्मके एकान्तिक स्वरूपकी नहीं. क्योंकि वह समाधिस्थचेतनाके अनुरूप भी है और उससे अतीत भी. वस्तुतः वह सर्वरूप भी है और सर्वातीत भी :

“अथ यदा अस्य वाङ् मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे

प्राणः तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम् अथ न जानाति”.

“भाववृत्त्या हि भावत्वं शून्यवृत्त्या हि शून्यता ब्रह्मवृत्त्या हि पूर्णत्वं तथा पूर्णत्वम् अभ्यसेत्”.

“सम आसन आसीनः समकायो यथासुखं... तत्र लब्धपदं चित्तम् आकृष्य व्योम्नि धारयेत्. तच्च त्यक्त्वा मदारोहो न किञ्चिदपि चिन्तयेत्”.

(छान्दो.उप.६।१५।३, तेजोबि.उप.१।४२, भाग.पुरा.१।१।४।३-३२-४४).

अतः एकके अनेकभावापन्न होनेके दो ध्रुवोपम चिन्तनोंके मध्यपाती—एकान्तिकतया एकत्ववादी या एकान्तिकतया अनेकत्ववादी; अथवा तो अनेकान्तवादी भी—जो चिन्तन प्रस्तावित हुवे हैं, उनके प्रभेदोंको, इस सन्दर्भमें, कमसे कम बहोत गम्भीरतया लेना आवश्यक नहीं लगता. क्योंकि ऐसे चिन्तन या तो तत्त्वके मौलिक स्वरूपके बारेमें आग्रहित धारणायें हैं; अथवा तो, उस मौलिक एकत्वके सृष्टिके रूपमें अनेकभावापन्न हो जानेके बादवाले स्वरूपोंके बारेमें आग्रहित अभिमति प्रकट करते हैं.

अतः माण्डूक्यकारिकाकार और उसके भाष्यकार श्रीगौड़पाद तथा भगवत्पाद शंकराचार्य के शब्दोंमें कहना हो तो कहा जा सकता है कि “अपने-अपने सिद्धान्तोंकी व्यवस्थाके बारेमें द्वैतवादी निश्चित दृढ़ विरोधिताका भाव परस्पर प्रकट करते हैं. यह अद्वैतवादी अवधारणा परन्तु उनका विरोध करना नहीं चाहती ^{(कारिका)*}, परस्पर विरोधियोंके साथ अपना यह आत्मैकत्ववादी वैदिक दर्शनपक्ष सभीसे अनन्य होनेके कारण विरुद्ध नहीं जैसे अपने हस्तपादादि अंग” ^{(भाष्य)*} (माण्डु.उप.कारि.भा. - ३।१७).

भागवतमहापुराणसे उपर्युद्धत द्वितीय विषयवाक्यमें “मैं, परन्तु,

इन तीनोंरूपोंमें सर्वसमान ब्रह्म हूँ” इस वाक्यांशमें प्रकृति-पुरुष-कालके संघातद्वारा प्रतीत्यसमुत्पादन्यायेन प्रकट होते कार्य-कारणरूप प्रपंचकी अविकृतब्रह्मात्मकता तो कण्ठोक्त है. फिरभी नाम-रूप-कर्मन्तरणरूपा इस सृष्टिमें वह परम तत्त्व, अपने मौलिक अखण्ड सच्चिदानन्दैकरस, देश-काल-स्वरूपतः अपरिच्छिन्न स्वरूपमें प्रकट होनेके बजाय देश-काल-स्वरूपतः परिच्छिन्न नाम-रूप-कर्मके रूपमें प्रकट होता है. यह “तब यह अव्याकृत था, इसका नामरूपात्मना व्याकरण हुवा है. इसका ‘यह नाम’ इसका ‘यह रूप’ हो... वह यहां नखशिख प्रविष्ट हुवा, जैसे ध्यानमें रखी हुयी तलवार... दिखलायी देती है” (बृह.उप.१।४।७) अतः जो कुछ प्रकट हुवा है वह तो प्रकृति पुरुष और काल के मिलेजुले नाम-रूप-कर्म ही हैं. इस नाम-रूप-कर्मोत्तिका सृष्टिके बारेमें अतएव उपनिषद्का यह विधान भी नितान्त अवधेय है कि “ये नाम रूप कर्म तीन हैं...ब्रह्म इन सभी नामोंको... रूपोंको... कर्मोंको धारण करता है. ये तीन होनेपर भी आत्माके रूपमें एक और आत्मा एक होनेपर भी इन तीनों रूपोंमें प्रकट है” (बृह.उप.१।६।१-३).

अतएव वाल्लभ वेदान्तमें “रूपसृष्टिकी अपेक्षा नामसृष्टि विलक्षण होती है : रूपसृष्टि अन्तवती होती है जबकि नामसृष्टि अनन्त, रूपसृष्टि स्थूल होती है जबकि नामसृष्टि सूक्ष्म, रूपसृष्टि विकृत होती है जबकि नामसृष्टि कूटस्थ अविकृत, रूपसृष्टि जड़रूपा जबकि नामसृष्टि बोधरूपा होती है” (भाग.सुबो.१।०।१३।४३). इन दोनोंके बीच रहा जड़-चेतनाका ऐसा प्रभेद जब दिखलाया जाता है, तब तो दोनोंके बीच आत्यन्तिक भेद ही प्रतीत होने लगता है. ऐसी इस आत्यन्तिक भेदप्रतीतिके समाधानार्थ ही महाप्रभु अपने प्रथम ग्रन्थके मंगलाचरणमें ही यह खुलासा दे देते हैं कि “नमो भगवते तस्मै कृष्णाय अद्भुतकर्मणे रूप-नाम-विभेदेन जगत् क्रीडति यो यतः” (त.दी.नि.१।१).

अतएव परस्पर अद्भुत नाम एवं अद्भुत रूप के प्राकट्यद्वारा अपने अद्भुतकर्मोंको प्रकट करनेवाला परम तत्त्व तो एक ही है। अपने मौलिक स्वरूपमें वह ज्ञेयात्मक ज्ञान अथवा ज्ञानात्मक ज्ञेय होनेसे एकमेवाद्वितीय है। अर्थात् स्वापेक्षया किसी भी तरहके द्वितीय विकल्पसे रहित, अतएव वाणी और मन से अगोचर भी, होता है। अपनी सर्वभवनसामर्थ्यरूपा मायाके द्वारा, परन्तु, वह अपने-आपको ज्ञान और ज्ञेय यों दो रूपोंमें विभक्त कर पाता है। यों एक ही सत्य (अर्थात् असत्य माया/अविद्या नहीं) अपने-आपको 'सत्' = जड़ज्ञेयात्मना प्रकट और 'त्यत्' = चेतनात्मना अप्रकट यों दो तरह से बांट लेता है। उन दोनोंमें एक भाग ज्ञेय-भोग्य-कार्य-कारणरूपा प्रकृति बन जाता है। दूसरा भाग उस प्रकृतिके भीतर ज्ञाता-कर्ता-भोक्ता रूपी पुरुष बन जाता है। यह निखिल नामरूपकर्मात्मक जगत्का उपादानाधाररूप मौलिक चेतन्य और उसमें प्रकट होनेवाले पदार्थों के अवान्तर प्रभेदकी कथा है। उदाहरणतया सचेतन-सजीव प्राणिशरीरमें प्रकट होनेवाले निश्चेतन-निर्जीवोपम केश-रोम-नखोंकी जैसी कथा है। जहां बाह्य स्तरपर चेतन्य या सजीवितता प्रकट न होनेपर भी अन्तर्निगूढ तो रहती ही है।

यों उस सच्चिदानन्दरूप बृहत्के भीतर आत्मविभाजनकी प्रक्रियाद्वारा विभक्त हुवे सदंश चिदंश और आनन्दांश क्रमशः सत्त्व रज और तमो गुणोंकी समावस्थारूपा प्रकृति बन जाते हैं। इसके बाद अवशिष्ट जो पुरुष उसके द्वारा भी क्षुब्ध हो कर इन तीन साम्यावस्थापन गुणोंमें जो विभिन्न प्रकारोंके गुणवैषम्य प्रकट होने लगते हैं, उन्हें कार्य-कारणरूपा प्रकृतिका 'गुणविकार' कहा जाता है। इस प्रकृतिके रूपमें वह बृहत् सृष्टिका उपादान-कारण बनता है और पुरुषरूप उन गुणविकारोंमें प्रविष्ट हो कर उनका निर्वाहक आधार बन जाता है। यों जो कुछ है, उसे अभिव्यक्त करनेवाले कालके कारण नाम-रूप-कर्मात्मिका सृष्टि नित्यशः पौर्वापर्यभावसे प्रकट होती रहती है।

इसमें मूलोपादान मूलाधार मूलकर्ता प्रकट न होता होनेपर भी ब्राह्मिकी अन्तर्दृष्टि रख कर, जिसे उपर्युद्धत विषयवाक्यमें "मैं, परन्तु, इन तीनोंरूपोंमें सर्वसमान ब्रह्म हूँ" अंशद्वारा निर्दिष्ट किया गया है। अतः उसे समेकित रूपमें निहारनेपर मौलिक एकमेवाद्वितीयताका अनुसंधान शक्य बन पाता है। इसी मौलिक एकमेवाद्वितीयताके अभिप्रायवश ही श्रीविष्णुपुराणमें भी कहा गया है कि "हे जगत्पति! परमार्थतः तो तुम ही केवल हो, अन्य कुछ भी नहीं। तुम्हारी ही महिमा इस चराचरमें व्याप्त है। यह जो कुछ विषय(ज्ञानभिन्न)तया दिखलायी देता है वह ज्ञानस्वरूप तुम्हारा मूर्तरूप है... यह सारा जगत् ही ज्ञानस्वरूप है परन्तु बुद्धिहीनोंको अर्थस्वरूप दिखलायी देता होनेसे मोहके बाढ़की भँवरीमें वे फँस जाते हैं। शुद्ध वित्तवाले ज्ञानविद् जो होते हैं वे तो सारे जगत्को, हे परमेश्वर! ज्ञानात्मक आपका ही रूपभेद देखते-मानते हैं" (विष्णुपुरा. ४।३८-४१)। यहां विशेषमें उल्लेखनीय यही है कि ज्ञान-ज्ञेयार्थ मूलतः अज्ञानात्मक नहीं प्रत्युत ज्ञानात्मक ही हैं। इसी अर्थमें उसे ज्ञानसे एकान्तिकतया तमःप्रकाशके जैसे भिन्नस्वभाववाले विषय-विषयी माननेवाली मति या दृष्टि को भ्रान्तिरूप माना गया है। ज्ञातृज्ञेयोभयात्मक ज्ञान ही, "अहं ब्रह्मास्मि"की तरह, ज्ञेयात्मना प्रकट हुवा होनेके कारण अपने मौलिक ज्ञानात्मक स्वरूपसे च्युत कर ज्ञेय नहीं बनता है।

यही वह ब्राह्मिकी दृष्टि है जिसका "यह सभी कुछ एतदात्मक है, आत्मा तो वह है, और वही तुम हो" (छान्दो. उप. ६।८।७) इस श्रुतिवचनमें भी निरूपण मिलता है। 'तुम'पदद्वारा अभिप्रेत ज्ञानात्मक चिदंश पुरुष और 'यह सभी कुछ' पदोंद्वारा अभिप्रेत ज्ञेयात्मिका सदंशरूपा प्रकृति दोनोंके ब्रह्मात्मक होनेका यह औपनिषदिक सिद्धान्त है। अतएव भगवद्गीताके सातवें अध्यायके चौथे-पांचवें श्लोकोंमें भगवान् जड़-जीव उभयविध सृष्टिको अपनी प्रकृतिके रूपमें स्वीकारते हैं। यहां जो 'आत्मा' पदका प्रयोग हुवा, उसके कारण ज्ञानरूपता सहसा बुद्ध्यारूढ़ नहीं

हो पाती. परन्तु “‘आत्मा’=अततेर्वा आप्तेर्वा अपिवा आप्तइव स्याद् यावद्व्याप्तिभूतइति”-“यद् आप्नोति यद् आदत्ते यच्च अत्ति विषयान् अयं यच्च अस्य सततं भावः तस्माद् ‘आत्मा’ निरुच्यते” (निघ.निरु.३।३।१५-लिंगपुरा.१।७०।९६) इन नैरुक्त-पौराणिक परिभाषाओंको दृष्टिगत रखनेपर विषयव्यापी चेतना ही ‘आत्मा’ पदद्वारा अभिप्रेत मानी जानी चाहिये.

सच्चिदानन्द ब्रह्मके सदंश और चिदंश रूपी जड़जीवसृष्टिके ब्रह्मात्मक होनेकी धारणाका प्रतिपादन महाप्रभुने भी स्वोपज्ञ प्रकाशमें यों किया है :

“यह वाक्य श्वेतकेतुके उपाख्यानमें मिलता है. वहां उपक्रममें ‘अपिवा तम् आदेशम् अप्राक्षो येन अश्रुतं श्रुतं भवति’ इत्यादि प्रतिपादनमें एकविज्ञान द्वारा सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञा दरसायी गयी है. वह तो उसके एक होनेपर ही उपपन्न हो सकती है. जैसे सुवर्णके खंड और सुवर्णके कार्यरूप सभी कुछ सुवर्ण होते हैं. सुवर्णके स्वरूपके अवगत होनेपर सुवर्णके कार्यरूपोंको भी सुवर्णके रूपमें जाना जा सकता है. तदर्थ ‘सदेव सौम्य...’ वाक्यांशसे निरूपणारंभ किया गया . ‘ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्’ इस अंशद्वारा सारे जड़रूपोंका ब्रह्मात्मक होना कहा गया. जड़रूपोंमें दिखलायी देते दोषोंका भी परिहार वहां ‘तत् सत्यम्’ अंशद्वारा किया गया. पूर्वोत्तरतया निर्दिष्ट जड़जीवोंके सदात्मक होनेमें हेतु बीचमें दिया गया ‘स आत्मा’ कह कर. यों जड़रूपोंका तदात्मक होना समझा कर जीवोंका भी समझानेको ‘तत् त्वम् असि’ कहा गया”.

(त.दी.नि.प्र.१।६१).

चेतनाके मौलिक निर्विकल्पाद्वैत स्वरूपका यह पहलु ब्राह्मिक पहलु है.

(२.ब्रह्मान्तर्गत आत्मपरमात्मप्रभेद)

उपनिषदोंमें इस ब्राह्मिक पहलुके अलावा दूसरा पारमात्मिक पहलु भी प्रतिपादित हुवा है :

“वह सृष्टिको प्रकट करके उसमें अनुप्रविष्ट हो गया”(तैत्ति.उप.२।६).

“जो पृथिवी... जल... तेज... वायु... आकाश सभी भूतोंमें रहनेपर भी उन सभीके भीतर गूढ़तया ही रहता है. कोई भी भूत उसे जान नहीं पाते वे किसके शरीर हैं. उन भूतोंका वह भीतरसे नियमन करता है. ऐसा है वह तुम्हारा अन्तर्यामी अमृत आत्मा! यह बात तो अधिभूतोंकी हुयी. अब अध्यात्मकी करें तो : जो प्राण... वाणी... चक्षु... श्रोत्र... मन... त्वचा... विज्ञान... रेतस् में रहता होनेपर भी गूढ़ ही रहता है, प्राण-रेतस् कोई भी उसे जान नहीं पाते, उसके शरीर होनेपर भी. उनका नियमन भी वह भीतरसे ही करता है. ऐसा होता है वह आत्मा अन्तर्यामी अमृत” (बृह.उप.३।७।३-२३).

“लोकमें क्षर-अक्षर पुरुष प्रकट हुवे सभी भूत क्षरपुरुष और कूटस्थ अक्षरपुरुष है परन्तु उत्तमपुरुष एक अन्य और है, जिसे ‘परमात्मा’ कहा जाता है. वह अव्यय ईश्वर तीनों लोकोंमें आविष्ट हो कर सभीका भरण करता है” (भग.गीता.१५।१६-१७).

अतः स्वोपादानक स्वांशरूप स्वसृष्ट आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक सभी पदार्थोंमें इस ब्रह्मके अनुप्रविष्ट हो कर अवस्थित होनेका तथ्य,

न केवल उसे अन्तर्यामी परमात्मा के रूपमें भी प्रस्तुत करता है; अपितु जड़-चेतन सभीमें अन्तर्व्याप्त अन्तर्नियामिका चेतनाकी विद्यमानता भी प्रतिपादित करना चाहता है। उदाहरणतया दूधको फाड़ कर बनाये गये छेनोंको पुनः दूधमें डालनेपर उनके भीतर दूध अनुप्रविष्ट हो जाता है। अतः दुग्धकार्य रूप छेनोंमें दुग्धका अनुप्रवेश, छेनोंसे बनी 'रसमलाई' नामक मिठाईका दूध उभयरूप उपादानात्मक अन्तर्यामी जैसा बन जाता है। आधुनिक जीवाणुकोष-विज्ञानका उदाहरण लेना हो तो जिस जीवाणुकोषसे शरीर निर्मित हुवा उसके स्टेमसेल्सका प्रत्यारोपण करनेपर वह रुग्ण अंग-प्रत्यंगमें रोगके निरासपूर्वक उनका समुचित नियमन भी करने लगता है। ऐसे ही वह उपादानरूप और अन्तर्यामिरूप उभयविध माना जा सकता है।

अर्थात् चेतनासे बाह्यतया देश-कालमें परिच्छिन्न जडतया अवभासित होते पदार्थोंके अंशी उपादान रूपी चेतनाके एक ब्राह्मिक पक्षकी तरह दूसरा पक्ष उनके भीतर निगूढ़ अन्तर्यामी चेतना होनेका एक पारमात्मिक पक्ष भी है। अतः उपादानात्मकता और अन्तर्नियामकता यों प्राथमिक स्वरूप फलित होते हैं। निष्कर्षतया यह कहा जा सकता है कि चेतनाका जो ब्राह्मिक स्तर है, उसमें नाम-रूप-कर्मात्मक विश्व अन्तर्निगूढ़ अव्यक्त रहता होनेसे, वह स्तर विश्वातीत होता है। चेतनाका पारमात्मिक स्तर, जबकि, ब्रह्मरूप उपादान या आधार में व्यक्त या प्रकट होनेवाले निखिल नाम-रूप-कर्मोंके भीतर अनुप्रविष्ट हो कर उनका अन्तर्नियमन करनेवाली अन्तर्निगूढ़ चेतना विश्वमयी पारमात्मिक चेतना बन जाती है।

एतावता तुलनात्मक दृष्टिसे निहारनेपर बौद्ध दर्शनमें यद्यपि ब्रह्मसदृश शून्य तो सम्भव है परन्तु औपनिषदिक परमात्माके जैसा कुछ भी शक्य नहीं, नैरात्म्यवाद और निर्द्रव्यवाद की स्वीकृति; तथा, देश-काल-स्वभावसे विप्रकृष्ट अतीन्द्रिय अर्थोंकी निर्विकल्प स्फुरणा अशक्य

होनेकी स्वीकृतिके कारण भी। क्षणिकधर्मा वस्तुओंके प्रवाहकी अवधारणाके वश न तो विषय और न विषयी की दृष्टिसे ही परमात्मा जैसा कोई तत्त्व बौद्ध चिन्तनमें मान्य हो पाया।

आर्हत दर्शनमें, परन्तु, “दंसणपुब्बं णाणं छदमत्थाणं ण दोण्णि उवउग्गा जुगवं, जट्मा केवलि णाहे जुगवं तु ते दोवि... णत्थचदुधासकम्मो दंसणसुहणाणवीरियमईओ सुहदेहत्यो अप्पा सुद्धो अरिहो...”-“तत् सर्वथावरणविलये चेतनस्य स्वरूपाविर्भावो मुख्यं केवलम्” (बृह.द्र.संग.४४-५०प्रमा.मीमां.१।१।१५) विधान मिलता होनेके कारण पारमात्म्यैक्यवाद न सही त्रिकालज्ञतया अनेकपरमात्मवाद तो जैन दर्शनमें अंगीकृत है ही।

महाप्रभु इसका प्रतिपादन यों करते हैं : “जड़ जीव और अन्तरात्मा यों तीन तरहसे उसका व्यवहार माना गया है। सभी कुछ भगवान् हैं अतः ‘जड़ा’दि पदोंके प्रयोग केवल व्यवहाररूप हैं... जो सर्वत्र ही रहनेपर भी किसीका संस्पर्श नहीं करता उसके शरीर भी उसे इस तरह जान नहीं पाते कि इस तरह भीतर प्रविष्ट हो कर कौन प्रकाशित हो रहा है” (त.दी.नि.प्र.१।३०,७०)।

चेतनाका अखण्डाद्वैतरूप मौलिक स्वरूप सर्वविध परोक्ष-अपरोक्ष ज्ञेयवस्तुओं तथा ज्ञानानुभूतियों का आधारभूत उपादान चेतन होना प्रथम रूप है। दूसरा बौद्ध-जैन चिन्तनसे विलक्षण एकाद्वितीय सर्वान्तःप्रविष्ट सर्वज्ञ और सर्वनियामक रूप चेतन होनेके रूपमें मान्य किया गया है। जैन दर्शनमें जैसे “सर्वथावरणविलये चेतनस्य स्वरूपाविर्भाव” की तरह परापररूप चेतनाकी दो अवस्थायें सिद्ध और साध्य मानी गयी हैं। उसके विपरीत औपनिषद दर्शनमें परमात्मामें सहजसिद्ध और जीवात्माके लिये साधनसाध्य भी मानी गयी है “पहले तो ब्रह्म ही केवल था। उसने अपने-आपको जाना कि वह ब्रह्म है। सो वह सब कुछ

बन गया. अतः जो भी देवों ऋषियों अथवा मनुष्यों में इस रहस्यको जान लेता है वह सर्वरूप बन जाता है” (बृह.उप.१।४।१०). अतः कहा जा सकता है जैन परमात्मा सर्वज्ञ ही केवल होता है जबकि औपनिषद् परमात्मा सर्वज्ञ सर्वात्मक और सर्वनियन्ता भी.

(३.ब्रह्म और परमात्मा के प्रभेद श्रुत्यादि शास्त्रप्रतिपाद्य प्रमेय है उत्प्रेक्षामूलक नहीं)

उपनिषदादि शास्त्रोंकी समन्वयसाधिका व्याख्याका यह वेदान्तदर्शनोचित पुरुषार्थ है, मौलिक उत्प्रेक्षारूप पुरुषार्थ नहीं है.

(४.वाल्मभी वेदान्त वेदादिशास्त्रोंकी व्याख्या है उत्प्रेक्षामूलक चिन्तन नहीं)

यह नितान्त अवधेय है कि महाप्रभु वाल्मभीचार्य अपने चिन्तनको स्वयंकी मौलिक सृष्टि न मान कर श्रुति-स्मृति-सूत्र-पुराण-आगमोंके विविध वचनोंकी समन्वयसाधिका ऋजुव्याख्या ही केवल मानते हैं “सभी प्रमाणोंकी इस विषयमें एकवाक्यता सिद्ध हो जाती है, अन्यथा वे वचन वाक्याभास सिद्ध होंगे”-“वेदोंके प्रतिपाद्य अर्थरूप ब्रह्मका वेदोंके अनुकूल ही विचार होना चाहिये. तब क्या-कैसे करना उचित होगा? शास्त्रवचनोंकी व्याख्या कर लेनी ही उचित लगती है, क्योंकि व्याख्या करनेसे विशेष अवगति हो पाती है. जैसे कर्मोंके प्रसंगमें भी दर्शपूर्णमास यागोंकी पहले व्याख्या ही की गयी है” (त.दी.नि.प्र.१।१०४-ब्र.सू.भा.१।१।१). वेदादि शास्त्रोंमें विधेय कर्मोंका स्वरूप जैसे कर्मविधायक शास्त्रवचनोंकी समन्वयसाधिका व्याख्या करनेपर ही भलीभांति अवगत होता है, वैसे ही वेदादि शास्त्रोंमें प्रतिपाद्य जड़-जीव-ब्रह्म आदि तत्त्वोंका वचनाभिप्रेत स्वरूप भी शास्त्रवचनोंकी समन्वयसाधिका व्याख्या द्वारा ही भलीभांति बुद्धिगत हो सकता है अन्यथा नहीं. शास्त्रवचनाभिप्रेत पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपके बारेमें बहुविध विप्रतिपत्तिके बावजूद शांकर वेदान्त तथा वाल्मभी वेदान्त इस विषयमें परस्पर पूर्णरूपेण सहमत

हैं. क्योंकि भगवत्पाद शंकराचार्य भी अपनी अभिमति ऐसी ही दरसाते हैं “रूपादि गुणोंके अभाववश वह तत्त्व प्रत्यक्षगोचर नहीं हो पाता, तर्कोपस्थापक लिंगोंके अभाववश उसके बारेमें अनुमानादि शक्य नहीं, जैसे धर्मतत्त्वको केवल आगमसे ही जाना जा सकता ऐसा ही इसे भी केवल आगमसे ही जाना जा सकता है”-“यहां लौकिक विषयोंके बारेमें जैसे सोचा जाता है, वह प्रकार योग्य नहीं. क्योंकि यह तत्त्व अनुमानसे तो जाना ही नहीं जा सकता, श्रुत्यादि शास्त्रोंके शब्दोंके आधारपर ही जाना जाता होनेके कारण, शब्दोंके आधारपर जैसा सिद्ध होता हो उस तरह मानना चाहिये” (ब्र.सू.भा.२।१।६-१।४।२७).

इस विषयमें रामानुज या माध्व आदि वेदान्तप्रस्थानोंको भी किसी तरहकी कोई विप्रतिपत्ति नहीं है, यह उनके ग्रन्थोंके अवलोकनद्वारा सुनिर्धारित किया जा सकता है.

(५.सदेव, सौम्य!, इदम् अग्रे आसीद् एकमेवाद्वितीयं...तद् ऐक्षत 'बहु स्यां प्रजायेय!' इति)

श्रुत्यादि शास्त्रोंसे अतिरिक्त किसी भी प्रमाणसे अविज्ञेय उस एकमेवाद्वितीय तत्त्वके बहुभावापन्न होनेके प्रतिपादनके अन्तर्गत अग्रिम रूपोंके पर्यालोचनार्थ अग्रसर होनेसे पहले इस सृष्टिप्रक्रियाके अन्यथा दुर्ज्ञेय होनेका निरूपण स्वयं श्रुतिवचनमें कैसे हुवा है, यह भी अवलोकनीय है :

यह सृष्टि पहले केवल आप (यथोक्त 'आत्म'पदघटक 'आप्नोति'क्रियाश्रय) एक जल थी सलिल (निष्पन्द नहीं प्रत्युत स्वतःस्पन्दनशील). इस सृष्टिका एकमात्र प्रजापति भी स्वयं उस सलिलमें के किसी पुष्करपर्णमें प्रकट हुवा. उसके मनके भीतर काम प्रकट हुवा कि 'मैं इस जगत्का निर्माण करूँ'. अतएव जो पुरुष मनसे ठानता है, उसे

वाणीसे बोलने लगता है; और वही काम भी करने लगता है... काम सबसे पहले मनका वीर्य/सामर्थ्य बनता है. अतः इस व्यक्त जगत्के प्राकट्यके अनुकूल बन्धुरूप कारण वह अव्यक्तकाम बना था... उस सृष्टिकारणभूत जलमें कछुएकी तरह रेंगतेसे किसीको प्रजापतिने कहा कि 'तुम तो मेरे त्वचा-मांससे जनमे हो'. तब उसने अस्वीकार करनेको 'ना', कह दिया, 'मैं तो यहां पहलेसे ही था'. यही तो पुरुषका पुरुष होना है. वह अनेक सिर आंख चरण वाला बन कर उभरा . तब उस विराट् पुरुषको प्रजापतिने कहा 'तुम, क्योंकि, पहले से ही थे अतः पहले तुम्ही सृष्टि प्रकट करो! (तैत्ति.आर.१।२३).

अवधेय है कि यही कथा कुछ थोड़ेसे हेरफेरके साथ दीघनिकायके अन्तर्गत ब्रह्मजालसुत्तमें भगवान् बुद्धने भी समझायी है “अहमस्मि ब्रह्मा महाब्रह्मा अभिभू अनभिभूतो अज्जदत्थुसो वसवत्ती इस्सरो कत्ता निम्मात्ता सेट्ठो सजिता वसी पिता भूतभब्बानां मया इमे सत्ता निम्मिता” (दी.नि.१।३।५।४२) इस घटनाको ब्रह्मविवरमें घटित होना भी बौद्ध दर्शनमें मान्य है परन्तु केवल “नेति-नेति”की ही भाषामें. उपनिषद्, जबकि, इसी घटनाको “नेति-नेति” की तरह “अन्यत् परम् अस्ति अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यम्” (द्रष्ट.बृह.उप.२।३।१-६) यों ‘यन्नास्ति’ और ‘यदस्ति’ रूपा दोनों परिभाषाओंमें निरूपण करते हैं. अर्थात् वस्तुदृष्ट्या अनभिव्यक्तावस्थासे अभिव्यक्तावस्थामें आनेके तथ्यके बारेमें असत्से सत् बन जानेकी बौद्ध दर्शनानुपाती भ्रमणा न केवल सृष्टिको ही अपितु सृष्टिकर्ताको भी सताती है! वैसे वैष्णव दर्शन भगवान् बुद्धको सृष्टिकर्ता-पालक-संहारक परमेश्वरके अवतारतया मान्य कहां नहीं करते! फिरभी इस अंशमें दोनों दर्शनोंके बीच विप्रतिपत्ति तो उभर कर सामने आ ही जाती है.

अतएव बौद्ध दर्शनाभिप्रेत चेतना या तो क्षणिक प्रतीत्यसमुत्पाद है या शून्यता है जबकि श्रौत दर्शनमें चेतनाके उभयविध रूप मान्य हुवे हैं.

(६.चेतनाका सृष्ट्यन्तर्गत अवान्तर-सृष्ट्याधाररूप स्वरूप)

चेतनाके इस पारमात्मिक स्तरके बाद तीसरा स्तर विराट्चेतनाका आता है. इन दोनोंके बीच अन्तर यह है कि पारमात्मिक चेतना सृष्टिमें सर्व वस्तुओंके भीतर निरपवादेन अनुप्रविष्ट होनेपर भी असंस्पृष्ट ही रहती है. विराट्चेतना, जबकि, सृष्टिगत नाम-रूप-कर्म के साथ असंस्पृष्ट नहीं रहती. यह “वह अनुप्रविष्ट हो कर सत्-त्यत् निरुक्त-अनिरुक्त निलयन-अनिलयन विज्ञान-अविज्ञान ही नहीं अपितु सत्य-अनृत भी वही सत्य बन गया” (तैत्ति.उप.२।६) इस विधानमें सृष्टिगत शरीररूप निखिल बाह्यरूपोंमें भी उसकी अभिव्यक्ति उसे सृष्टिसंस्पृष्टसे भी कहीं अधिक सृष्ट्यात्मक ही बना देती है. ऐसा साहसपूर्ण प्रतिपादन उपनिषदादि शास्त्रोंमें हम पाते हैं :

“(१)ब्रह्मविद् उस परमको पा लेता है... ब्रह्म सत्यरूप ज्ञानरूप और अनन्त है... ऐसे उस आत्मामें से आकाश प्रकट हुवा. आकाशमें से वायु. वायुमें से अग्नि. अग्निमें से जल. जलमें से पृथिवी. पृथिवीमें से ओषधियां. ओषधियोंसे अन्न. अन्नसे पुरुष...

(२)अन्नके कारण क्योंकि प्रजा प्रकट होती है, जो भी पृथ्वीपर बसती हैं. और अन्नके कारण ही तो जीवित भी रह पाती हैं. अन्तमें अन्नभावमें ही प्रलीन हो जाती हैं...

(३)इस ऐसे बाह्य स्थूल शिर-कर-वक्ष-अधोभागवाले अन्नरसमय पुरके भीतर एक अन्य प्राणापानव्यान आकाश-पृथ्वि अंगोवाली प्राणमय आत्मा होती है. उससे

यह अन्नमय आत्मा पूर्ण बन पाती है. वह इसके भीतर पुरुषकी तरह बसती है. उसके पुरुषकी तरह भीतर बसनेके कारण ही यह भी पुरुषकी तरह बस पाती है... प्राण सभी भूतोंकी आयुष्यकी तरह होता है... उस ऐसे इस प्राणमयको पुर बना कर उसके भीतर ऋग्यजुसामाथर्वोक्त आदेशोंके अंगवाली एक अन्य मनोमय आत्मा होती है, जिससे प्राणमय पुर पूर्ण हो पाता है. यह मनोमय भी प्राणमयके भीतर पुरुषकी तरह ही बसता है. उसके पुरुषकी तरह बसते होनेके कारण प्राणमय भी कहीं पुरुषकी तरह बस पाता है... इस ऐसे मनोमय पुरके भीतर श्रद्धाऋतसत्ययोगमहरूप अंगोवाली विज्ञानमय आत्मा बसती है, जिसके कारण यह पूर्ण हो पाता है. यह विज्ञानमय भी पुरुषकी तरह ही मनोमयके भीतर बसता होनेसे इसकी पुरुषविधता मनोमय आत्मामें अन्वित रहती है... इस विज्ञानमय पुरके भीतर प्रियमोदप्रमोदआनन्दब्रह्मरूप अंगोवाला आनन्दमय पुरुष बस कर इसे पूर्ण और पुरुषकी तरह कहीं बसने सक्षम बनाता है...

(४)इन सभीकी प्रतिष्ठा ब्रह्म है... जो ब्रह्मको असत् मानता हो वह तो स्वयंको असत् बना लेता है. जो ब्रह्मको सत् मानता हो वह स्वयं भी सत् सिद्ध हो जाता है... उस एक ब्रह्मने ही तो अनेक बन जानेकी कामना की... उसने यह सब कुछ सिरजा. यह जो कुछ है उसे प्रकट कर वह उसमें वही अनुप्रविष्ट हो गया.

(५)अनुप्रविष्ट हो कर वह प्रकट और अप्रकट दोनों बन गया. निरुक्त=वाच्य और अनिरुक्त=अवाच्य भी. आधार भी और निराधार भी, विज्ञान भी और अविज्ञान भी, सत्य और अनृत भी वही सत्य बना है. अतः जो

कुछ है उसे 'सत्य' ही कहना चाहिये(तैत्ति.उप.२।१-६).

(६)जिससे ये सारे भूत उत्पन्न होते हैं जिसके कारण जीवित रह पाते हैं जहां ये पुनः जा कर प्रलीन हो जाते हैं वही तो जिज्ञास्य ब्रह्म होता है... अतः उसने अन्नको ब्रह्मतया जाना. क्योंकि अन्नसे सभी भूत उत्पन्न होते हैं अन्नके कारण जीवित रहते हैं अन्तमें प्रलीन हो कर पुनः अन्नभावापन्न हो जाते हैं... ऐसे ही प्राणको भी ब्रह्मतया जाना क्योंकि प्राणसे उत्पत्ति-स्थिति-लय सभीकी होती है... मनको भी ऐसा ही होनेके कारण ब्रह्मतया जाना... विज्ञानको भी ऐसा होनेसे ब्रह्मतया जाना... आनन्दको भी ऐसा होनेके कारण ब्रह्मतया जाना..."(तैत्ति.उप.३।१-६)

इस अदभुत प्रतिपादनके (१) से (६) अंशोंका सावधानीसे विमर्श करनेपर सृष्टि और उसके मूलतत्त्व के बारेमें जो उपनिषद्की अवधारणा है उसके प्रमुख मुद्दे कुछ इस तरहके उभरते हैं :

(१)यह उपनिषद् सृष्टिके मूलकारण अथवा सृष्टिको मूलरूपमें, प्रत्यक्षतया अनुभूत होता जड़-चेतनका जो द्वैत है उससे घटित नहीं मानता, अपितु एक अखण्डचेतनामें से प्रकट हुवा मानता है, जिसे 'ज्ञान' कहा जा रहा है. इस ज्ञानको, जैसे कि भौतिकवादी चेतनाको जड़परिणाम मानते हैं वैसे नहीं; और न जैसे कि नैरात्म्यवादी प्रतीत्यसमुत्पाद मानते हैं वैसे भी, किन्तु 'सत्य'पदके प्रयोगके कारण स्वतःसिद्ध मानता है. इस सत्य-ज्ञानरूप ब्रह्मको पुनः अनन्त मानना भी देश-काल-स्वरूपके परिच्छेदसे रहित शून्योपम होनेके अर्थमें नहीं प्रत्युत उस ज्ञानरूप तत्त्वके सत्य और अनन्त के कोष्ठकमें अन्तर्निवेशके कारण यच्च-यावद् देश-काल-नाम-रूप-कर्मोंकी देश-काल-नाम-रूप-कर्मोंसे अतीत उनकी अंशिरूपा समष्टितया स्वीकारनेके हेतु ही 'ब्रह्म'पदसे अभिहित किया

गया है. अतएव इस तत्त्वको 'सत्यज्ञानानन्तरूप' कहा गया है. इसमें से आकाशसे लेकर पुरुष पर्यन्त समग्र सृष्टिका प्रकट होना कई तरहके उदाहरणों यथा—अजीवरूपा भूमिमें से अत्यन्त भिन्न सजीव वनस्पतिके प्रकट होनेकी तरह, अन्धकार और भयवासना के वश रस्सीपर प्रकट होती सर्पकी भ्रमणाकी तरह, दूधमें से प्रकट होनेवाले दही जैसे विकारोंकी तरह—प्रस्तावित किया जा सकता है. फिरभी सृष्टिक्रममें ज्ञानरहित अचेतन भौतिक पदार्थोंसे ज्ञानवान् सचेतन पुरुष तक पहुंचनेपर पुरुषचेतनाको उपर्युक्त उदाहरणोंमें से किस तरह प्रकट होनेवाली स्वीकारना? इस प्रश्नका समाधान प्रस्तुत प्रतिपादनके (२) और (३) अंशोंको एक साथ जोड़ कर विमर्श करनेपर ही मिल सकता है.

(२)-(३) इन दोनों वचनांशोंका एक साथ विमर्श करनेपर (२) अंशमें यद्यपि अन्नसे अन्नमें पुरुषकी उत्पत्ति-स्थिति-लय होनेकी कथा भूमिमेंसे वनस्पति अथवा दूधमेंसे दही के उत्पन्न होने जैसी कथा लगती है. परन्तु उन दोनों उदाहरणोंमें कार्य और कारण के बीच वैजात्य सुस्पष्ट है और ज्ञानरूप ब्रह्ममेंसे मध्यपाती आकाशादि अन्नपर्यन्तकी अचेतन अवान्तरकारणशृंखला और अन्तिम पुरुषरूप कार्यमें पुनः सचेतन ज्ञानवान् प्रकट हो जानेके तथ्यपर दृष्टिपात करते ही मध्यपाती अन्तर्गड्ढ वैजात्य निवृत्त हो कर अन्तिम कड़ीमें कार्य-कारणके साजात्यकी गवाही देने लगता है. अतः उल्लिखित सभी उदाहरणोंके स्वरूप और ब्राह्मिक कार्यकारणभावके स्वरूप के तुलनात्मक विमर्श करनेपर परीक्षकोंके लिये बुद्धिसाम्य दुःशक बन जाता है. अतः सुवर्ण-कुण्डलके उदाहरणमें प्रतीत होते कार्य-कारणके बीच रहते तादात्म्यको ब्राह्मिक कार्य-कारणभावमें स्वीकारना ही उचित लगता है. उसे स्वीकारनेपर (३) अंशमें कार्यभावापन्न हुवे सद्रूप अन्नमय-प्राणमय-मनोमयका और चिदानन्दरूप विज्ञानमय-आनन्दमयका एकके भीतर दूसरेके अवस्थित होना सुगम हो जाता है. साथ ही साथ अन्तर्तम आनन्दमयके पुरुषविध होनेके कारण बाह्यतम अन्नमय तक सभीकी पुरुषविधताके साथ-साथ परस्पर पुरुरूपताकी और

उन-उन पुरोंमें अवस्थित पुरुषरूपताकी कथा भी बृहदारण्यकोपनिषद्से संवादित हो जाती है. वहां कहा गया है कि "उसने द्विपद् और चतुष्पद् प्राणिओंको अपना पुर बना कर उनमें आविष्ट हो कर रहना शुरु किया. ऐसा यह पुरुष सभी पुरोंमें पुरिशाधी बन गया. ऐसा कुछ भी नहीं कि जो उससे अनावृत हो और न ऐसा ही कुछ भी हो सकता है जो उससे असंवृत हो... (क्योंकि) उसने प्रत्येक रूपका प्रतिरूप धारण कर रखा है. यह स्वयंकी सर्वरूपताको जताने ही... क्योंकि उसकी तो सेकड़ों हजारों अनन्त रश्मिरूपा शक्तियां होती हैं. अतएव यह ब्रह्म न तो किसीसे पूर्व और न किसीके पश्चात् ही सिद्ध होता है, न किसीके भीतर और न किसीके बाहर ही. यह आत्मारूप ब्रह्म सभी वस्तुओंमें तत्त्वतः अनुभूत होनेवाला ऐसा परमतत्त्व है" (बृह.उप.२।५।१८-१९). अतः हम देख सकते हैं सृष्टि और उसके अभिन्ननिमित्तोपादानरूप ब्रह्मके बीच तादात्म्य स्वीकारे बिना यह भलीभांति उपपन्न नहीं हो पाता.

ब्रह्मेतर सभी अवान्तर पुरुषों एवं पुरों को ब्रह्मके एकमेव अद्वितीय अधिष्ठानपर मायारोपित मिथ्या पदार्थ भी मान लें तब भी अधिष्ठानतया उसे पूर्वसिद्ध तथा सकल नाम-रूप-कर्मोंके आरोपोंके एकमेवाद्वितीय अधिष्ठानकी तत्त्वानुभूतिसे बाधित हो जानेके कारण पश्चात्सिद्ध भी मानना ही पड़ेगा.

अतः 'अनन्त'पदका अभिप्राय केवल देश-काल-नाम-रूप-कर्मोंके परिच्छेदसे रहित होनेके सीमित अर्थमें नहीं लेना चाहिये. देश-काल-स्वरूपतः त्रिविध परिच्छिन्न अंशरूपा चेतनाओंमें उस परमचेतनाको अन्तर्निविष्ट होनेके तथा इन सभी परिच्छिन्न निजचेतनांशोंसे अतीत ऐसी समष्टिके रूपमें भी ब्रह्मको स्वीकारना उचित होगा. फलतः ब्राह्मिक चेतना जैसे देश-काल और उनमें प्रकट होनेवाले परिच्छिन्न नाम-रूप-कर्मोंके परिच्छेदोंसे रहित होती है, वैसे ही देश-काल-स्वरूपके विविध परिच्छिन्न

रूपोंमें भी अपने अनेक स्वरूप प्रकट भी करती ही है. यों चेतनाके दो स्वरूप या स्तर उपनिषदोंने प्रस्तावित किये हैं.

(४-५) चौथे और पांचवें अंशोंमें यह प्रतिपादनीय है कि इन सभी देश-कालके परिच्छेदोंमें प्रकट होनेवाले नाम-रूप-कर्मोंके परिच्छेदोंमें घिरे अनेकानेक चेतनांशोंकी प्रतिष्ठा तो साक्षात् ब्रह्म ही होता है. अतः जो ब्रह्मको असत् मानता हो वह तो स्वयंको असत्प्रतिष्ठ बना लेता है. अतः स्वयंको भी असत् बना लेता है. अतः जो ब्रह्मको सत् मानता हो वह स्वयंको भी सत्प्रतिष्ठ मानता होनेके कारण सत् सिद्ध होता है. क्योंकि उसी एक ब्रह्मने ही तो अनेक बन जानेकी कामना की और यह सब कुछ सिरजा. यों जो कुछ है उसे प्रकट कर उसमें वही अनुप्रविष्ट भी हो गया.

इस निरूपणशैलीका थोड़ा सा सावधानीके साथ विमर्श करनेपर स्पष्ट है कि यहां उस मूलचेतनाके दो रूप सृष्टिमें प्रकट हुवे हैं : एक ऐसी चेतना जो बाह्य भौतिक पदार्थोंके भीतर रहती होनेके कारण उनसे घिरी रहती है. वह अन्नमय प्राणमय और मनोमय पुरोंमें पक्षितया प्रवेशोपयिक स्वरूप श्रद्धात्रयसत्ययोगमह(=बुद्धिव्यापार और बुद्धि) रूप अंगोंवाली है. और उसे भी पुनः अपना पुर बना कर बसनेवाली प्रियमोदप्रमोद-आनन्द-ब्रह्म अंगोंवाली सर्वपुरुषविधताकी मूलचेतना दूसरी परमचेतना है. विज्ञानमय चेतनाके भीतर आनन्दमय चेतनाके रूपमें अन्तर्निगूढ़ चेतनाको अन्यान्य उपनिषद् 'अन्तर्यामी' अथवा 'परमात्मा' कहते हैं. उसका वर्णनमें यह कहा गया है कि "जो आत्माके भीतर रह कर उसका नियमन करता है"- "दो सुन्दर पंखोंवाले मित्र पक्षी एक ही वृक्षपर साथ-साथ रहते हैं. एक उस वृक्षके फलको चाखता रहता है दूसरा चाखे बिने उसके साथ रहता है. एक अनीशतया मोहित होनेके कारण शोकग्रस्त रहता है पर दूसरेकी महिमाको यदि वह भलीभांति देख पाये तो उसका भी शोक दूर हो जाता है"(शतप.ब्राह्म.१.४।५।३०,

मुण्ड.उप.२।३।१-२) ऐसा वह परमात्मा अन्तर्यामी बन कर सर्वत्र अनुप्रविष्ट हुवा.

इस निरूपणमें लक्ष्य रखने लायक तथ्य यह है कि वह परमचेतना केवल अंशी या आश्रय के रूपमें ही नहीं अपितु अपने विविध अंशों एवं कार्यों के रूपोंमें सृष्टिमें प्रकट हुवे विविध द्वैतभावोंको धारण करती है. यथा सृष्टिमें-कुछ तो ऐसा होता है जो प्रकट होता है और कुछ जो होते हुवे भी प्रकट नहीं होता. कुछ ऐसा होता है जिसकी विशेष नाम या रूप या कर्म के रूपमें निरुक्ति शक्य होती है और कुछ ऐसा जिसकी विशेष नाम या रूप या कर्मों के आधारपर निरुक्ति शक्य नहीं हो पाती. इसी तरह कुछ वस्तु हमें साधार लगती हैं तो अन्य कुछ निराधार ही लगती हैं. इस तरहके अनेकविध द्वैतघटित विकल्प निर्विकल्पकाद्वय ब्रह्मके जिन चेतनांशोंमें अवभासित होते हैं उनके आधारपर चेतनांशोंमें अवभासित होते होते विज्ञान या अविज्ञान भी मूलतः तो उसी परमचेतनाके लिये हुवे बहुविध रूप होते हैं. न केवल इतना अपितु जैसा भगवद्गीतामें कहा गया है कि "मैं ही स्मृति ज्ञान और उनका अपोहन भी करता हूं" (भग.गीता.१.५।१५). तदनुसार इन विज्ञान-अविज्ञानका नियमन भी उसी परमचेतनाके कभी-कहीं किसी रूपमें प्रकट या कहीं-कभी किसी रूपमें अप्रकट होनेके कारण सम्भव हो पाता है. अतएव ऐसे विज्ञानमें कभी कुछ सत्य प्रतीती होता है तो अविज्ञानवश कभी किसीमें मोहहेतुक अनृत भी प्रतीत होने लगता है. क्योंकि वही परमचेतना सब कुछ बनी है. अतः जो कुछ है उसका मौलिक स्वरूप तो 'सत्य' ही कहना-समझना उचित होगा.

इसके बादवाले (६)अंशमें इस सर्वोपादानता सर्वकर्तृता सर्वनियामकता और सर्वाधारता को परिपुष्ट करनेको एक अतीव महत्त्वपूर्ण बात उपनिषद्में हमें मिलती है. वह यह कि उस परमचेतनारूप ब्रह्मके स्वरूपलक्षणके

अलावा जो कार्यलक्षण प्रस्तुत किया गया, वह उसके द्वारा गृहीत अवान्तर कारणोंसे प्रकट होनेवाले कार्यभूत रूपोंमें भी साक्ष्यतया उपलब्ध होता है। वह कार्यलक्षण “जिससे सब कुछ प्रकट होता है जिसमें सब कुछ अवस्थित है और अन्तमें जिसमें सब कुछ लीन हो जाता है, उसे ब्रह्म समझना चाहिये” ऐसी पदावलीमें दिया गया है। ब्रह्मसूत्रकार भी इसे “अथातो ब्रह्मजिज्ञासा-जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वात्” (ब्र.सू.१।१।१-२) कह कर इसी तरह उपस्थापित करते हैं। भगवत्पाद श्रीशंकराचार्य भी अपने शारीरिकभाष्यमें “ब्रह्म जिज्ञासितव्यम् इति उक्तं किलक्षणकं पुनः तद् ब्रह्म इति आह भगवान् सूत्रकारः” (ब्र.सू.भा.१।१।२) द्वारा अंगीकार करते हैं। इसे सन्मात्रग्राहिप्रत्यक्षतावादी शांकर वेदान्तकी रीतिसे समझना हो तो कहा जा सकता है कि अस्ति-भाति-प्रिय गुणधर्म ब्रह्मका जैसे घटादिविषयोंमें अनुभासित होता है, वैसे ही मृत्तिकादिमें भी घटादिकी उत्पत्ति-स्थिति-लयोपादनता और कुम्भकारादिमें घटादिकी उत्पत्ति-स्थिति-लयकर्तृता भी मूलतः ब्राह्मिकी ही अनुभासित होती है। वहां नाम-रूप-कर्मको मायिक माना गया है परन्तु “नाम रूप और कर्म ये तीन हैं ... यही ब्रह्म सभीका... भरण करता है। अतः ये तीन होनेपर भी एक हैं और यह आत्मा एक होनेपर भी इन तीनों रूपोंमें अवस्थित होता है” (बृह.उप.१।६।१-३) सदृश श्रुतिवचनोंके आधारपर इन्हें भी वाल्लभ वेदान्तमें मायिक हों तो उस मायाको ब्रह्मके सर्वभवनसामर्थ्यसे एकीकृत करके ब्रह्मात्मक ही मानता है।

अतः यहां यह मीमांस्य बन जाता है कि किसी भी वस्तुके स्वरूपके साधारण निरूपण और लक्षणकथन में यही तो अन्तर माना जाता है कि साधारण निरूपण अंशेन निरूप्यैकदेश अव्याप्त या अनिरूपणीयमें अतिव्याप्त भी हो सकता है। लक्षणकथनमें, परन्तु, लक्ष्यैकदेशमें अव्याप्ति अथवा अलक्ष्यमें अतिव्याप्ति दोष हो तो या तो ऐसा वचन लक्षणकथन नहीं रह जाता अथवा लक्षणकथनका प्रयोजन स्वव्याहत हो जाता

है। यहां हम देख सकते हैं कि लक्षणतया प्रस्तुत वचन “जिसके कारण ये सारे भूत उत्पन्न होते हों जिसके कारण जीवित रह पाते हों जहां ये पुनः जा कर प्रलीन हो जाते हों वही तो जिज्ञास्य ब्रह्म होता है” इसे उपनिषद् ब्रह्ममेंसे प्रकट होनेवाले—अन्नमय प्राणमय मनोमय विज्ञानमय—कार्यरूपोंमें न केवल उपलब्ध होते माना है प्रत्युत यह और कहता है कि ब्रह्मजिज्ञासुने इन लक्षणोंमें निर्दिष्ट गुणधर्मोंके कारण अन्न-प्राण-मन-विज्ञानको ब्रह्मतया जाना भी!

इस तरह तथाकथित अब्रह्मात्मक विषयोंके ब्रह्मात्मकतया ज्ञानको अन्यथाज्ञान मानना ब्रह्मज्ञानोपयिक उपासनार्थ भी हो सकता है ऐसा माननेका आग्रह रखें क्योंकि “यह सब कुछ ब्रह्म है। सब कुछ उसमें जन्म लेता है, उसमें जीवित रहता है और उसीमें लीन होनेवाला है, ऐसी उपासना शान्त हो कर करनी चाहिये” (छान्दो.उप.३।१४।१) इस वचनमें उत्पत्ति आदि उपासनार्थ उपदिष्ट हुवे होनेसे। अर्थात् कार्यरूपोंको ब्रह्मात्मक मानना अनावश्यक लग सकता है। इस तरह, परन्तु, कार्यलक्षणनिर्दिष्ट धर्मोंको उपासनार्थ कल्पित मानना अन्यान्य श्रुतिवचनोंसे संगत नहीं हो पाता। क्योंकि श्रुतिमें, “यह जो कुछ है, था या होगा सभी कुछ पुरुष ही है। वह तो ऐसी अमृतता स्वामी है कि भक्ष्यान्नका रूप धारण करनेपर भी वह तिरोहित नहीं होता... सारे भूत इस पुरुषके चारमेंसे एक पादकी तरह हैं... चाहे वह अन्नभक्षी जीवकोटिके हों या अभक्षी अजीवकोटिके पदार्थ। सब कुछ उसीमेंसे प्रकट हुवा है”, “...तब उसके अलावा अन्य कुछ था ही नहीं... वह एकाकी अपने तप और अपने माहात्म्य के कारण जनमा” (ऋक्संहि.१०।७।९०।१-४, ११।१२९।२-३) इन श्रुतिवचनोंमें देखा जा सकता है कि जिस ब्रह्मका एकमेवाद्वितीय होना निरूपित हुवा उस एकाकी ब्रह्ममें तब उपास्य और उपासक का ऐच्छिक भेद प्रकट ही नहीं हुवा था। ऐसी स्थितिमें उपासनार्थ गुणकल्पना अप्रसक्त लगती है। क्योंकि मूर्तिकी तो भगवान्के रूपमें उपासना सोची जा सकती

है परन्तु भगवान्की मूर्तिके रूपमें उपासना करना रमणीय रीति तो नहीं लगती! अतः ब्रह्माण्डमूर्तिकी ब्रह्मतया उपासनाका कुछ औचित्य हो सकता है परन्तु मूर्तरूपको मिथ्या मानना हो तो ब्रह्मकी ब्रह्माण्डमूर्तितया उपासनाका औचित्य क्या! यथालक्षणनिर्दिष्ट ब्रह्मके तत्त्वबोधमें यह उपासना साधक होनेके बजाय बाधक लगती है, यदि इन कार्यरूपोंको ब्रह्मरूप नहीं माना जाता तो. न केवल इतना प्रत्युत ब्रह्मको उद्देश्य बना कर स्वरूपलक्षणतया विधेय बनते सत्यज्ञानानन्त धर्मोंके बारेमें भी ऐसा सोचा जा सकेगा : वस्तुतः तो इन विधेयोंका उद्देश्य बन पाये ऐसा कोई 'ब्रह्म'नामक द्रव्य या तत्त्व आवश्यक नहीं, जो कुछ सत्यरूप ज्ञानरूप और त्रिविधपरिच्छेदसे रहित हो उन्हें उद्देश्य बना कर उनके ब्रह्म होनेके विधानद्वारा उपासनोपयिक गुणवाचक 'ब्रह्म' नाम क्यों नहीं मान लेना! अर्थात् इनके प्रतीत्यसमुत्पादप्रभव संघातकी विकल्परूपा इकाईके लिये एक व्यावहारिक नाम 'ब्रह्म' प्रयुक्त हो रहा है. एतावता प्रतिभासमात्रशरीर संघातके घटक सत्य ज्ञान अथवा त्रिविध परिच्छेदरहित का ब्रह्म होना आवश्यक नहीं रह जायेगा.

कभी ऐसा स्वीकार लें तो उपनिषद् ब्रह्मवादी होनेके बजाय शून्यवादी ही लगने लगेंगे. जबकि 'ब्रह्म'को उद्देश्यतया निर्दिष्ट करते हुवे "...अविभात अद्वैत अचिन्त्य अलिंग स्वप्रकाश आनन्दघन शून्य बना" (नृसिं.उत्त.उप.६) विधान मिलता होनेसे औपनिषद् चिन्तनमें शून्यका ब्रह्म होना मान्य नहीं हो सकता. अखण्डार्थवादकी दुहाई देनेपर भी, क्योंकि, "तत् त्वम् असि" (छान्दो.उप.६।८।७) वचनमें भी त्वंकारास्पदको उद्देश्य बना कर तत्कारास्पदका विधान अभिप्रेत है; नकि तत्कारास्पदको उद्देश्य बना कर त्वंकारास्पदका, क्योंकि मोक्षार्थ त्वंकारास्पदका अज्ञान निवर्तनीय हो सकता है. तत्कारास्पदके तो सर्वज्ञ होनेसे अज्ञानिता ही असंभव होनेके कारण. अतः यदि कार्यवस्तु ब्रह्म न हों तो उनमें तत्त्वज्ञानार्थ या उपासनार्थ ब्रह्मके लक्षणको घटित करना अटपटी प्रक्रिया लगती है. जबकि उपनिषद्में सुस्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है

“उसने अन्नको ब्रह्मतया जाना. क्योंकि अन्नसे सभी भूत उत्पन्न होते हैं, अन्नके कारण जीवित रहते हैं; और अन्तमें प्रलीन हो कर पुनः अन्नभावापन्न हो जाते हैं... ऐसे ही प्राणको भी ब्रह्मतया जाना क्योंकि प्राणसे उत्पत्ति-स्थिति-लय सभीकी होती है... मनको भी ऐसा ही होनेके कारण ब्रह्मतया जाना... विज्ञानको भी ऐसा होनेसे ब्रह्मतया जाना... आनन्दको भी ऐसा होनेके कारण ब्रह्मतया जाना...” (वही).

संक्षेपमें एक आनन्दमयी मूलचेतना दूसरी विज्ञानमयी चेतना के समान ही तीसरी मनोमयी चेतनाका स्तर या प्रतिमान भी समानन्यायेन अंगीकरणीय लगता है. विशेषतः इसलिये कि मनोमय स्तरपर पुरुषविधताके घटक अंगतया ऋग्यजुस्सामाथर्वगिरस और आदेश का प्रतिपादन इस कोशके स्तरपर वैसी मनोमयी चेतनाके बिना उपपन्न नहीं हो पायेगा. यदि विज्ञानमय आत्मासे अन्य सभी कुछ अचेतनरूप होनेकी कठिनाई दिखलायी जाती है, तब भी “मनको ब्रह्म जाना क्योंकि मनसे ही ये सारे भूत जनमते हैं, मनके कारण जीवित रहते हैं; और मनकी ओर जा कर अन्तमें उसमें लीन हो जाते हैं” (तैत्ति.उप.२।४) इस विधानके कारण या तो स्वयं ब्रह्मको सचेतनरूप मनकी समष्टि मानना पड़ेगा. अथवा हमारे भीतर संकल्प-विकल्पात्मक व्यापार करनेवाले अन्तःकरणमें निगूढ़ अन्तर्यामीको 'मन' कहा जा रहा है, ऐसी गौणवृत्ति अथवा परममुख्यावृत्ति के वश ऐसा मानना पड़ेगा. पर्यवसान दोनों तरहकी उपपत्तियोंका प्रकृत मुख्यार्थबाधमें होगा.

हम देख चुके कि यह निरूपण केवल उपासनार्थ तो हो नहीं सकता. अतः अधिकाधिक यह अवश्य कहा जा सकता है कि मन प्राकृत विकार (महद् अहंकार पंचतन्मात्रा मनो बुद्धि ज्ञानकर्मेन्द्रिय और पंचमहाभूत प्राकृत गणके अन्तर्गणित) होनेके कारण पुरुषचैतन्य उसमें मान्य नहीं हो सकता. यह तो ठीक है पर अयोगोलकन्यायसे मनमें चेतना संक्रान्त नहीं हो सकती ऐसा भी तो नहीं. अतः सर्वथा देश-काल-स्वरूपके

परिच्छेदोंसे रहित अथवा सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदरहित आनन्दमयी निगूढतम चेतनाके बाद जैसे विज्ञानमयी चेतना अणुपरिमाण होनेके कारण प्रत्येक शरीरमें भिन्न-भिन्न होनेके कारण पूर्वसे विलक्षण रूपमें शरीरमें यज्ञादि कर्मोंके कर्तृत्वभावकी धारक बनती है(द्रष्ट.तैत्ति.उप.३।५), वैसे ही मनोमयी चेतना भी, पुरुषसे मनमें संक्रान्त होनेके बाद, मनके संकल्प-विकल्पात्मक स्वभावकी वाहिका बन जाती है।

अतः औपाधिक स्वरूपको मिथ्या ही माननेका दुराग्रह न हो तो चेतनाका ऐसा एक स्वाभाविक न सही औपाधिक ही सही परन्तु एक अमिथ्या स्वरूप तो सिद्ध होगा ही।

(७.चेतनाके विविध प्रतिमान या स्तर में कुछ अनौपाधिक तो कुछ सोपाधिक भी हो सकते हैं)

इस सन्दर्भमें भागवतमें उद्धव-श्रीकृष्णके संवादरूपेण एक रोचक शंका-समाधान हमें मिलता है :

उद्धव – यद्यपि प्रकृति और पुरुष दोनों अपने-अपने विलक्षण स्वरूपवाले हैं फिरभी अन्योन्याश्रित होनेके कारण इन दोनोंके बीच रहा प्रभेद दिखलायी नहीं देता. क्योंकि प्रकृतिमें आत्मा दिखलायी देती है और आत्माके भीतर प्रकृति!

श्रीभगवान् – मेरी गुणमयी मायाके कारण एक निर्विकल्पक ब्रह्मके भीतर आधिभौतिक आध्यात्मिक और आधिदैविक तीन होनेके तीन विकल्प अवभासित होते हैं, जैसे अकेला एक सूर्य आधिभौतिकतया चक्षुर्ग्राह्य रूप, आध्यात्मिकतया रूपग्राहिका चक्षु-इन्द्रिय और उनका नियामक आधिदैविकतया अर्क तीन तरह अनुभूत होता है।

(भाग.पुरा.११।२२।२६-३१).

उल्लेखनीय है कि सूर्यरूप निर्विकल्पक अधिष्ठानपर ग्राह्य रूप, ग्राहिका चक्षु; और नियामक अधिदेव रूपी विकल्पोंका आरोप नहीं माना जा सकता. क्योंकि ये, पारमार्थिक सत् न भी हों पर व्यावहारिक सत्यके स्तरपर ही सही प्रकट तो हुवे हैं, सूर्योपादानक कार्यतया प्रकट होते हैं, सूर्याधिष्ठानक विवर्ततया नहीं. इसी तरह ब्रह्म और सृष्टि के बीच भी उपादानोपादेयभाव ही उपपन्न होता है. प्रश्नकर्ता ब्रह्मसदंशरूपा जड़प्रकृति और ब्रह्मचिदंशरूप चेतनपुरुष को लोकसाधारण अनुभूतिके अनुसार अन्योन्याश्रित मान इनमें विवेक कर पाना कठिन मान रहे हैं. समाधानकर्ता भगवान् के अनुसार प्रकृति-पुरुषान्यताका विवेक लीलार्थ परिगृहीत दो विलक्षण रूपोंके विकल्पावगाहनपर अवलंबित है. एकमेवाद्वितीय भगवान् ने अनेकभावापन्न होनेकी अपनी सर्वभवनसामर्थ्यरूपा मायाको करण बना कर देश-काल-स्वरूपातीत अक्षरब्रह्मरूप अपने सर्वाधाररूपमें सृष्टिकी उपादानरूपा जड़प्रकृति और निमित्तकारणरूप चेतनपुरुष, यों दो आत्मविलक्षणरूपोंमें स्वयंको ही विभक्त किया. इन्हें, परन्तु, एकदूजेसे असहकारितया अवान्तरकारणतया नहीं प्रकट किया. अतः अन्योन्याश्रित बना दिया. अन्यथा ये अन्योन्याश्रित ही नहीं अन्योन्यगर्भित हैं और अन्योन्यात्मक भी. अपने मूलरूप ब्रह्मसे तादात्म्याभावापन्न होनेके कारण “तदभिन्नस्य तदभिन्नाभिन्नत्वं” न्यायेन.

(८.सच्चिदानन्द ब्रह्ममें से त्रिगुणात्मिका प्रकृति और त्रिगुणातीत एवं गुणत्रयबद्ध पुरुष के प्राकट्यकी प्रक्रिया)

वाल्लभ वेदान्तमें अतएव प्रकृति-पुरुषका वैलक्षण्यप्रयुक्त द्वैत आत्यन्तिक या स्वाभाविक न हो कर भगवल्लीलार्थ प्रकट “उसने द्वितीयकी इच्छा की” (बृह.उप.१।४।३) श्रुतिवचनोक्त ऐच्छिक द्वैत है. और ब्रह्मके सत्यकाम होनेके कारण स्वयं उसमें से दूसरा रूप प्रकट हो जाता है. यह स्वाभाविक अद्वैतमें ऐच्छिक द्वैत को अपनानेकी और ऐसे ऐच्छिक द्वैतमें स्वाभाविक अद्वैतके अक्षुण्ण रहनेकी प्रक्रिया ‘कनककुण्डल’न्यायेन स्वीकृत है. अतएव लौकिक प्रत्यक्ष या आनुमानिक

तर्क के आधारपर सृष्टिकारणतया जो अवभासित होते हैं उन्हें एकान्तिकतया अस्वीकार करनेके बजाय उपनिषद् एक महाएकीकरणकी अवधारणा प्रस्तुत करनेको कहते हैं “काल स्वभाव नियति यदृच्छा भौतिक पदार्थ उनकी योनि प्रकृति और पुरुष ये सब अथवा इन सभीका परस्परसंयुक्त स्वरूप आत्मभाववशात् भी नहीं क्योंकि आत्मा भी असमर्थ होनेके कारण स्वयंको मिलते सुख-दुःखका हेतु नहीं माना जा सकता है. अतः उन्होंने ध्यानयोगमें परायण हो कर यह साक्षात्कार किया कि दिव्यगुणोंके कारण अपनी शक्तिको निगूढ़ रखनेवाला कालस्वरूपसे इन सारे कारणोंका अधिष्ठाता कोई एक है” (श्वेता.उप.१।२-३)

अतएव भागवत-द्वितीयस्कन्धके अन्तर्गत ब्रह्मा-नारदके संवादमें इस महा-एकीकरणकी आधारभूत प्रक्रिया इन शब्दोंमें वर्णित की गयी है :

“द्रव्य कर्म, काल, स्वभाव और जीव भी वासुदेवसे तत्त्वतः अन्य अर्थ नहीं हैं. ऐसे अखिलात्मा कूटस्थ सर्वद्रष्टा निर्गुण विभु ईश्वरने मायाद्वारा “मैं सृज्य सृजन सृष्टा बनु!” ऐसी आकांक्षाके वश सत्त्व रज तम ये तीन गुण स्थिति सर्ग निरोध करनेको गृहण किये जो प्रत्येक कार्यके भीतर आधिभौतिक द्रव्यतया, कारणके भीतर आध्यात्मिक क्रियाके रूपमें और कर्ताके भीतर आधिदैविक ज्ञानतया प्रकट हो कर (अभिमानि न बनता हो तो) सर्वदा मुक्त पुरुषको मायिक गुणोंके अभिमानवश बांध लेते हैं. चाहे काल हो या कर्म हो या स्वभाव हो, ये सारे रूप मायाके अधीश्वर भगवान्ने अपनी मायाद्वारा लीलया उनकेभावापन्न होनेको गृहण कर रखे हैं. कालके कारण प्राकृत गुणोंमें क्षोभ उत्पन्न होता है, स्वभावके कारण प्रत्येक पदार्थका कुछ नियत परिणाम होता है,

कर्मका जन्म होता है पुरुषमें अधिष्ठित महत् तत्त्वके कारण, रजोगुणके विकारवश उससे मन तथा दशविध इन्द्रियों का जन्म... ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति वाले बुद्धि और प्राण. इसी तरह श्रोत्रेन्द्रिय त्वगिन्द्रिय घ्राणेन्द्रिय चक्षुरिन्द्रिय रसनेन्द्रिय वाणी बाहू जननेन्द्रिय चरण और मलविर्जनेन्द्रिय प्रकटे. ऐसे ये भौतिक पदार्थ इन्द्रियां मन जब एक-दूजेसे जुड़े बिना पुरुषके अवस्थित होने लायक आयतन=पुर बनने लायक सिद्ध नहीं हुवे तब भगवान्की शक्तिसे प्रेरित हो कर ये परस्पर संहत हो कर सदसद्रूप कार्य-कारणभावात्मक प्रकाशाप्रकाशभावात्मक आदि अनेक-विध परस्परविरुद्ध गुणधर्मोंसे घटित स्थूल-लिंग शरीररूप पुर बन पाये.

(भाग.पुरा.२।५।१४-३२)

इन भागवतकारिकाओंकी व्याख्या करते हुवे महाप्रभु कहते हैं कि ज्ञानके दो प्रकार हैं : १.उपनिषत्सिद्ध २.सांख्यसिद्ध. वैसे तो ये दोनों परस्पर विरोधीसे लगते हैं क्योंकि औपनिषद् ज्ञान सभी कुछ आत्मा है ऐसा प्रतिपादन करते होनेके कारण आत्मतया सभी पदार्थोंकी अवधारणामें पर्यवसित होते हैं. और उस आत्माको सभीसे विलक्षण दिखला कर सर्वव्यावृत्ततया केवल आत्माके बारेमें सांख्यसिद्ध ज्ञान प्रदान करता है^(१५-१६)... जबकि जिस तत्त्वका यहां वर्णन हो रहा है वह मूलतः नाना नहीं है किन्तु सकल नानात्वमें अन्तर्निहित एक तत्त्व है. जो भी नानात्व यहां अनुभूत होता है, वह पांच अंगोवाला है और उन पांचों नाना रूपोंका तत्त्व यदि स्वयं भगवान् हों तो उन पांचके कारण प्रकट होते असंख्य कार्यरूप तत्त्व भी भगवान् ही सिद्ध होंगे. आधिभौतिक द्रव्योंके समवायिकारण महाभूत आदि. कर्म जगतके जन्मका निमित्तभूत साधारण कारण जैसे होता है, वैसे ही भूतसंस्काररूप भी. काल प्रकृतिके साम्यावस्थामें अवस्थित तीन

गुणोंमें क्षोभ उत्पन्न करनेवाला जैसे होता है, वैसे जगत्का निमित्तकारण भी. जिस वस्तुका जो परिणाम जैसा होता है, वह उसके वैसे स्वभावके वश होता है. जीव इन सभीके बन्धनोंसे घिरा द्रष्टा-कर्ता-भोक्ता बनेवाला भगवान्का अंश है^(१४). भगवान् स्वयं अन्तर्निहित सम्भावित नाम-रूप-कर्मोंके द्रष्टा और ईश्वर होनेके कारण उन्हें प्रकट करने समर्थ हैं. कूटस्थ होनेके कारण इस सृष्टिको अपने भीतरसे प्रकट करनेके बावजूद भगवान् अविकारी ही रहते हैं. पुराणोंमें कामधेनु कल्पतरु या चिन्तामणि से बहुत कुछ प्रकट होता वर्णित होता है एतावता वे विकारी नहीं बन जाते. भगवान् अखिलात्मा होनेके कारण न तो इस सृष्टिको प्रकट करनेके कारण किसीका पक्षपात करते हैं और न किसीके प्रति निष्ठुरता ही^(१५). सच्चिदानन्दरूप भगवान् स्वयंके सत्में से सत्त्वगुण चित्में से रजोगुण और और आनन्दमें तमोगुण पहले प्रकट करते हैं. इन तीनमें से रजोगुणको सृष्टिके उत्पत्तिके हेतु सत्त्वगुणको पालनके हेतु और तमोगुणको सृष्टिके निरोधहेतु प्रयोगमें लाते हैं. भगवान् इन अपने गुणोंको करणतया प्रयोगमें लाते हैं. ये ही गुण सृष्टिमें प्रकृतिके वैषम्यभाववश प्रकट हो कर कार्यरूप आधिभौतिक देह, करणभूत आध्यात्मिक इन्द्रियां और कर्तृभूत आधिदैविक अन्तःकरण इसी तरह आधिभौतिक द्रव्य, आध्यात्मिक क्रिया और आधिदैविक ज्ञान को आधार बना कर अपना प्रकृतिके साथ पुरुषको बांध देते हैं. ये परमात्माको नहीं बांधते पर जीवात्माको बांध लेते हैं. उसका कारण इन गुणोंके परिच्छिन्न कार्योंका जो अभिमानके साथ अनुभव करता है उसे ये गुण बांधते हैं, निरभिमानी होनेपर नहीं^(१६). जैसा कि कहा जा चुका इन गुणोंमें उथल-पुथल कालके कारण चलती ही रहती है. तत्तद् द्रव्योंके स्वभाववश अतः कुछ-कुछ परिणाम प्रकट होता रहता है. और प्रकृतिके प्रथम विकार महत्=चित्त^(समष्टिरूपेण) या बुद्धि^(व्यष्टिरूपेण) के कारण जो पुरुषमें अधिष्ठित होते हैं उसके कारण कर्म उत्पन्न होता है. इसी क्रममें रजोगुणकी प्रधानतासे ज्ञान-क्रियाशक्तिवाला अहंकार और तमोगुणकी प्रधानतासे शब्दगुणवाला आकाश यों पांच

तन्मात्रा और पंचमहाभूत भी प्रकट होते हैं^(१७-१९). एक महत्त्वपूर्ण बात इन नाना पदार्थोंके बारेमें भागवतमें यह भी उपलब्ध होती है कि मूलमें ये सारे पदार्थ जब असंहत थे तब कोई भी आयतन=पुर बन नहीं पाया अतः भगवान्की शक्तिसे प्रेरित होकर जब ये परस्पर संहत हुवे तभी पुरुषके अवस्थित होने योग्य पुर बन पाया.^(३२-३३). इस स्तरपर आ कर जो एक अखण्ड एकरूप तत्त्व था वही अनेक खण्डोंमें बंट कर पुनः संघातात्मक एकत्वका वाहक बन जाता है.

गीता-भागवतपर अवलंबित वाल्लभ वेदान्तानुमत चेतनाके विविध प्रतिमान या स्तर जाननेको इन वचनोंमें वर्णित प्रक्रिया विद्वद्गोष्ठिमें अतीव उपेक्षित होनेपर भी सिद्धान्ततः निरतिशय महत्त्वपूर्ण है.

इसके अलावा देवहूति-भगवान् कपिलके संवादमें भागवतमें ये मननीय प्रश्नोत्तर मिलते हैं कि माता देवहूतिके सृष्टिके कारणभूत प्रकृति-पुरुष, जिनसे यह सदसदात्मक सृष्टि उत्पन्न होती है, के लक्षणोंकी जिज्ञासा प्रकट करनेपर भगवान् श्रीकपिल महर्षिने समझाया कि स्वयं प्रकृति सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिका सदा एकरूपेण अवस्थित और अव्यक्त रहनेवाली सदसदात्मिका सभी विशेष नाम-रूप-कर्मोंकी उपादानरूपा होनेके कारण निर्विशेष होती है. प्रतिपादनकी महाप्रभुविरचित व्याख्याके भी अवगाहन करनेसे यह स्पष्ट होता है कि सच्चिदानन्द ब्रह्मका सदंश ऐसा नहीं होता कि वह चिदात्मक न हो; और, चिदंश ऐसा नहीं होता कि वह आनन्दात्मक अर्थात् देश-काल-स्वरूपकृत परिच्छेदोंके कारण प्रकट होते शोक-मोहसे रहित न हो. आत्मविभाजनकी प्रक्रियामें, परन्तु, अंशतः इन अंशोंमें स्वयंके अलावा शेष दो गुणोंको तिरोहित=अप्रकट बनाया जाता है. तब ये तीनों अंश अक्षरब्रह्ममें गुणतया प्रकट हो कर तथा अपनी साम्यावस्थामें मिश्रित होनेपर अव्यक्त प्रकृतिरूपको अक्षरब्रह्ममें प्रकट करते हैं. आनन्दांशके तिरोधानवश सच्चिदानन्द ब्रह्ममें से दूसरी ओर अक्षरब्रह्मके भीतर चिदंशरूप पुरुष भी प्रकट होता

है. स्वरूपबलके कारण ये क्रिया-ज्ञान-आनन्द गुणतया प्रकट होनेपर भी सत्त्वजस्तमोगुणोंकी साम्यावस्थारूपा प्रकृतिमें उसके भीतर उत्पत्ति-स्थिति-लयके हेतु बननेवाले गुणधर्मोंका रूप धारण कर लेते हैं. इसके बाद तीन गुणोंकी साम्यावस्था प्रकृतिमें, त्रिवृत्करणके जैसी प्रक्रियाके आधारपर, उस साम्यावस्थाको क्षुब्ध करनेवाले भगवच्चेष्टारूप कालके कारण, अर्धांशमें सत्त्वगुण बढ़ जाता है और शेष अर्धांशतया रजस्तमोगुण घट जाते हैं. इसके कारण उसमें 'महत्' नामक तत्त्वान्तर उद्भूत हो जाता है. वह महत् तत्त्व और उसके बाद प्रकट होनेवाले अन्य प्राकृत तत्त्वोंकी परम्पराके प्रादुर्भावकी प्रक्रिया भगवद्गीता और भागवतपुराण में इस तरह निरूपित हुयी है :

“मेरा एक स्वरूप योनिरूप महद् ब्रह्म है जिसमें मेरे द्वारा चैतन्यका गर्भाधान किये जानेपर सभी भूतोंका जन्म होता है”. “देवचेष्टारूप कालके कारण प्रकृतिके तीन गुणोंमें क्षोभ उत्पन्न होनेपर प्रकट होनेवाले चैतन्याधानक्षम योनिरूप अंगमें चैतन्यरूप वीर्यका आधान होनेपर प्रकृति हिरण्मय महत् तत्त्वको प्रकट करती है. इस महत् तत्त्वके भीतर सारा विश्व आत्मगत हो कर प्रकट होता है. यह स्वयं कूटस्थ होनेपर भी जगत्का अंकुर बन कर उभरनेपर अपने तेजसे आत्मप्रस्वापनरूप तमस्का तीव्ररूपमें पान कर लेता है. इसे सत्त्वगुणवाला स्वच्छ शान्त भगवान्का 'वासुदेव' नामक पद महदात्मक यह चित्त होता है... सच्चिदानन्द भगवान्के चिदंशरूप वीर्यसे प्रकट होनेवाले महत् तत्त्वके विकारतया क्रियाशक्तिवाला त्रिविध अहंकार प्रकट होता है”.

(भग.गीता.१४।३-भाग.पुरा.३।२६।१९-२३).

यद्यपि इन दोनों वचनोंमें प्रथम भगवद्गीताके अनुसार महत्तत्त्वमें

पुरुषचैतन्यके गर्भाधानका उल्लेख मिलता है परन्तु भागवतपुराणके अनुसार पुरुषके चैतन्यवीर्यरूप अंशका गर्भाधान महत्से भी पहले स्वयं प्रकृतिमें ही हो जानेके कारण चित्तरूप महत् तत्त्व निश्चेतन जड़रूप रह नहीं जाता. किसी भी रूपमें डिम्भतया स्वयं प्रकृतिमें अथवा प्राकृत महत्में वीर्यतया पुरुषचैतन्यके आधानकी प्रक्रियाके कारण दो तत्त्वोंका संघात सचेतन बन जाता है इसमें कुछ अन्तर नहीं पड़ता. यह मुख्यतया ध्यानमें लेने लायक बात है. दूसरी बात इस महत् तत्त्वको सर्वसम्भावक जगदंकुरतया वर्णित करनेके साथ-साथ अहंकार पंचतन्मात्रा बुद्धि-मन दशविध ज्ञान-कर्मेन्द्रिय पंचमहाभूत रूपी सभी प्राकृत विकारोंके प्रादुर्भावकी है. अतः उपनिषत्साररूप गीता-भागवतके अनुसार सृष्टिमें प्रकट होनेवाले प्राकृत जड़रूपोंके भीतर ही पुरुषचैतन्य वीर्यरूपेण आहित रहता है. मूलमें ब्राह्मिक स्तरपर जो सदंश और चिदंश की स्वभावसिद्ध अनौपाधिक एकता थी वह विभक्त हो जानेपर भी सृष्टिमें पुनः इतरेतरोपाधिक एकताका एक नवीन रूप प्रकट करती है. अतः चेतनाके विविध स्तरोंकी मीमांसामें यह महत्त्वपूर्ण प्रतिपादन सामने आता है.

इस दृष्टिकोणसे पूर्वोद्धृत तैत्तिरीयोपनिषद्के आनन्दमय विज्ञानमय और मनोमय के बाद आते प्राणमय और अन्नमय कोशोंके सचेतन होनेमें शंकाको कोई अवकाश नहीं रह जाता. फलतः आनन्दमयके सर्वान्तर्यामी होनेके तथ्यपर ध्यान रखनेपर अन्नमय स्तरतक भी ब्राह्मिकी सच्चिदानन्दता छूट नहीं जाती अनुगत हो रही है रूपभेदोंके साथ.

(१.चेतनाके प्राणमय आदि पुरोंके और पुरुषके साथ जुड़े विविध स्वरूप)

अतः अवशिष्ट प्राणमय और अन्नमय कोशोंको अचेतन मानना या चेतन यह जिज्ञास्य होता है. उपनिषदोंमें बहुधा 'प्राण' पदद्वारा जैसे प्राणापानव्यानोदानसमान शरीरान्तर्वर्ती वायुका निर्देश होता है वैसे ही ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का निर्देशन मिलता ही है. परन्तु प्राण

और मन के बीचमें ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का उल्लेख मिलता न होनेसे तथा सभी उपनिषदुक्त प्राणविद्याके अनुसार “न तो वाणी और न चक्षु न कर्ण और न मन ही कहना आवश्यक है इन्हें ‘प्राण’ कहना ही पर्याप्त है क्योंकि प्राण ही तो सब कुछ बनता है” (छान्दो.उप.५।१।१५) अतः इस मनोमयकी अपेक्षासे प्राणमयपुर और अन्नमयपुरकी अपेक्षासे प्राणमय पुरुषके रूपमें प्रकटे ब्रह्मरूपमें ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय में प्रकट होती चेतनाके प्रतिमान या स्तर का भी विचार प्रसक्त ही है।

आधुनिक विज्ञान चार्वाकमतकी तरह जड़ पदार्थोंके संघातविशेषसे चेतना जड़ पदार्थोंके गुणधर्मतया प्रकट होती है, इसपर भार देता है। इसके विपरीत प्राचीन द्वैतवादी भारतीय अनेक मतोंमें, यथा, जैन न्याय वैशेषिक सांख्य योग रामानुज माध्व आदि वेदान्तके द्वैतवादिसम्प्रदायोंमें, ऐसे ही यूरोपके भी मेटाफिजिकल् और सायकोलोजिकल् इयुअलीजम् स्वीकारनेवाले मतोंमें चेतन और अचेतन प्रभेदपर अत्यधिक भार दिया गया है। यही नहीं बल्कि शांकर वेदान्त तो एकान्तिक अद्वैतवादी होनेपर भी “युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोः विषयविषयिणोः तमःप्रकाशवद् विरुद्धस्वभावयोः इतरेतरभावानुपपत्तौ सिद्धायां तद्धर्माणामपि सुतराम् इतरेतरभावानुपपत्तिः... तथापि अन्योन्यस्मिन् अन्योन्यात्मकताम् अन्योन्यधर्मान् च अध्यस्य इतरेतरविवेकेन अत्यन्तविविक्तयोरपि धर्मधर्मिणोः मिथ्याज्ञाननिमित्तः सत्यानृते मिथुनीकृत्य ‘अहम् इदम्’-‘मम इदम्’ इति नैसर्गिको अयं लोकव्यवहारः” (ब्र.सू.शां.भा.१।१।१) यों पारमार्थिक न सही फिरभी अपारमार्थिक अत्यन्त विविक्त स्वभावरूप द्वैत ही दोनोंके बीच मानता है।

द्वैतदर्शनोंके इस तरहके भारतीय प्रकारों और अद्वैतवेदान्तके भी शांकर प्रकारसे पृथक् प्रकारके अद्वैतको वाल्लभ वेदान्त प्रस्तावित करना चाहता है। यह प्रकार भारतमें काश्मीरी प्रत्यभिज्ञा दर्शन तथा यूरोपमें

भी थेल्स पारमेनाइडस् आदिसे लेकर स्पिनोज़ा ए.एन.व्हाईटहेड पर्यन्त कई चिन्तकोंके मतोंमें अनेकरूपोंमें प्रकट हुवा है।

(१०. चार्वाकसदृश आधुनिक विज्ञान और ब्रह्मतादात्म्यवादी वेदान्त)

जहां तक प्राचीन चार्वाकसदृश आधुनिक विज्ञानकी इस बारेमें क्या धारणा है ऐसा सवाल हो तो अधःउद्धृत कुछ प्रतिनिधिरूप वचन अवधेय हैं :

Some of them feel that consciousness itself presents no particular problem

to a 'mechanistic' view of brain. Dean Woodlidge, the distinguished American scientist...has argued in *The Machinery of the Brain* that "we may soon come to accept the sense of consciousness itself as a natural phenomenon suited to being described by and dealt with by the body of laws and methods of the physical sciences." we may find, for example, that consciousness may be a function of specific voltage in a given nucleus of the brainstem.

('द माइन्ड' पृ.सं. १७९-१८०. जॉन्ह रौउन विल्सन, टाइम-लाइफ बुक्स).

The evolution of the capacity to simulate seems to have culminated in subjective consciousness. Why this should have happened is, to me, the most profound mystery facing modern biology. There is no reason to suppose that electronic computers are conscious when they simulate,

although we have to admit that in the Future they may become so. Perhaps consciousness arises when the brain's simulation of the World becomes so complete that it must include a model of itself. Obviously the limbs and body of a survival machine must constitute an important part of its simulated world; presumably for the same kind of reason, the simulation itself could be regarded as part of the world to be simulated.

('द सेल्फिश जीन्' पृ.सं. ५९ : रिचार्ड डॉकिन्).

In my laboratory at Cornell University we work upon prebiological organic chemistry... We mix together and spark the gases of primitive Earth: hydrogen, water, ammonia, methane, hydrogen sulfide—all present... throughout the Cosmos. The sparks correspond to lightning—also present on the ancient Earth and modern Jupiter... after ten minutes of sparking, we see a strange brown pigment slowly streaking the side of vessel... The tar is an extremely rich collection of complex organic molecules, including the constituent parts of proteins and nucleic acids. The stuff of life,...

(कॉस्मॉस् पृ.सं. ३८ : कार्ल सेगान्).

Life, to a rough approximation, consists of the chemistry of three atoms, hydrogen carbon and oxygen, which between them make up ninety-eight per cent of all atoms in living beings.

(जेनोम पृ.सं. १५ : मट्ट राइडली).

इन विधानोंको दृष्टिपातनमात्रद्वारा पढ़नेपर भी आधुनिक जीवविज्ञानके प्रयोग और निष्कर्ष, भौतिक शरीर और अभौतिक शारीरिक प्रत्यगात्मा के प्रभेदको निरस्त कर देते से लगते हैं. अतः इस प्रभेदपर आधारित कर्मफल, अशरीरी जीवात्माको होती स्वर्ग-नरकादि लोकोंकी प्राप्ति और विदेहमुक्ति की शक्यतासे भी ये प्रयोग और निष्कर्ष सर्वथा विरुद्ध बातें लगती हैं.

यद्यपि कुछ धर्मग्रन्थोंके अनुसार परमेश्वरने जीवात्माका निर्माण भौतिक पदार्थोंसे किया ऐसा माना जाता है. फिरभी स्वर्गफल या नरकदण्ड का भोग तो भौतिकेतर चेतनाको दोबारा मिलनेवाले शरीरसे ही माना गया है. अतः वैज्ञानिक प्रयोग और निष्कर्ष जीवात्माके बारेमें अनेक धार्मिक आस्थाओंके मूलपर कुठाराघात जैसे लगते हैं.

इन विधानोंकी, परन्तु, उपनिषदोंमें वर्णित पंचाग्नविद्याके प्रकरणके साथ थोड़ी सी तुलना करने मात्रसे अन्य भी कुछ चित्र उभर सकता है.

वैसे इस सन्दर्भमें पुनः याद दिलाने लायक कुछ प्रमुख मुद्दे ये हैं : न केवल जनसाधारणमें प्रचलित धारणा; अपितु, मेटाफिजिकल् और सायकोलोजिकल् आत्मानात्मद्वैतवादी दार्शनिक एवं धार्मिक धारणाओंके अनुसार भी आत्मानात्माके सामान्यतया मान्य रखे गये प्रभेदक लिंग कुछ ऐसे हैं, उदाहरणतया : आत्मसम्भानता, आत्मेतर पदार्थोंके बारेमें अज्ञान संशय भ्रम प्रत्यभिज्ञान निश्चय स्मृति स्वप्न आकांक्षा उपेक्षा आशा-निराशा भीति उत्कण्ठा; इसी तरह विशेषसामान्य अर्थात् जाति-व्यक्ति के अवधारणाकी क्षमता गणनाक्षमता, मानसिक प्रत्ययोंद्वारा वर्गीकरण या विभाजन की क्षमता, आदि-आदि. ये सभी जिन बौद्धिक व्यायाम या उपकरणोंके बलपर प्रकट होते हैं, ऐसे सभी चित्त अहंकार बुद्धि मन प्राण या कर्मेन्द्रिय एवं ज्ञानेन्द्रिय, मूलतः वेदान्तदर्शनमें, स्वपरावभासिका

चेतनाके औपाधिक उपकरण हैं स्वभावसिद्ध नहीं. अतएव वेदान्त दर्शनमें 'रेशनालिटी'को इतर अमानव पशुओंसे व्यावर्तनकद्वारा आत्मारहित इतर प्राणिओंमें आत्मासहित होनेका लिंग नहीं माना गया है. क्योंकि वेदान्तदर्शनमें, इन सभी बुद्धिव्यापारोंके निर्वाहक करणोंको लीलार्थ आत्मविभाजनकी कामनाके वश प्रकट हुवा माना गया है. अतः ये ऐच्छिक रूपभेदकी तरह उस परमात्मासे प्रकट हुवे माने गये हैं. अर्थात् या तो कुछ परमात्माकी क्षर जड़प्रकृतिके परिणामतया मान्य किया गया है या फिर परमात्माके अक्षरपुरुषके अंशतया (द्रष्ट.भग.गीता.७।४-६).

स्पष्ट है कि सर्वसाधारण लोकाभिमत तथा शास्त्रज्ञ मनीषियोंकी सुचिन्तित धारणासे भी यह वेदान्तमत सर्वथा विपरीत लगता है.

बहुधा अब्राह्मिक धर्मचिन्तकोंको ब्राह्मिक आस्था पेगानिस्टिक (प्रकृतिपूजनवादी) होनेसे असंस्कृत अनागरिक वनवासी कबीलोंकी आदिम आस्था लगती है! वे, परन्तु, जिस तथ्यपर अपना ध्यान केन्द्रित नहीं करते हैं वह यह है कि श्रुति स्मृति पुराण महाभारत रामायण या तन्त्रागम आदि आर्ष ग्रन्थोंमें प्राकृत सरी सृप पक्षी पशु वृक्ष नदी पर्वत सूर्य आदिकी पूजनीयता उनके देश-कालगत नाम-रूप-कर्मोंकी पूजनीयताके साथ बंधी न हो कर देश-काल-स्वरूपातीत ब्रह्मके लोकमें प्रकट पूजापदोंके रूपमें पुरस्कृत की गयी है. वह तो अब्राह्मिक आस्थाओंमें भी अपने धर्मस्थल धर्मप्रतीक धर्मप्रवर्तक धर्मग्रन्थ आदिकी पूजनीयता या आदरणीयता परमेश्वरकी पूजनीयताके साथ स्पर्धाविश न हो कर परमेश्वरभजनके अंगतया ही मानी-मनवायी जाती है. तो अन्तर कहां प्रकट होता है? यही तो निरुक्तकार महर्षि यास्क भी “जो यज्ञ जिस देवके यजनार्थ होता है वह देव स्वयं या तो यज्ञरूप या यज्ञांग बन जाता है... उस एक आत्माके अन्य सारे देव प्रत्यंग बन जाते हैं... देवरूपोंके प्रभेदके बावजूद देवोंकी प्रकृति सर्वनामा (सर्वरूपा-सर्वकर्मा) होनेके कारण भी” (निरु.७।१।४-७।२।६).

निरुक्तकारका यह विधान तैत्तिरीयारण्यकके “सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वा अभिवदन् यद् आस्ते” (तैत्ति.आर.३।१२।७) श्रुतिमूलक ही प्रतीत होता है। अर्थात् परमात्माको सकल नाम-रूप-कर्मोंकी मूलप्रकृति मान कर अर्थात् सारे नाम, सारे रूप; एवं सारे कर्म, उस एकमेवाद्वितीय परब्रह्म परमात्मा परमेश्वर भगवान्‌के मान कर कभीभी-कहींभी श्रद्धास्पदताकी प्रतीतिके वश उस एकमात्रकी पूजा-आराधना की जा सकती है। अतएव जिस मूर्तिमें प्राणप्रतिष्ठा की जाती है उसमें केवल उस देवताकी नहीं प्रत्युत पुरुष प्राण प्रकृति बुद्धि अहंकार मन पंचतन्मात्रा दशविध ज्ञानकर्मेन्द्रिय पंचमहाभूत सत्त्वादिगुणत्रयी संक्षेप पुरुषसूक्तोक्त निखिल ब्रह्माण्डकी प्रतिष्ठाके बाद “येन रूपेण भगवन्! त्वया व्याप्तं चराचरं तेन रूपेण देवेश! स्वार्चायां सन्निधौ भव” (प्राणप्रति.निर्ण.सिं.) इन शब्दोंमें की जाती प्रार्थना ही सारी बातका खुलासा कर देती है।

‘कम्पेनियन टु द फिलोसोफी ऑफ साईन्स’ ग्रन्थमें अन्यतम आलेखप्रदाता श्री सी.ए.हूकर अपने निबन्धके उपक्रममें यह प्रतिपादन करते हैं कि हम जिस प्राकृतिक और जटिल एक विश्वमें एकसाथ रहते हैं, उसके बारेमें हमारे वैज्ञानिक बोधका एकीकृत होना अति आवश्यक लगता है, फिरभी सम्प्रति विज्ञानकी संरचना अतीव जटिल, अंशतः परस्पर संबद्ध, अंशतः असंबद्ध और अंशतः संबन्धासहिष्णु भी दिखलायी देती है। अतः ब्रह्माण्ड और विज्ञान के समक्ष प्रस्तुत मौलिक एकीकरणके तात्त्विक और प्रतिपिप्सित दो प्रारूपोंमें प्रथमके अन्तर्गत देश-कालात्मिका एकता, पदार्थात्मिका एकता, गुणधर्मात्मिका एकता एवं गत्यात्मिका एकता विचारी जा सकती हैं। वेदान्तमें, परन्तु, एकताके इन सभी विविध रूपोंका ब्राह्मिकी एकतामें अन्तर्भाव माना जा सकता है। जैसा कि पूर्वनिर्दिष्ट भागवतपुराणके “द्रव्यं कर्म च कालः च स्वभावो जीवएव च वासुदेवात् परो नच अन्यो अर्थो अस्ति तत्त्वतः” (भाग.पुरा.२।५।१४) वचनमें सृष्टिमें अनेकविध भेदके घटक सारे तत्त्वोंका वासुदेवात्मक या ब्रह्मात्मक एकीकरण प्रस्तावित किया

गया।

अतः उपनिषद् भगवद्गीता तथा भागवतादि पुराणों का इस विषयमें प्रामाण्य अनधिगत अबाधित विषयके ज्ञापकतया स्वीकारने बाधित होना पड़ता है।

इस प्रसंगवशात् आत्माके परलोकगमन और भूलोकमें पुनरागमन की उपनिषत्प्रतिपादित अद्भुत प्रक्रिया अतीव विचारणीय है :

(११.पंचाग्निविद्या)

छान्दोग्योपनिषद्के पंचाग्निविद्याके प्रतिपादनमें जीवात्माके इहलोकत्याग और इहलोकमें पुनर्जन्मग्रहण के निरन्तर चक्रवत् परिभ्रमणको यज्ञोपम माना गया है। एतदर्थ पांच प्रकारकी अग्नि पांच प्रकारकी उन अग्निको प्रज्वलित रखनेवाली समिधा, उनमेंसे पांच प्रकारके निकलते धूम, पांच प्रकारकी ज्वालायें, पांच प्रकारके अंगारे, पांच प्रकारके विस्फुलिंग=चिनगारी, पांच प्रकारकी आहुति और उन आहुतियोंके पांच प्रकारके फलोंका भी वर्णन किया गया है। इनमें शवके अन्तिमसंस्कारके बाद धूमरूढ हो कर ऊर्ध्वगमनके बाद इस परिदृश्यमान अग्निस्वरूप भूर्भुवस्स्वर्लोकको प्रज्वलित रखनेवाली समिधा आदित्यको माना गया, उसकी रश्मियोंको धूमरूप, दिनको ज्वालारूप, चन्द्रमाको अंगारोपम, नक्षत्रोंको चिनगारी जैसे मान कर इहलोकरूप अग्निमें अन्तिम संस्कारकी प्रक्रियाद्वारा श्रद्धारूप जलकी धूमद्वारा आहुति दिये जानेके कारण सोम तत्त्व प्रकट होता माना गया है। उस सोमतत्त्वकी आहुति बहल्लोकी अग्निमें दी जाती है। यह अग्नि वायुद्वारा प्रज्वलित होता है, तब जलसे भरे मेघ उसके धूमसदृश बन जाते हैं, विद्युत् ज्वालारूप बन जाती है, अशनिपात अंगारोंकी तरह बिखरे रहते हैं, मेघगर्जना चिनगारीकी ध्वनि प्रकट करती है, ऐसी अग्निमें सोमकी आहुति दिये जानेपर वर्षारूप यज्ञफल प्रकट होता है। इस वर्षाकी आहुति पृथिवीरूप अग्निमें देनेपर अन्न

रूप यज्ञफल प्रकट होता है। इस अन्नकी आहुति पुरुषरूप अग्निमें दिये जानेपर रेतस् यज्ञफलके रूपमें प्रकट होता है। इस रेतस्की आहुति योषित् रूप अग्निमें दिये जानेपर गर्भरूप यज्ञफल मिलता है। वह गर्भगत जीव यथोचित कालके बाद जब बाहर आता है तब यथायथ काल पर्यन्त जीवित रह कर मरनेके बाद पुनः इसी तरह पंचविध यज्ञाग्निओंमें आहुतिप्रदानकी पंचविध प्रक्रियाओंद्वारा निरन्तर जनमता-मरता रहता है।

आधुनिक विज्ञानमें जैसे नाईट्रोजनकी सायकल समझायी गयी है, उसके समानान्तर चलती यह प्रक्रिया है। लक्ष्यमें रखने लायक बात यह है कि इस प्रक्रियाके अन्तर्गत जीवात्मा केवल पुरुषशरीर ही नहीं प्रत्युत सोमशरीर वर्षाशरीर अन्नशरीर और रेतशरीर भी धारण करता है। इसे ही उपनिषद्के सन्दर्भान्तरमें भी उक्त प्रकारसे अवलोकन करना हो तो “यथा इतम् आकाशम्, आकाशाद् वायुं, वायुः भूत्वा धूमो भवति, धूमो भूत्वा अभ्रं भवति, अभ्रं भूत्वा मेघो भवति, मेघो भूत्वा प्रवर्षति, त इह ब्रीहियवाः ओषधयः वनस्पतयः तिलमाषा इति जायन्ते, अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरम्. यो-यो अन्नम् अग्निं यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति” (छान्दो.उप.५।१०।५-६) इस प्रकारसे निरूपित किया गया है। स्पष्ट है कि आवागमनकी यह प्रक्रिया, जिन्हें ऑर्गनिक शरीरतया तथा इन्-ऑर्गनिक पदार्थतया माना जाता है, दोनोंमें जीवात्माकी विद्यमान होनेकी गवाही देता है। अतः इन्-ऑर्गनिक पदार्थोंके भीतर भी जीवात्माके विद्यमान होनेके कारण उनके संमिश्रणसे सूक्ष्म जीवित कणका अपने सूक्ष्मतर जीवनोपादानकारक कणोंके संयोजनके वश प्रकट होना औपनिषदिक मन्तव्यसे बहुत विरोध रखनेवाली कथा कैसे मानी जा सकती है?

इन विविध भौतिक तथाकथित निर्जीव पदार्थोंमेंसे सजीव शरीरोंमें जीवात्माके आवागमनकी कथा चेतनाके हायबर्नेशन जैसे सुषुप्त स्तर

और जाग्रत्स्तरोंके प्रभेदको स्पष्ट जान पानेका समुचित आधारप्रद हेतु हैं। इसमें एक मुख्यतया अवगन्तव्य तथ्य यह भी है कि ब्रह्माण्डके मूलतत्त्व ब्रह्मके बारेमें जब ‘परमात्मा’ पदका प्रयोग किया जाता है तब मूलतः ‘आत्म’पदकी विवक्षा “यद् आप्नोति, यद् आदत्ते, यच्च अग्निं विषयान् अयं, यच्च अस्य सततं भावः, तस्माद् ‘आत्मा’ निरुच्यते” (लिङ्गपुरा.१।७०।९६) इस श्लोकोक्त तथ्यको इंगित करनेमें है। अर्थात् ब्रह्माण्डगत कोई भी वस्तु ब्रह्मके लिये अनवाप्त नहीं है अनादत नहीं है या अनुपभुक्त या अनुपभोग्य नहीं है। विविध नाम-रूप-कर्मोंका यह महा-एकीकृत रूप उस तत्त्वके एक-चतुर्थांशमें आश्रित रहता है यह “पादो अस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्य अमृतं दिवि. त्रिपाद् ऊर्ध्वम् उदैत् पुरुषः पादो अस्य इह अभवत् पुनः. ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि” (ऋक्संहि.१०।१०।३-४) वचनमें निरूपित किया गया होनेसे। ऐसे सर्ववस्तुओंके साथ ज्ञाता नियन्ता और भोक्ता होनेके उसके सातत्यके कारण उसे ‘परमात्मा’ कहा जाता है।

अतः पारमात्मिकी चेतनाके सर्वविध रूप-नाम-कर्म-व्यापी स्तरके अननुरूप स्वयंके अंशात्मक परिच्छिन्न शरीरमात्रको व्याप कर रहनेवाली जीवचेतनाके अपरोक्ष रूपावभासनकी शारीरिक मर्यादा सहज समझी जा सकती है। वैसे यह अपरोक्ष रूपावभासन अत्यल्प होनेपर भी परोक्षवस्तुओंके नामावभासनार्थ तो ब्रह्माण्ड ही नहीं प्रत्युत ब्रह्म के अवभासनमें भी सक्षम है। रूपसृष्टि नामसृष्टिकी बाह्य देशकालवर्ती अचेतन बिम्बभूत होती है। नामसृष्टि रूपसृष्टिका अदृशिक-अकालिक चेतनागत प्रतिबिम्बोपम एक स्तरान्तर होता है। जैसाकि पूर्वोद्धृत रिचार्ड डॉकिन्सके “Perhaps consciousness arises when the brain’s simulation of the World becomes so complete that it must include a model of itself. Obviously the limbs and body of a survival machine must constitute an important part of its simulated world; presumably

for the same kind of reason, the simulation itself could be regarded as part of the world to be simulated. ”उद्धरणमें स्वीकारा गया है. अतः केवल शरीरके भीतर भी चेतना इस स्तरपर अनेकीकृत आभ्यन्तर विविध विषयोंका अवभासन नहीं कर पाती परन्तु सर्वतोभावसे उन्हें स्थूल एकीकृत रूपमें अवभासित करती है यह :

“प्राण प्रज्ञात्मा अमृत आयुके रूपमें उपास्य है... केवल वाणीके बलपर नाम कौन जता सकता है, या आंखोंसे रूप, कानोंसे शब्द, मनसे ध्यानार्थ! अतः प्राण ही एकीभूत हो कर एक-एक इन सभीका प्रज्ञापन करते हैं. वाणी जब भी कुछ बोलती है तो सभी प्राण अनुवदन करते हैं, आंख यदि देखती हो तो सभी प्राण अनुदर्शन करते हैं, कान कुछ सुनते हों तो सभी प्राण अनुश्रवण करते हैं, मन यदि कुछ ध्यान धरता हो तो सभी प्राण अनुध्यान कर पाते हैं.”

(कौषी.उप.३।२).

अतः तत्त्वदृष्ट्या जो एक अनेकवद्भावापन्न हुवा, उस अनेकभावापत्तिमें पुनः एकार्थक्रियाकारिताको अनुलक्ष्य कर परिदृष्ट अनेकतामें उस एकके अनुदर्शनोपयिक मार्गको चेतनाका यह स्तर प्रशस्त बना पाता है. यह “सारे भूतोंके अन्तःप्रभेद जिस एक तत्त्वमें आत्मतया समाहित हो पाते हैं, उसका विज्ञान प्राप्त होनेपर शोक-मोह रह नहीं जाते, ऐसे इस एकत्वके अनुदर्शनके कारण” (ईशा.उप.७).

अतएव मनुस्मृतिकारने कायिक वाचिक मानसिक शुभाशुभ कर्मोंके फलभोग यथायथ काया वाणी और मन द्वारा प्राप्त होते हैं, ऐसे सन्दर्भमें यह प्रश्न उठा कर कि किसे प्राप्त होते हैं? इस विषयकी मीमांसा करते हुवे भूतात्मा क्षेत्रज्ञात्मा जीवात्मा और परमात्मा के

प्रभेद दिखलाये हैं :

“कायिक वाचिक या मानसिक कर्म जो करता उसे ‘भूतात्मा’ कहा जाता है, जो कर्म करवाता है उसे ‘क्षेत्रज्ञात्मा’ कहा जाता है, जिसे ‘जीवात्मा’ भी कहा जाता है और ‘अन्तरात्मा’ भी यह सभी देहधारियोंके भीतर सहजतया अवस्थित होता है, जिसके कारण अनेक जन्मोंमें सुख-दुःखोंके अनुभवका चक्र चलता ही रहता है. उच्चावच भूतोंसे जुड़े आत्माके साथ रहनेवाले क्षेत्रज्ञात्मा और जीवात्मा दोनों ही परमात्माके भीतर अवस्थित रहते हैं. क्योंकि वह सभीके भीतर व्याप कर रहता है. आगमेंसे चिनगारी तरह असंख्य मूर्तियां उसमेंसे प्रकट होती हैं. जिनके कारण उच्चावच भूतोंमें निरन्तर कुछ न कुछ चेष्टा प्रकट होती ही रहती है.”

(मनुस्मृ.१२।१२-१४).

(उपसंहार)

ब्राह्मिक दृष्टिसे देश-काल-स्वरूपके परिच्छेदोंसे अतीत पारमात्मिक चेतनाके विभिन्न स्तर या प्रतिमान इस तरहके सोचे जा सकते हैं. उसकी अंशभूता उल्लिखित स्वरूपोंकी भी विविध अवस्थाओंके स्तर या प्रतिमान, यथा, स्वप्न निद्रा मूर्च्छा समाधि मुक्ति लीलात्मिका भक्ति आदिके अलावा आश्रयभावापत्ति सदृश अनेक अवस्थाओंका भी विवेचन इस आलेखपत्रकी परिधिमें समेटना कठिन कार्य होनेसे प्रस्तुत विषयके उपसंहारतया अन्तमें उपनिषत्का यह शान्तिपाठ ही आवर्तनीय लगता है :

ॐ आप्यायन्तु मम अंगानि, वाक् प्राणः चक्षुः श्रोत्रम्
अथो बलम्, इन्द्रियाणि सर्वाणि सर्वं ब्रह्मोपनिषदम्. मा

अहं ब्रह्म निराकुर्यां! मा-मा ब्रह्म निराकरोद्! अनिराकरणम्
मे अस्तु! तद् आत्मनि निरते ये उपनिषत्सु धर्माः ते
मयि सन्तु!

(छान्दो.उप.१।१।१).



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

॥१७. श्रीभागवतस्कन्धप्रकरणाध्यायविभाग सूचिका ॥

भगवत्प्रेमसे अन्य न कोई साधन उत्तम ॥
सदा भागवत पढ़ो-सुनो साधन सर्वोत्तम ॥१॥
द्रव्यलाभके हेतु उन्हें जानो अधमाधम ॥
दम्भप्रयोजनरहित होंय तो जानो सत्तम ॥२॥
वल्लभका उपदेश भला क्यों भूल गये हम ! ॥
पुष्टिमार्ग-अनुगामी होनेका भरते क्यों दम ? ॥३॥
प्रभुचरण श्रीगोपीनाथ वल्लभसुत सक्षम ! ॥
पंचशती निष्ठाप्रद उत्सव बने महत्तम ॥४॥

(उपक्रम)

भागवतार्थनिबन्धमें उपदिष्ट रीतिके अनुसार श्रीभागवतीय स्कन्ध प्रकरण एवं अध्याय के विभागोंका निरूपण समझनेसे पहले कुछ बातें जान लेनी आवश्यक हैं.

श्रीभागवत महापुराणके अनुसार—

मनुष्यके लिये सबसे श्रेष्ठ धर्म तो वही होता है कि जिसके कारण अधोक्षज भगवान्‌के बारेमें फलोंकी कामनासे रहित अहेतुकी एवं रोग आदि प्रतिबन्धोंसे रहित अप्रतिहता भक्ति सिद्ध हो पाये. इसके कारण, स्वयं परमात्माकी तरह ही, भगवद्भक्तोंके आवेशवश जीवात्माका अन्तःकरण भी सुप्रसन्न हो पाता है. क्योंकि भगवान्‌ वासुदेवके साथ भक्तियोगके द्वारा जुड़नेपर सहज ही जागतिक विषयोंमें

वैराग्य और जगदीशके गुण-धर्म-लीला-में अनुराग प्रकट हो जाता है. अन्यथा भलीभांति धर्मानुष्ठान करनेपर भी भगवत्कथामें यदि रति उत्पन्न न होती हो तो ऐसे धर्मानुष्ठानको निरर्थक श्रम ही केवल समझना चाहिये. क्योंकि मोक्षप्रदायक धर्मपुरुषार्थका प्रयोजन कभी आर्थिक लाभ हो नहीं सकता. धर्मप्रसाधक अर्थपुरुषार्थका प्रयोजन कभी क्षुद्रकामनाओंकी तुष्टिको माना नहीं जा सकता. इसी तरह कामपुरुषार्थका प्रयोजन केवल अपनी इन्द्रियोंको सुखप्रदान करनेमात्रमें परिसीमित कभी माना नहीं जा सकता. क्योंकि स्वयं जीवनका भी प्रयोजन केवल जीवके स्वरूपज्ञानमें परिसीमित किया नहीं जा सकता है. तत्त्ववेत्ताओंके अनुसार परम तत्त्व तो वह अद्वय ज्ञान होता है जिसे 'ब्रह्म' 'परमात्मा' और 'भगवान्' कहा जाता है. मुनिगण ऐसे उस तत्त्वमें श्रद्धा रखते होनेके कारण श्रुतिगृहीत भक्तिद्वारा उस तत्त्वको अपनी आत्माके भीतर विद्यमान आत्माके रूपमें ही निहारते हैं. अतः वर्णाश्रमके विभाजनके अनुसार साधारण पुरुषोंकी तुलनामें जैसे द्विजोंको श्रेष्ठ माना गया है, वैसे ही धर्मोंका भी भलीभांति अनुष्ठान करना, अन्ततः तो आत्मा और परमात्मा दोनोंको सन्तुष्ट करनेवाला हो तभी श्रेष्ठ माना जाना चाहिये. अतः यहां-वहां भटकनेके कारण अपना मन व्यग्र न हो पाये, इस तरह सात्त्वत भक्तोंके नाथ भगवान्‌के बारेमें कर्ण-वाणी रूप बाह्येन्द्रियों द्वारा श्रवण (अर्थात् भगवान्‌के वाचक पदों और वाक्यों द्वारा भगवान्‌का जैसा स्वरूप निर्धारित हो उसे सुना) और कीर्तन (भगवान्‌के वैसे स्वरूपके निर्धारक वचनोंका पुनः-पुनः आवर्तन) करना चाहिये. इसी तरह आन्तर-इन्द्रियोंद्वारा ध्यान (चित्तको वहां सुस्थि बनाना अथवा भावस्वरूप या भावमूर्ति का निरन्तर अनुसन्धान) करना चाहिये. अन्ततः बाह्य-आन्तर दोनों तरह भगवान्‌का पूजन सदा करते रहना चाहिये. यही प्रमुख

धर्म है.

(द्रष्ट. : भाग.पुरा.१।२।५-१४).

भागवतपुराणके इन वचनोंके आधारपर इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि श्रवण-कीर्तन आदिके विषय भगवान् होने आवश्यक हैं. क्योंकि साक्षात् तो भगवान्को सुना नहीं जा सकता फिरभी भगवद्वाचक शब्दोंको तो सुना ही जा सकता है. क्योंकि भगवान् और भगवल्लीला का आपसी सम्बन्ध सूर्य और उसके रश्मि-प्रकाश की तरह अन्योन्यात्मक ही होता है. अतः वैसे शब्दोंका श्रवण भी भगवान्का ही श्रवण सिद्ध होता है. भगवान्की लीला सर्ग विसर्ग स्थान पोषण ऊति मन्वन्तर ईशानुकथा निरोध मुक्ति और आश्रय यो दशधा वर्णित हुयी हैं. अतः दशविधलीलाओंके साथ लीलाकर्ताके रूपमें भगवान्के श्रवण आदि करने चाहिये. इन लीलाओंके श्रवण आदिमें अधिकारी होना भी अपेक्षित है. अतः पहले अधिकार और साधन के निरूपणके बाद तृतीय स्कन्धसे आरम्भ कर बारहवें स्कन्ध तक दशविध लीलाओंका निरूपण किया गया है.



प्रथम स्कन्ध

(प्रथम-द्वितीय स्कन्धार्थ अधिकार-साधन)

इन लीलाओंके श्रवण आदिके अंगतया अधिकार तथा साधनों का निरूपण क्रमशः प्रथम तथा द्वितीय स्कन्धोंमें किया गया है.

(प्रथमस्कन्धके तीन प्रकरणोंका अर्थ)

श्रीभागवतके श्रवणका अधिकार ^कहीन ^खमध्यम तथा ^गउत्तम यों तीन प्रकारोंमें सम्भव है. अतः प्रथम स्कन्धमें यथायथ तीन प्रकरण हैं.

(१-३ यों तीन अध्यायोंवाला ^कप्राथमिक या हीन अधिकारका छोटका प्रथम प्रकरण)

श्रीभागवतके श्रवणार्थ प्राथमिक या हीन अधिकारके रूपमें अर्थात् न्यूनतम योग्यताके वास्ते श्रोतामें —

१. जिज्ञासुता

२. अमात्सर्य

और

३. श्रवणादर

होने आवश्यक माने गये हैं. श्रीभागवतके कीर्तनार्थ वक्ताके योग्य अधिकारी होनेके गुण —

१. स्वयं भागवतके तत्त्वको सम्प्रदायके अनुसार

भलीभांति सुन कर समझनेवाला

२. चतुर

३. गूढ़ अर्थोंको जाननेवाला

यों तीन गुण आवश्यक माने गये हैं. अतः इन तीन गुणोंके अनुसार तीन अध्याय इस प्रकरणमें योजित हुवे हैं.

(^१) इस हीनाधिकारके प्रकरणके प्रथमाध्यायमें प्रश्नकर्ताके

रूपमें श्रोताके जिज्ञासु होनेका गुण. इसी तरह वक्ताके द्वारा उसने कैसे अधिकारी वक्ताके मुखसे श्रीभागवत सुनी यों सम्प्रदायके वर्णनद्वारा स्वयंका योग्य अधिकारी होना सूचित किया गया.

(^२) इस हीनाधिकारके प्रकरणके द्वितीयाध्यायमें कर्म एवं ज्ञान के बारेमें तथा भगवदवतारके प्रयोजन एवं लीला के बारेमें प्रश्न किया गया होनेसे श्रोताके भीतर मात्सर्य नहीं है, यह सूचित हुवा. इसी तरह इन जिज्ञासाओंका समाधान करने समर्थ ऐसे वक्ताका चातुर्य निरूपित किया गया है.

(^३) इस हीनाधिकारके प्रकरणके तृतीयाध्यायमें रूपात्मक भगवान्के अवतारोंका निरूपण किया गया होनेसे श्रोताका श्रवणरूप साधनमें आदरभाव तथा वक्तामें वह गूढ़ रहस्योंको जानता होनेकी योग्यता दिखलायी गयी है.

यों श्रोता और वक्ता दोनोंके हीन या प्राथमिक अधिकारका यहां द्योतन हुवा है.

(४-६ तीन अध्यायोंवाला ^ख मध्यमाधिकारका द्योतक द्वितीय प्रकरण)

इसी तरह मध्यमाधिकारके अन्तर्गत निम्नलिखित गुण आवश्यक माने गये हैं :

१. भगवत्कृपा

२. भगवदीयता

और

३. भगवदेकाग्रता

ये तीनों गुण श्रोता एवं वक्ता दोनोंके भीतर अपेक्षित होते हैं. तदनुसार ही यहां भी तीन ही अध्याय योजित हुवे हैं.

(^१) मध्यमाधिकारके प्रकरणके प्रथमाध्यायमें प्रस्तुत कथाकी प्रेरणाके हेतुभूत प्रसंगके निरूपणमें महर्षि वेदव्यासजीके भीतर भगवान्के द्वारा विचारित भगवदीयताका वर्णन किया गया

है.

(^२) मध्यमाधिकारके प्रकरणके द्वितीयाध्यायमें प्रश्नोंके उत्तर तथा कृति का निरूपण किया गया है. यों महर्षि वेदव्यास और देवर्षि नारद की कथारूपा साधनामें अपेक्षित भगवान्के द्वारा सम्पादित शरीरवाले होनेके निरूपण द्वारा उनका भगवदीय होना प्रतिपादित किया गया है.

(^३) मध्यमाधिकारके प्रकरणके तृतीयाध्यायमें फलके निरूपणार्थ देवर्षि नारदकी भगवदीयता निरूपित की गयी है.

यों तीन अध्यायोंमें मध्यमाधिकारी यहां वर्णनीय माना गया है.

(७-१९ यों तेरह अध्यायोंवाला " उत्तमाधिकारका द्योतक तृतीय प्रकरण)

उत्तमाधिकारमें तो चित्तकी भगवदेकतानताकी, अर्थात् भगवान्के अलावा अन्य विषयोंमें दृढ़ वैराग्यकी, अपेक्षा रहती है. इसी तरह क्योंकि पुरुषको द्वादशांग माना गया है; अतः, क्षरपुरुषसे अतीत और अक्षरपुरुषसे उत्तम ऐसे पुरुषोत्तम भगवान् ही भागवतके प्रमुखतया प्रतिपाद्य विषय हैं, यह जतानेको १३ अध्यायोंमें उत्तमाधिकारका निरूपण किया गया है.

(^१) उत्तमाधिकारके प्रकरणके अन्तर्गत प्रथम, अर्थात् स्कन्धकी दृष्टिसे सातवें, अध्यायमें वर्णनीय उत्तमाधिकारी महाराजा परीक्षितके भीतर पुरुषपरम्परासे संभावित भी किसी तरहके दोषोंके न होनेकी कथाद्वारा उनका उत्तमाधिकारी होना दिखलाया गया है.

(^२) उत्तमाधिकारके प्रकरणके अन्तर्गत द्वितीय, स्कन्धादितया आठवें, अध्यायमें कुन्तीद्वारा की गयी भगवान्की स्तुतिका निरूपण किया गया है. एतावता ब्रह्मके स्वरूपके अज्ञानवश होनेवाले दुःखकी भगवान्की कृपाके कारण होती निवृत्ति

तथा स्त्रीपरम्परावश भी महाराजा परीक्षितके उत्तम श्रोता होनेका निरूपण अभिप्रेत माना गया है।

(३) उत्तमाधिकारके प्रकरणके अन्तर्गत तृतीय, स्कन्धादितया नौमें, अध्यायमें युधिष्ठिरको भीष्मद्वारा दिया गया उपदेश वर्णित हुवा है। यह जीवके स्वरूपके बारेमें अज्ञानसे जो दुःख हो सकते हैं, उन्हें परम कृपालु भगवान्द्वारा निवृत्त किया जाना वर्णित हुवा है। अतः श्रोताके अन्नदाताके रूपमें जो पोषक हो उसकी दृष्टिसे भी श्रोताकी उत्तमता या निर्दोषता समझायी गयी है।

(४) इस प्रकरणके अन्तर्गत चतुर्थ, अर्थात् स्कन्धादिसे दसवें, अध्यायमें इस प्रकरणके प्रमुख श्रोताके सगे-सम्बन्धी भीम आदिकी भगवत्परताके वर्णनद्वारा सांसारिक दोषोंसे भी रहित होना प्रमुख श्रोता, महाराज परीक्षित, का सूचित किया गया है।

(५) इस प्रकरणके पांचवें, अर्थात् स्कन्धादि ग्यारहवें, अध्यायमें भगवान्के लीलाकार्यके सम्पन्न हो जानेके कारण भगवान्की सुखस्थिति और उसके कारण पार्थको भी भगवत्सुखके कारण सुखी दिखलानेके कारण आगन्तुक दोषोंका अभाव भी प्रकरणके प्रमुख श्रोताके सन्दर्भमें सूचित किया गया है।

(६) उत्तमाधिकारके इस प्रकरणके अन्तर्गत छठे, अर्थात् स्कन्धादिसे बारहवें, अध्यायमें भगवान्के द्वारा रक्षित पुत्रके प्राप्त होनेसे पार्थकी सविशेष सुखसम्पत्ति वर्णित हुयी है।

(७) इस सातवें, अर्थात् तेरहवें, अध्यायमें धृतराष्ट्रकी मुक्तिके वर्णनद्वारा बीजमुक्तिद्वारा दोषोंकी निवृत्ति निरूपित हुयी है।

(८) इस आठवें, अर्थात् चौदहवें, अध्यायमें बीजमुक्तिके कार्यतया पाण्डवोंके भी वैराग्यके वर्णनद्वारा प्राकरणिक श्रोताकी उत्तमताका ही निरूपण अभिप्रेत है।

(९) इस नौमें, अर्थात् पंद्रहवें, अध्यायमें वैराग्यके सांसारिक

सुखोंसे विरक्त हो जानेके कारण पाण्डवोंकी मुक्ति निरूपित हुयी है। एतावता प्रकरणके प्रमुख श्रोताके भीतर पूर्वजोंके कृत कर्मोंका भी किसी तरहका प्रतिबन्ध नहीं बच गया यह दिखाना अभिप्रेत है।

(१०) इस दसवें, अर्थात् सोलहवें, अध्यायमें प्रकरणोपात्त प्रमुख श्रोता राजा परीक्षितके राज्यके निरूपणद्वारा राजाकी लौकिक सामर्थ्यका निरूपण अभिप्रेत है।

(११) इस ग्यारहवें, अर्थात् सत्रहवें, अध्यायमें धरणी और धर्म के हेतु कलियुगके निग्रहार्थ अपेक्षित अलौकिक सामर्थ्य प्रमुख श्रोतामें कितनी अधिक है, यह दिखलायी गयी है।

(१२) इस बारहवें, अर्थात् अठारहवें, अध्यायमें राज्यादिके त्यागके वर्णनार्थ त्यागके हेतुभूत वैराग्य और उस वैराग्यके हेतुभूत ऋषिपुत्रद्वारा दिये शापका निरूपण किया गया है।

(१३) इस तेरहवें, अर्थात् उन्नीसवें, अध्यायमें त्यागनिरूपणके प्रसंगमें त्याग और सत्संग के लाभ होनेपर प्रमुख श्रोताके द्वारा पूछे गये प्रश्न जो उसकी प्रमुख अधिकारिता सिद्ध करते हैं, उनका वर्णन किया गया है।

इस तरह प्रथम स्कन्ध १९ अध्यायवाले तीन प्रकरणोंवाला स्कन्ध है।



द्वितीय स्कन्ध

(द्वितीयस्कन्धके तीन प्रकरण)

साधनके निरूपणार्थ जो द्वितीय स्कन्ध है उसमें भी तीन ही प्रकरण हैं : ^क तत्त्वध्यान ^ख हृदयके भीतर सहज प्रसन्नताका मनोभाव तथा ^ग मनन.

(१-२ दो अध्यायोंवाला प्रथम ^क तत्त्वध्यान का निरूपक प्रकरण)

श्रीभागवतमें प्रतिपाद्य तत्त्वके स्थूल और सूक्ष्म यों दो प्रभेद होते हैं अतः तत्त्वध्यानके निरूपणार्थ इस प्रकरणमें अध्याय भी दो समायोजित किये गये हैं.

(^१) द्वितीय स्कन्धके तत्त्वध्यानके प्रकरणके अन्तर्गत प्रथम अध्यायमें स्थूलस्वरूपका ध्यान वर्णित हुआ है.

(^२) इसी तरह द्वितीय अध्यायमें सूक्ष्म स्वरूपका ध्यान वर्णित हुआ है.

(३-४ दो अध्यायोंवाला ^ख हृदयके भीतर सहज प्रसन्नताके मनोभावका निरूपक द्वितीय प्रकरण)

साधकके भीतर श्रद्धा हो तो साधनोंके अनुष्ठानमें उसे हृदयके भीतर सहज प्रसन्नताके मनोभाव प्रकट होते हैं. यह श्रवणसाधना हो या कीर्तनसाधना दोनोंके बारेमें समानरूपेण अभिप्रेत तथ्य है. अतः इस प्रकरणमें भी दो अध्याय योजित हुवे हैं.

(^१) द्वितीय स्कन्धके अन्तर्गत दूसरे प्रकरणके प्रथम, अर्थात् आदिसे तीसरे, अध्यायमें वर्णनीय हृत्प्रसादके रूपमें श्रोताकी श्रद्धाका निरूपण अभिलिखित है.

(^२) द्वितीय स्कन्धके अन्तर्गत दूसरे प्रकरणके द्वितीय, अर्थात्

आदितः चतुर्थ, अध्यायमें वक्ताकी श्रद्धाके निरूपण अभिप्रेत है.

(५-१० छह अध्यायोंवाला ^ग मननरूप साधनका निरूपक तृतीय प्रकरण)

मनन, क्योंकि, दो तरहसे सम्भव होता है : जगत्के आधिभौतिक आध्यात्मिक आधिदैविक रूप उत्पन्न कैसे हुवे, इस बातका विचार करनेके रूपमें. अथवा ऐसा जगत् स्वीकार्य या उपपन्न कैसे हो सकता है, इस तरहका विचार या मनन करना.

उत्पत्तिके बारेमें मनन :

इसके अन्तर्गत इस सृष्टिमें —

१. जो अनित्य नाम-रूप-कर्मोंवाले पदार्थ दिखलायी देते हैं, उन्हें उत्पन्न हुवा माना जाता है.

२. इस सृष्टिमें जो पदार्थ नित्य अर्थात् किसी कालविशेषमें प्रतिनियत कोई एक नाम; या कोई एक रूप; अथवा किसी एक कर्म की इयत्तामें परिसीमित न होते हों पर जीवात्माओंकी तरह देशमें परिच्छिन्न दिखलायी देते हों उन्हें उत्पन्न होनेवाले नहीं माना जाता. वे तो तत्तद् देश-कालमें केवल आवागमन करते माने जाते हैं. यह आवागमन ही उनका जनन जैसा लगता है.

३. जो पदार्थ न देशमें अथवा तो न कालमें परिच्छिन्न होते हों, उनकी न तो उत्पत्ति सम्भव होती है और न आवागमन ही. वे तो कहीं-कभी किसी रूपमें प्रकट होते हैं अथवा अप्रकट रहते हैं. यह प्राकट्य ही उनका जननके रूपमें स्वीकारा जाता है.

इस तरह उत्पत्ति-नाश आवागमन तथा प्राकट्य-अप्राकट्य के तीन प्रकारोंको भलीभांति जान लेनेपर अध्यायार्थोंका स्वरूप सुबोध

हो जाता है।

(१) उत्पत्तिके विमर्शकारी प्रकरणके अन्तर्गत प्रथम, अर्थात् आदितः पांचवें, अध्यायमें चौदह लोकोंकी रचनाके हेतु अनित्य महद्, अहंकार, मन, पांच तन्मात्रा, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय तथा पांच महाभूत ब्रह्माण्डकी उत्पत्तिमें कारणभूत तत्त्व माने गये हैं। उनके जननका निरूपण इस अध्यायमें है।

(२) उत्पत्तिके विमर्शकारी प्रकरणके अन्तर्गत दूसरे, अर्थात् आदितः छठे, अध्यायमें सनातन जीवात्मा जो कालतः तो अपरिच्छिन्न होनेपर भी अणुपरिमाण होनेके कारण देशतः परिच्छिन्न होती है। उनका समष्टि ब्रह्माण्ड या व्यष्टि शरीर में आवागमनरूप जनन होता है।

यहीं ऋग्वेदीय पुरुषसूक्तमें प्रतिपाद्य निरूपणका भी अनुवाद मिलता होनेसे जीवात्माओंके लिये भगवद्भजन सर्वफलोंका साधक होता है, यह भी सूचित किया गया है।

(३) उत्पत्तिके विमर्शकारी प्रकरणके अन्तर्गत तीसरे, अर्थात् आदितः सातवें, अध्यायमें भगवान्का मूलस्वरूपमें भजन सिद्ध हो पाये तदर्थ; तथा भगवान्के देश-काल दोनोंमें अपरिच्छिन्न होनेके कारण, भगवान्का प्राकट्यरूप जनन वर्णनीय माना गया है।

इस तरह आविर्भाव या उत्पत्ति के तीन प्रकारोंके निरूपणके बाद अब उपपत्तिका मनन अग्रिम अध्यायोंमें अभिप्रेत है।

उपपत्तिके बारेमें मनन :

उपपत्तिके हेतुओंके मननके भी तीन अंग दिखलाये गये हैं : १. आशंका

२. उत्तर एवं ३. फल. अतः एतदर्थ भी तीन अध्याय समायोजित हुये हैं।

(१) उपपत्तिके विमर्शकारी प्रकरणके अन्तर्गत प्रथम, अर्थात् आदितः आठवें, अध्यायमें यह विचार हुवा है कि जो कुछ अभी तक प्रतिपादित किया गया, अर्थात् जीवात्माके आवागमनरूप जन्मके समय या परमात्माके प्राकट्यरूप जन्मके समय प्रतीत होता अचेतन देहोंके साथ सम्बन्ध कैसे उपपन्न हो सकता है? ऐसी आशंका इस अध्यायमें निरूपित हुयी है।

(२) उपपत्तिके विमर्शकारी प्रकरणके अन्तर्गत द्वितीय, अर्थात् आदितः नौवें, अध्यायमें जीवात्मा या परमात्मा का देहसे सम्बन्ध कैसे जुड़ सकता है, ऐसी शंकाका परिहार अर्थात् उत्तर निरूपित किया गया है।

(३) उपपत्तिके विमर्शकारी प्रकरणके अन्तर्गत तृतीय, अर्थात् आदितः दसवें, अध्यायमें इन शंका-समाधानोंद्वारा फलित होते निष्कर्षतया श्रीभागवतकथाका श्रवण अवश्य करना चाहिये, ऐसा प्रतिपादित हुवा।

यों दो-दो अध्यायोंवाले प्रथम-द्वितीय प्रकरण तथा छह अध्यायोंवाला अन्तिम तृतीय प्रकरण, कुल मिला कर, दस अध्यायोंमें द्वितीय स्कन्धके अन्तर्गत साधनका निरूपण किया गया है।



तृतीय स्कन्ध

(तृतीयस्कन्धार्थ सर्गलीला)

प्रथम स्कन्धमें उत्तम मध्यम तथा आदिम प्रकारके श्रवणाधिकार और द्वितीय स्कन्धमें तत्त्वध्यान हृत्प्रसाद और मनन रूप तीन साधनोंके निरूपणके बाद अब इस स्कन्धमें भगवान्की दस लीलाओंमेंसे प्रथम सर्गरूपा लीलाका निरूपण अभिप्रेत है। लौकिक सर्ग और अलौकिक सर्ग दोनों ही तैंतीस तरहके दिखलाये गये हैं। जैसे कि बृहदारण्यकोपनिषद्के “देवता कितने होते हैं? आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, यों इकत्तीसके बाद बत्तीसवां इन्द्र और तैंतीसवां प्रजापति” (बृह.उप.३।१।१-२) इस वचनके अनुसार स्पष्ट है। इसी तरह अट्ठाईस तत्त्व, चार तरहके उद्भिज्ज अण्डज जरायुज और स्वेदज यों चार तरहके भूतबीज की गणना करनेपर ३२ और ३३वां काल यों लौकिक सर्ग भी तैंतीस तरहका माना गया है। अतः लौकिकालौकिक अथवा बन्धमोक्ष के प्रभेदवश दो प्रकरणोंमें और तैंतीस अध्यायोंवाला यह स्कन्ध है।

(प्रकारान्तर)

^१ गुणातीतसृष्टि, ^२ सगुणसृष्टि, ^३ कालसृष्टि, ^४ जीवसृष्टि और ^५ तत्त्वसृष्टि यों पांचों तरहकी सृष्टिके अन्तर्गत एक प्रकार मोक्षार्थ सृष्टिका और दूसरा प्रकार बन्धार्थ सृष्टिका यों कुल मिला कर दस प्रकरणोंवाला भी स्कन्ध माना जाता है।

(तृतीयस्कन्धमें बन्धसृष्टिके निरूपणार्थ १-६ अध्यायोंवाला गुणातीतसृष्टिका प्रथम प्रकरण)

इस प्रथम प्रकरणका प्रथम अध्याय गुणातीत तत्त्वके वर्णनार्थ है।

(^१) इस अध्यायमें अधिकारके प्रसंगवश प्रतिबन्धकी निवृत्ति

तीर्थसेवन सत्संगप्रीति भगवान्के बारेमें प्रश्नात्मिका उत्कण्ठा या जिज्ञासा के रूपमें बाह्यशुद्धि निरूपित हुयी है।

(^२) दूसरा अध्याय गुणातीत कार्यके वर्णनार्थ है। इसमें भगवत्कथाके श्रवणवशात् शास्त्रीय रीतिके अनुसार भगवान्के माहात्म्यका ज्ञान हुवा वह आभ्यन्तर शुद्धिका निरूपण है।

(^३) तीसरा अध्याय प्रतिबन्धोंकी निवृत्तिके द्वारा उत्तमोत्तमाधिका-ररूप श्रवणके अधिकारके वर्णनार्थ है। इसमें केवल भगवच्चरित्रके श्रवणके कारण आन्तरिक ज्ञानरूप भगवद्गुणोंका प्रकट होना प्रतिपादित हुवा है।

(^४) चौथा अध्याय उक्त अधिकारीकी शुद्धिके वर्णनार्थ है। इसमें भगवान्के प्रयाणके समय विद्यमान अधिकारी उद्धवकी तरह अविद्यमान विदुर पर भी, यों दोनोंपर भगवान्के प्रसादका वर्णन अभिप्रेत है।

(^५) पांचवां अध्याय तीर्थार्जनरूप उसके अधिकारानुरूप साधनके निरूपणार्थ है। इसमें ब्रह्माण्डके कारणीभूत महद् आदि तत्त्वोंकी उत्पत्तिका निरूपण स्तुतिद्वारा किया गया है।

(^६) छठा अध्याय उस उत्तमोत्तम अधिकारीकी श्रवणासक्तिके निरूपणार्थ है। इसमें महद् आदि तत्त्वोंके कार्यभूत ब्रह्माण्डरूप शरीरकी उत्पत्तिके वर्णन करनेवालोंके कर्मका निरूपण किया गया है।

यों छह अध्यायोंवाले इस प्रथम प्रकरणके बाद अब दूसरा प्रकरण तीन अध्यायोंका है।

(तृतीयस्कन्धमें बन्धसृष्टिके निरूपणार्थ ७-९ अध्यायोंवाला सगुणसृष्टिका द्वितीय प्रकरण)

प्रकृतिके तीन, सात्त्विक राजस एवं तामस, गुणोंके कारण सगुणसृष्टिका भी निरूपण तीन प्रकारसे इन अध्यायोंमें यहां करना अभिप्रेत माना

गया है।

(^१) इस सगुणसृष्टिके निरूपणके प्रकरणके प्रथम, अर्थात् आदितः सातवें, अध्यायमें शंका-समाधानके रूपमें मतान्तरके आधारपर सृष्टि और भगवान् के बीचमें गुणोंके प्रवेशका वर्णन किया गया है।

(^२) द्वितीय, अर्थात् आदितः आठवें, अध्यायमें चतुर्मुख ब्रह्माजीको जो उनके हृदयमें जगत्कारणरूप भगवान्के दर्शन हुवे उसके कारण वे सृष्टिकर्ता बने, ऐसा समझाया गया है।

(^३) तृतीय, अर्थात् आदितः नौवें, अध्यायमें जो सृष्टि अवश्यंभावी थी उसकी उत्पत्ति सफलतया हो पाये, तदर्थ ब्रह्माजी द्वारा की गयी स्तुतिका वर्णन है।

यों तीन अध्यायोंवाले दूसरे प्रकरणके बाद अब दो अध्यायोंवाला तीसरा प्रकरण आता है।

(तृतीयस्कन्धमें बन्धसृष्टिके निरूपणार्थ १०-११ अध्यायोंवाला कालसृष्टिका तृतीय प्रकरण)

इस कालसृष्टिके प्रकरणमें, क्योंकि, कालके स्थूल और सूक्ष्म यों दो प्रभेद होते हैं, अतः दो अध्यायोंमें वर्णन अभिलषित है।

(^१) इस कालसृष्टिके प्रकरणके पहले, अर्थात् आदितः दसवें, अध्यायमें दशविध सर्गरूप कार्यके रूपमें कालके जन्मका वर्णन हुवा है।

(^२) दूसरे, अर्थात् आदितः ग्यारहवें, अध्यायमें परमाणुसे लेकर परार्थ संख्याकी उपाधिवाले कालके जन्मका निरूपण अभिप्रेत है।

अमुक्त जीव कालके आधीन ही रहते होनेसे उनका निरूपण

कालसृष्टिके वर्णनके अन्तर्गत ही यहां कर दिया गया है।

(तृतीयस्कन्धमें बन्धसृष्टिके निरूपणार्थ १२ वें अध्यायवाला मुक्तजीवकी सृष्टिका चतुर्थ प्रकरण)

इस चौथे प्रकरणमें मुक्तजीवकी सृष्टिका वर्णन एक ही अध्यायमें किया गया है।

(^१) इस बारहवें एक अध्यायरूप प्रकरणमें लोकातीत एवं लौकिक मुक्त जीवकी सृष्टिका निरूपण और इसी तरह इनके अंगरूपेण नामसृष्टिके प्राकट्यका भी निरूपण अभिप्रेत है।

(तृतीयस्कन्धमें बन्धसृष्टिके निरूपणार्थ १३-१९ यों कुल सात अध्यायोंवाला पांचवां प्रकरण)

मुक्ति, क्योंकि, बन्धसे मुक्ति होनेके अर्थमें अपेक्षित है। अतः इस बन्धसृष्टिके अवान्तर प्रकरणमें प्रथम अध्यायसे लेकर उन्नीसवें अध्याय तक बन्धसृष्टिका वर्णन किया गया है।

(^१) इसके प्रथम, अर्थात् आदितः तेरहवें, अध्यायमें सारे तत्त्वोंकी आधारभूत भूमिके उद्धारार्थ वराहकल्पके निरूपण द्वारा मुक्तजीवोंकी सृष्टिमें उपपत्तिका निरूपण किया गया है।

अग्रिम छह अध्यायोंमें विस्तारपूर्वक जन्म-मरणात्मक संसारका निरूपण अभिप्रेत है। तदनुसार —

(^२) दूसरे, अर्थात् आदितः चौदहवें, अध्यायमें मुक्तजीवोंकी सृष्टिकी उपपत्तिके प्रयोजनवश सन्ध्याकालमें कामके द्वारा आसुरी बीजके जननका वर्णन किया गया है।

(३) अतएव इस उपपत्तिके अंगतया तीसरे, अर्थात् आदितः पंदरहवें, अध्यायमें ब्रह्मशापवश वैकुण्ठस्थित पार्षदोंका आसुरबीजमें समागमन प्रतिपादित हुवा है।

(४) चौथे, अर्थात् आदितः सोलहवें, अध्यायमें भगवान्द्वारा शाप प्रदान करनेवालेको सान्त्वनाप्रदान और अपने पार्षद जय-विजयके भीतर भगवद्विभूतिके आवेशका निरूपण अभिप्रेत है।

(५) उपपत्तिनिरूपणके अंगतया पांचवें, अर्थात् आदितः सत्रहवें, अध्यायमें सृष्टिमें अतिशयित उत्कर्ष नाशका बीज बनता है यह दिखाना अभिप्रेत है।

(६) इस उपपत्तिके प्रसंगवश छठे, अर्थात् आदितः अठारहवें, अध्यायमें दैत्यका भगवान्के साथ जो युद्ध हुवा उसकी विनाशकथा वर्णित हुयी है।

(७) इसी उपपत्तिके निरूपणार्थ इस सातवें, अर्थात् आदितः उन्नीसवें, अध्यायमें दैत्यनाशनकी कथा पूर्ण हुयी।

इस तरह सात अध्यायोंवाले इस पांचमें अवान्तर प्रकरणके बाद अब चार अध्यायोंवाला छठा प्रकरण आता है।

(तृतीयस्कन्धमें मुक्तसृष्टिके निरूपणार्थ २०-२४ अध्यायोंवाला तत्त्वमुक्तिका छठा प्रकरण)

इस छठे अवान्तर प्रकरणकी अध्याययोजना निम्नलिखित रूपमें है। इस प्रकरणमें प्रथम, अर्थात् आदितः बीसवां अध्याय, क्योंकि अग्रिम चार अध्यायोंमें पुरुषकी मुक्तिका निरूपण अभिप्रेत है अतः, मुक्तसृष्टिके उपक्रमार्थ योजित है। शेष चार अध्यायोंमें पुरुषकी मुक्तिके निरूपण द्वारा ही, पुरुषद्वारा त्यक्त तत्त्व पुनः अपरिगृहीत स्वस्वरूपमें अवस्थित हो जाते होनेसे तत्त्वमुक्तिका निरूपण भी द्योतित हो गया है।

(१) यहां प्रथम, अर्थात् आदितः बीसवें, अध्यायमें सात्त्विक राजस और तामस के इतरेतरगुणित नौ प्रकार सगुणावस्थाके और दसमी निर्गुणावस्थाके प्रभेदके अनुसार भगवच्चिन्तनमें भी सगुण और निर्गुण यों दो तरहके स्वभाव प्रकट होते हैं। इन्हींके आधारपर मोक्ष उपपन्न होता होनेसे मुक्तसृष्टि भी उपपन्न हो जाती है।

(२) द्वितीय, अर्थात् आदितः इक्कीसवें, अध्यायमें मोक्षसृष्टिके प्रकरणके अन्तर्गत तत्त्वमुक्तिके अवान्तरप्रकरणमें भोगसहित मोक्षके वर्णनके प्रसंगमें कर्दम और मनु की धर्मसिद्धियोंका निरूपण किया गया है।

(३) तृतीय, अर्थात् आदितः बाईसवें, अध्यायमें भोगसहित मोक्षके निरूपणतया ऐहिक-आमुष्मिक उत्कर्षवाले मनुके कन्यालाभ और कर्दमके अर्थलाभ का निरूपण किया गया है।

(४) चौथे, अर्थात् आदितः तेईसवें, अध्यायमें कर्दमकी भोगसहित मुक्तिके वर्णनके अन्तर्गत कामनाओंकी पूर्तिकी कथा वर्णित हुयी है।

(५) पांचवें, अर्थात् आदितः चौबीसवें, अध्यायमें कर्दम ऋषिके सांख्यके फलरूप मोक्षकी प्राप्ति का निरूपण किया गया है। अर्थात् सांख्यकी प्रक्रियाद्वारा पुरुषके प्राकृत गुणोंसे मुक्त होनेपर प्राकृत तत्त्व वैराग्यवश छूट जाते होनेसे उन तत्त्वोंकी मुक्ति हो जाती है।

इस तरह पांच अध्यायोंवाले इस प्रकरणके बाद अब एकाध्यायात्मक सातवां प्रकरण आता है।

(तृतीयस्कन्धमें मुक्तसृष्टिके निरूपणार्थ २५ वें अध्यायवाला कालमुक्तिका सातवां प्रकरण)

जो गुणातीत या भगवदधीन होते हैं उनकी मुक्ति तो भक्तिरूपा

ही मानी जाती है. अतः —

(^१) इस एकाध्यायात्मक प्रकरणमें भक्तिके मुख्य स्वरूपका निरूपण किया गया है. यह पुनः कालमुक्तिके रूपमें अभिप्रेत है.

इस एकाध्यायात्मक प्रकरणके बाद अब दो अध्यायोंवाला प्रकरण आता है.

(तृतीयस्कन्धमें मुक्तसृष्टिके निरूपणार्थ २६-२७ अध्यायोंवाला गुणातीतमुक्तिका आठवां प्रकरण)

इस प्रकरणके दो अध्यायोंमें अज्ञाननिवृत्तिरूप ज्ञानका निरूपण अभिलषित है. यह गुणातीतमुक्तिलीलाका प्रकरण है.

(^१) यहां प्रथम, अर्थात् आदितः छब्बीसवें, अध्यायमें सांख्यशास्त्रीय प्रक्रियाके अनुसार उत्पत्ति तथा उपपत्ति दोनोंके आधारपर अप्राकृत आत्माकी भिन्नताके निरूपण द्वारा गुणातीत आत्माकी मुक्तिका वर्णन किया गया है.

(^२) यहां इस द्वितीय, अर्थात् आदितः सत्ताईसवें, अध्यायमें सांख्यशास्त्रके आधारपर ज्ञान और उसके साधनतया उपपत्तियोंका निरूपण किया गया है.

(तृतीयस्कन्धमें मुक्तसृष्टिके निरूपणार्थ २८ वें अध्यायवाला सगुणमुक्तिका नौवां प्रकरण)

यह पुनः एकाध्यायात्मक प्रकरण है.

(^१) इस प्रकरणके अन्तर्गत एक अध्यायमें योगका निरूपण किया गया है.

यह सगुणोंकी मुक्तिलीलाके रूपमें है. क्योंकि सगुणसृष्टि तत्तद्

भावोंके साथ निर्मित हुयी होती है. अतः उनकी भीति उनके वैसे भावोंसे मुक्त होनेपर और स्वयं अपने स्वरूपमें अवस्थित होनेपर होती है. यह जबतक चित्तवृत्तिओंका निरोध न हो तबतक शक्य न होनेके कारण योगसाधनाके निरूपणद्वारा मुक्तिलीलाका निरूपण यहां अभिलषित माना गया है.

(तृतीयस्कन्धमें मुक्तसृष्टिके निरूपणार्थ २९-३३ अध्यायोंवाला जीवमुक्तिका दसमां प्रकरण)

इस प्रकरणमें पांच अध्याय योजित हुवे हैं. प्रथम, अर्थात् २९वें अध्यायमें, योगकी अंगभूता भक्तिका निरूपण अभिप्रेत है. अग्रिम दो अर्थात् ३०-३१ अध्यायोंमें वैराग्यका निरूपण अभिलषित है. एतावता जीवकी मुक्तिलीलाका यह प्रकरण फलित होता है. अवशिष्ट दो अर्थात् ३२-३३ अध्यायोंमें स्त्रीमुक्तिका वर्णन अभिप्रेत है.

(^१) यहां प्रथम, अर्थात् आदितः उनत्तीसवें, अध्यायमें मोक्षसृष्टिके प्रकरणमें जीवमुक्तिके प्रसंगवश सभीका साधन बन पाये ऐसी चार प्रकारकी भक्ति और वैराग्य के अंगतया भयंकर कालके माहात्म्यका निरूपण किया गया है.

(^२) द्वितीय, अर्थात् आदितः तीसवें, अध्यायमें संसारमें भयवश प्रकटे वैराग्यके उद्बोधनार्थ मृत्युरूप दोषका निरूपण किया गया है.

(^३) तृतीय, अर्थात् आदितः इक्तीसवें, अध्यायमें पूर्वोक्त कालजनित मृत्युजनित वैराग्यके ही उद्बोधनार्थ पुनर्जन्मरूप दोषका निरूपण अभिप्रेत है.

(^४) चौथे, अर्थात् आदितः बत्तीसवें, अध्यायमें इन्हीं सारी बातोंके उपसंहारार्थ सर्वशेषरूप अन्य भी सारी बातें समझायी गयी हैं.

(^५) पांचवें, अर्थात् आदितः तैंतीसवें, अध्यायमें मुक्तसृष्टिके

प्रकरणके अनुरूप सर्गरूप फलके बोधक योगसाधनाद्वारा देवहूतिको मिले मोक्षका निरूपण किया गया है.

इस तरह १९ अध्यायोंवाली बन्धसृष्टि और १४ अध्यायोंवाली मुक्तिसृष्टि यों कुल मिला कर ३३ अध्यायोंवाले दस प्रकरणोंमें तृतीय स्कन्धमें सर्गलीला निरूपित हुयी है.

यहां श्रीशुकदेवजी और मैत्रेय की सर्गनिरूपणकी रीति अलग-अलग होनेसे प्रकरण एवं अध्याय के मूलार्थमें अन्तर पड़ जाता है. अतः मैत्रेयकी निरूपणरीतिके अनुसार सर्गलीलाके अन्तर्गत चार प्रकरण यों हैं : ^१ अधिकारप्रकरण, सृष्टिप्रकरण, उपपत्तिप्रकरण और फलप्रकरण.

इनमें जो सृष्टिप्रकरण है वह ^२ गुणातीतसृष्टि, ^३ सगुणसृष्टि, ^४ कालसृष्टि, ^५ तत्त्वसृष्टि और ^६ जीवसृष्टि रूपी पांच प्रकरणोंवाला है.

इसके बाद आनेवाले उपपत्तिके प्रकरणमें ^{७/क} बन्धसृष्टि और ^{७/ख} मोक्षसृष्टि के प्रभेदवश दो तरहके अवान्तरप्रकरण हैं.

फलप्रकरणमें मुक्तिका प्रतिपादन किया गया है. यह मुक्ति ^८ भक्ति ^९ सांख्य और ^{१०} योग के तीन प्रभेदवश तीन तरहसे प्रतिपादित हुयी है. इस तरह तृतीयस्कन्ध दस प्रकरणोंवाला मैत्रेयमतके अनुसार प्रतिपादित हुवा है.

इस फलप्रकरणमें भक्तिके अवान्तरप्रकरणके पुनः पुंमुक्ति और सफला मुक्ति यों दो अवान्तरप्रकरण हैं. सांख्यमें अवान्तरप्रकरण नहीं है परन्तु योगप्रकरणके अन्तर्गत पुनः स्वयं योग वैराग्य सर्वनिर्धार और स्वयं मुक्ति रूप चार अवान्तरप्रकरण माने गये हैं.

यों श्रीशुकदेवजीके अभिप्रायके अनुसार स्थूलदृष्टिसे पांच प्रकरण सूक्ष्मदृष्टिसे दस प्रकरण बनते हैं. जबकि मैत्रेयजीके अनुसार स्थूलदृष्टिसे

चार प्रकरण और सूक्ष्मदृष्टिसे दस प्रकरण बनते हैं. यह दोनों दृष्टियोंका प्रभेद है.



चतुर्थ स्कन्ध

(चतुर्थस्कन्धार्थ विसर्गलीला)

इस विसर्गलीलाके अन्तर्गत इकतीस देवताओंकी सृष्टि निरूपणीय होनेसे अलौकिक विसर्गका इकतीस अध्यायोंमें निरूपण हुवा है. इनमें बारह आदित्य ग्यारह रुद्र और आठ वसु यों कुल मिला कर इकतीस संख्याका जोड़ है. विसर्गलीलाके अन्तर्गत भगवान्का यह माहात्म्य दिखलाना अभिप्रेत है कि विसर्गलीलाके कर्ता भगवान्ने इस विसर्गलीलाको पुरुषार्थरूपा बनानेको अर्थात् विसृष्ट जीवात्माओंको चतुर्विध पुरुषार्थ प्रदान करनेका प्रकार भी समायोजित किया है. अतएव चतुर्थ स्कन्ध चार प्रकरणोंद्वारा विसर्गलीलाके वर्णनार्थ है.

(विसर्गलीलाके वर्णनार्थ चतुर्थस्कन्धके अन्तर्गत सात अध्यायोंवाला धर्मरूप पुरुषार्थका प्रथम प्रकरण)

यह विसर्गलीला दक्षकी सोमयज्ञात्मिका धर्मसाधनाके रूपमें वर्णित हुयी है. इस सोमयज्ञात्मिका धर्मसाधनामें सात तरहकी यज्ञसंस्था श्रुति-स्मृति दोनोंके आधारपर स्वीकारी गयी हैं : अग्निष्टोम उक्थ षोडशी अप्तोर्याम अतिरात्र अत्यग्निष्टोम और वाजपेय. अतएव यहां भी सात अध्याय समायोजित हैं.

(^१) इस प्रकरणके प्रथम अध्यायमें यह वर्णित हुवा है कि कैसे स्वायंभुव मनु और शतरूपा की 'आकूति' 'देवहूति' और 'प्रसूति' नामोंवाली तीन कन्याओंके जन्म हुवा. कैसे आकूतिका प्रजापति रुचिके साथ विवाह हुवा. उनके दाम्पत्यवश जनमनेवाले यज्ञरूपी पुत्रको नाना स्वायंभुव मनुने अपना यथाविधि पुत्र बना लिया. अतः पुत्री दक्षिणाका विवाह अपने मामा यज्ञके साथ हुवा. इसी तरह मनुकी तीसरी कन्या प्रसूतिका विवाह ब्रह्माजीके पुत्र दक्षके साथ हुवा. इस विवाहके द्वारा

सोलह कन्याओंका जन्म हुवा. इनमें से श्रद्धा मैत्री दया शान्ति तुष्टि पुष्टि क्रिया उन्नति बुद्धि मेधा तितिक्षा ही और मूर्ति नामोंवाली तेरह कन्या धर्मरूपी वरको प्रदान की गयी. शेष तीन कन्या अग्नि पितृगण और भव=महादेवजी को प्रदान की गयी. इनमें से महादेवकी पत्नी दक्षात्मजा सतीका उनके पिता दक्षके यज्ञमहोत्सवमें अपमानरूप अनर्थके कारण दक्षयज्ञका रुद्रगणोंद्वारा ध्वंस किये गया, यह कथा उपक्रमरूप प्रथमाध्यायमें धर्मपुरुषार्थके प्रकरणके अन्तर्गत निरूपित हुयी है.

(^२) धर्मपुरुषार्थके प्रकरणके अन्तर्गत द्वितीयाध्यायमें ससुर दक्ष और जमाई श्रीमहादेव के बीच परस्पर वैमनस्यके हेतुभूत प्रसंगकी कथा वर्णित हुयी है.

(^३) धर्मपुरुषार्थके प्रकरणके अन्तर्गत तृतीयाध्यायमें दक्षयज्ञमें आमन्त्रण न दिये जानेपर भी तथा श्रीमहादेवको वह अभिप्रेत न होनेपर भी दक्षात्मजा सतीके संमिलित होनेकी कथा वर्णित हुयी है.

(^४) धर्मपुरुषार्थके प्रकरणके अन्तर्गत चतुर्थाध्यायमें अपने पिता द्वारा अपने पतिकी निन्दा सुन न पानेके कारण सतीके द्वारा योगाग्निसे यज्ञमण्डपमें देहोत्सर्ग रूपी अनर्थकी कथा निरूपित हुयी है.

(^५) धर्मपुरुषार्थके प्रकरणके अन्तर्गत पांचवें अध्यायमें ऐसे अनर्थफलस्वरूप दक्षयज्ञका रुद्रगण वीरभद्रद्वारा ध्वंस किये जाना तथा इस कारण हुवे युद्धमें देवगणोंकी भी रुद्रगणोंके हाथों पराजयकी कथा वर्णित हुयी है.

(^६) धर्मपुरुषार्थके प्रकरणके अन्तर्गत छठे अध्यायमें पराजित देवगणोंका ब्रह्माजीके समक्ष अपनी दुर्दशाका विज्ञापन, ब्रह्माजीद्वारा रुद्रका अनुनय करनेकी प्रेरणा तथा उस यज्ञानुष्ठानमें देवगणोंद्वारा रुद्रके भागको मान्यता प्रदान करनेके निर्णयकी कथा वर्णित

हुयी है.

(७) धर्मपुरुषार्थके प्रकरणके अन्तर्गत सातवें अध्यायमें श्रीहरीके उस यज्ञमें प्रकट होनेपर सभी देव आदि गणोंद्वारा उनकी स्तुति की जानी और उससे प्रसन्न हो कर भगवान्ने उस यज्ञके अनुष्ठानको परिपूर्ण बनाया, उसकी कथा निरूपित हुयी है.

इस धर्मपुरुषार्थके प्रकरणके बाद अर्थपुरुषार्थका पांच अध्यायोंवाला दूसरा प्रकरण प्रारम्भ होता है :

(विसर्गलीलाके वर्णनार्थ चतुर्थस्कन्धके अन्तर्गत पांच अध्यायोंवाला दूसरा अर्थरूप पुरुषार्थका प्रकरण)

विसर्गलीलाके वर्णनमें अर्थपुरुषार्थके सिद्धिकी लीलाका वर्णन अभिप्रेत है. तदनुसार —

(८) प्रथम, अर्थात्, स्कन्धादिसे आठवें अध्यायमें भक्त बालक ध्रुवकी ^कसाधना, अर्थात्, ध्रुव राजकुमारकी अति उग्र तपस्या तथा भगवत्परिचर्या आदि साधनोंका निरूपण किया गया है.

(९) विसर्गलीलाके वर्णनमें अर्थपुरुषार्थरूप प्रकरणमें द्वितीय, अर्थात् स्कन्धादिसे नौवें, अध्यायमें ^खसाध्य, अर्थात्, भगवान्का प्रादुर्भूत हो कर वरप्रदान करना आदि तथा इसके द्वारा सिद्ध होते अर्थपुरुषार्थकी कथा वर्णित हुयी है.

(१०) विसर्गलीलाके वर्णनमें अर्थपुरुषार्थरूप प्रकरणमें तृतीय, अर्थात् स्कन्धादिसे दसवें, अध्यायमें ^गराज्यके प्रशासनार्थ आवश्यक यक्षादिके वधरूप दोष, अर्थात्, ध्रुवके क्रोधावेशवश युद्ध आदि राजदोषोंका निरूपण हुवा है.

(११) विसर्गलीलाके वर्णनमें अर्थपुरुषार्थरूप प्रकरणमें चौथे,

अर्थात् स्कन्धादिसे ग्यारहवें, अध्यायमें ^घमनूपदेशके कारण उन दोषोंकी निवृत्ति तथा ^ङफलप्राप्ति, अर्थात् अर्थपुरुषार्थके सिद्धिकी कथा वर्णित हुयी है.

(१२) विसर्गलीलाके वर्णनमें अर्थपुरुषार्थरूप प्रकरणमें पांचवें, अर्थात् स्कन्धादिसे बारहवें, अध्यायमें भक्त ध्रुवको भगवत्पदकी प्राप्तिरूप फलका निरूपण अभिप्रेत है.

इस तरह पांच प्रकारसे अर्थपुरुषार्थकी कथाका वर्णन भी पांच अध्यायोंमें किया गया है. अब तीसरे कामपुरुषार्थकी सिद्धिकी कथा अग्रिम ग्यारह अध्यायोंमें की जानी है.

(विसर्गलीलाके वर्णनार्थ चतुर्थस्कन्धके अन्तर्गत ग्यारह अध्यायोंवाला तीसरा कामरूप पुरुषार्थका प्रकरण)

पांच ज्ञानेन्द्रिय पांच कर्मेन्द्रिय और मन या अन्तःकरण यों ग्यारह प्रकारसे प्रकट होता होनेसे इस प्रकरणमें ग्यारह अध्याय समायोजित हैं. यहां कामवश पृथुकी कथामें, सर्वकाम और स्वकाम रूपी दो अवान्तर प्रकरण हैं.

(१३) विसर्गलीलाके वर्णनमें कामपुरुषार्थरूप प्रकरणके अन्तर्गत सर्वकामरूप अवान्तर प्रकरणके प्रथम, अर्थात् स्कन्धादिसे तेरहवें, अध्यायमें ध्रुवका वंश और उस वंशमें जनमें साधु प्रकृतिके राजा अंग और उनके असाधु प्रकृतिवाले पुत्र अत्याचारी वेनके दुर्गणोंसे त्रस्त अंग राजाके राज्यत्यागकी कथाका निरूपण किया गया है.

(१४) विसर्गलीलाके वर्णनमें कामपुरुषार्थरूप प्रकरणके अन्तर्गत सर्वकामरूप अवान्तर प्रकरणमें द्वितीय, अर्थात् स्कन्धादिसे चौदहवें, अध्यायमें प्रजापर वेनके अत्याचार और उस अत्याचारसे प्रजाकी रक्षाके हेतु ऋषियोंद्वारा वेनके विनाश किये जानेके

कारण प्रजाके बीचमें कोई रक्षक न बच जानेसे अधर्माभिवृद्धिवश लोकोपद्रव रूपी कार्यका वर्णन किया गया है।

(१५) विसर्गलीलाके वर्णनमें कामपुरुषार्थरूप प्रकरणके अन्तर्गत सर्वकामरूप अवान्तर प्रकरणके तृतीय, अर्थात् स्कन्धादिसे पंदरहवें, अध्यायमें ब्रह्मर्षियों द्वारा भगवदंशरूप महाराजा पृथुका प्रादुर्भावन और उनके सुप्रशासनके गुणोंके निरूपणकी कथा है।

(१६) विसर्गलीलाके वर्णनमें कामपुरुषार्थरूप प्रकरणके अन्तर्गत सर्वकामरूप अवान्तर प्रकरणके चौथे, अर्थात् स्कन्धादिसे सोलहवें, अध्यायमें महानुभाव राजा पृथुके भीतर भगवदावेशके कारण दिव्य गुणोंके निरूपणकी कथा है।

(१७) विसर्गलीलाके वर्णनमें कामपुरुषार्थरूप प्रकरणके अन्तर्गत सर्वकामरूप अवान्तर प्रकरणके पांचवें, अर्थात् स्कन्धादिसे सत्रहवें, अध्यायमें महाराजा पृथुका भूमिको डरानेके हेतु शरःसन्धान करनेपर भूमिद्वारा महाराजा पृथुकी स्तुतिकी कथा प्रतिपादित हुयी है।

(१८) विसर्गलीलाके वर्णनमें कामपुरुषार्थरूप प्रकरणके अन्तर्गत सर्वकामरूप अवान्तर प्रकरणके छठे, अर्थात् स्कन्धादिसे अट्ठारहवें, अध्यायमें महाराजा पृथुद्वारा भूमिके भलीभांति दोहनसे पुनः उर्वरा बनी पृथ्वीपर व्रज घोष ग्राम पुर पत्तन दुर्ग आदिके संरचनाद्वारा सभीकी कामनापूर्तिकी कथा वर्णित हुयी है।

(१९) विसर्गलीलाके वर्णनमें कामपुरुषार्थरूप प्रकरणके अन्तर्गत स्वकामरूप अवान्तर प्रकरणके सातवें, अर्थात् स्कन्धादिसे उन्नीसवें, अध्यायमें महाराजा पृथुद्वारा सौ अश्वमेध यज्ञोंके अनुष्ठानरूपा शुद्धिकी कथा निरूपित हुयी है।

(२०) विसर्गलीलाके वर्णनमें कामपुरुषार्थरूप प्रकरणके अन्तर्गत स्वकामरूप अवान्तर प्रकरणके आठवें, अर्थात् स्कन्धादिसे बीसवें, अध्यायमें महाराजा पृथुपर भगवान्द्वारा प्रकट किये

गये प्रसादकी कथा वर्णित हुयी है।

(२१) विसर्गलीलाके वर्णनमें कामपुरुषार्थरूप प्रकरणके अन्तर्गत स्वकामरूप अवान्तर प्रकरणके नौवें, अर्थात् स्कन्धादिसे इक्कीसवें, अध्यायमें यज्ञकी रक्षाके रूपमें स्वधर्मके उपदेशकी कथा कही गयी है।

(२२) विसर्गलीलाके वर्णनमें कामपुरुषार्थरूप प्रकरणके अन्तर्गत स्वकामरूप अवान्तर प्रकरणके दसवें, अर्थात् स्कन्धादिसे बाईसवें, अध्यायमें पृथु और सनत्कुमार के संवाद और महाराजा पृथुपर दिव्य प्रसाद और ज्ञान की कथा वर्णित हुयी है।

(२३) विसर्गलीलाके वर्णनमें कामपुरुषार्थरूप प्रकरणके अन्तर्गत स्वकामरूप अवान्तर प्रकरणके ग्यारहवें, अर्थात् स्कन्धादिसे तेईसवें, अध्यायमें महाराजा पृथुके वानप्रस्थाश्रममें प्रवेश करनेको राजभारके त्याग तथा वनमें उग्र तपस्याद्वारा अन्तमें ब्रह्मभावके लाभ की कथा कही गयी है।

इस तरह ग्यारह अध्यायोंद्वारा कामपुरुषार्थके सिद्धिकी कथाके बाद अब मोक्षरूप पुरुषार्थके सिद्धिकी कथा शेष आठ अध्यायोंमें की जानी है।

(विसर्गलीलाके वर्णनार्थ चतुर्थस्कन्धके अन्तर्गत आठ अध्यायोंवाला चौथा मोक्षरूप पुरुषार्थका प्रकरण)

मोक्षके, यहां विसर्गलीलाके अन्तर्गत, प्रमुखतया दो स्वरूप वर्णनीय हैं : ^क ब्रह्मभाव तथा ^ख सायुज्य, अतः प्रकरण भी दो ही हैं। सायुज्य उभयथा शक्य है मुख्य ब्रह्मभावापत्तिके रूपमें अथवा ब्रह्मभावापत्तिकी गौणतामें भी सायुज्य सम्भव है। इन दो तरहके मोक्षके प्रकारोंमें से प्रथम प्रकारका ब्रह्मभावात्मक सायुज्य मोक्ष वैराग्य सांख्य योग तप तथा भक्ति रूपा पंचपर्वा विद्याके कारण सिद्ध होता है। अतः इस ब्रह्मभावात्मक सायुज्यमोक्षके प्रकरणमें पांच अध्यायोंको समायोजित

किया गया है. ऐसे उभयविध मोक्षकी सिद्धि प्राचीनबर्हिषदों और प्रचेतसों को हुयी थी.

(२४) विसर्गलीलाके अन्तर्गत मोक्षप्रकरणके अवान्तर ब्रह्मभावात्मक सायुज्यके साधनके निरूपक प्रकरणवाले प्रथम, अर्थात् आदितः चौबीसवें, अध्यायमें रुद्रगीत स्तोत्रात्मक सायुज्यमुक्तिके साधनका निरूपण किया गया है.

इस तरह साधनके निरूपणके बाद अब साध्य ब्रह्मभावात्मक सायुज्यके निरूपणार्थ पांच अध्यायोंका समायोजित किया गया है.

(२५) विसर्गलीलाके अन्तर्गत मोक्षप्रकरणके अन्तर्गत ब्रह्मभावात्मक सायुज्य अवान्तर प्रकरणवाले द्वितीय, अर्थात् आदितः पच्चीसवें, अध्यायमें जाग्रदवस्थाद्वारा सर्ववस्तुओंके विवेकका निरूपण जीवकी संसारमार्गमें गतिकी सामग्रियोंके वर्णनतया अभिप्रेत है.

(२६) विसर्गलीलाके अन्तर्गत मोक्षप्रकरणके ब्रह्मभावात्मक सायुज्यके अवान्तर प्रकरणवाले तृतीय, अर्थात् आदितः छब्बीसवें, अध्यायमें स्वप्नावस्थामें सर्ववस्तुओंके विवेकके प्रतिपादनद्वारा संसारमार्गमें गमनकी सामग्रियोंका वर्णन किया गया है.

(२७) विसर्गलीलाके अन्तर्गत मोक्षप्रकरणके ब्रह्मभावात्मक सायुज्यके अवान्तर प्रकरणमें चतुर्थ, अर्थात् आदितः सत्ताईसवें, अध्यायमें सभी नश्वर वस्तुओंके विवेकके प्रतिपादन द्वारा संसारमार्गमें गमनकी सामग्रियोंका वर्णन किया गया है.

(२८) विसर्गलीलाके अन्तर्गत मोक्षप्रकरणके ब्रह्मभावात्मक सायुज्य अवान्तर प्रकरणवाले पांचवें, अर्थात् आदितः अट्ठाईसवें, अध्यायमें सर्ववस्तुओंके सार्थक विनाशके प्रतिपादनद्वारा मुक्तिमार्गमें गमनकी सामग्रियोंका वर्णन किया गया है.

इस तरह मुख्य ब्रह्मभावात्मक सायुज्यके निरूपणके बाद अब भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूपके साथ सायुज्यरूप प्रमुख मोक्षका प्रकार तीन अध्यायोंमें निरूपित किया गया है. भगवत्सायुज्यरूप मोक्ष, क्योंकि, साधन प्रसाद और फल यों तीन तरहसे प्रचेतसोंको सिद्ध हुवा, इसलिये सायुज्यके प्रकरणमें तीन अध्याय समायोजित हुवे हैं.

(२९) विसर्गलीलाके अन्तर्गत मोक्षप्रकरणके ब्रह्मभावात्मक सायुज्यके अवान्तर प्रकरणके उपसंहारपूर्वक अवशिष्ट परममोक्षके उपक्रमतया छुट्टे, अर्थात् आदितः उनतीसवें, अध्यायमें सभी सन्देशोंको दूर करनेके बाद फलका निरूपण किया गया है.

(३०) विसर्गलीलाके अन्तर्गत परम मोक्षरूप प्रकरणके अवान्तर ^ख भगवत्सायुज्य प्रकरणवाले प्रथम, अर्थात् आदितः तीसवें, अध्यायमें प्रचेतसोंको प्राप्त हुवे भगवत्प्रसादका वर्णन किया गया है.

(३१) विसर्गलीलाके अन्तर्गत परममोक्षप्रकरणके अवान्तर ^ख भगवत्सायुज्य प्रकरणवाले द्वितीय, अर्थात् आदितः इकतीसवें, अध्यायमें परमफलका वर्णन किया गया है.

यों पांच ब्रह्मभावके और तीन सायुज्यके बराबर आठ अध्यायोंमें मोक्षप्रकरण वर्णित हुवा है. इस तरह विसर्गलीलाका निरूपण इकतीस अध्यायोंद्वारा पूर्ण किया गया है.



पंचम स्कन्ध

(पंचमस्कन्धार्थ स्थानलीला)

स्थूलजगत्को स्थूलवपु हरिका पहचाना

स्कन्ध द्वितीयमें, ध्यान वही अब है अपनाना।

ध्यान करने असमर्थ स्वतः हम जीव सदा हैं

बुद्धिप्रेरक-कृष्णकृपावश कर सकते हैं॥

इसके बाद पंचमस्कन्धमें भगवान्की स्थानरूपा लीलाका निरूपण किया गया है। स्वयं श्रीभागवतपुराणमें स्थानलीलाको “स्थिति या स्थान रूपी लीला वैकुण्ठपर विजय है” इन शब्दोंमें परिभाषित किया गया है। ‘विजय’ पदका अर्थ होता है, किसीको अपने आधीन बनाना। अतः सर्गलीलाके अन्तर्गत प्रकट किये पदार्थोंको, जिन्हें विसर्गलीलाके अन्तर्गत यथोचित रूपमें समायोजित भी किया गया, उन पदार्थोंको उनकी मर्यादाके अनुरूप स्थापित करना स्थानलीलामें प्रतिपादनीय माना गया है। प्राकृत पदार्थ, क्योंकि, चौबीस प्रकारके होते हैं, अतः प्राकृत पदार्थोंपर विजय भी १ से २४ यों चौबीस अध्यायोंमें प्रतिपादित हुयी है।

प्राकृत पदार्थोंके बीच अर्थात् सृष्टि रूपी स्थानमें स्वरूपतः प्रकृतिसे अतीत ईश्वर जीव यों दो रूपोंमें भगवान् लीलया अवस्थान करते हैं। तदर्थ अन्तिम दो २५-२६ वें अध्याय भी योजित हुवे हैं।

इस तरह कुल मिला कर यों छब्बीस अध्यायोंवाला यह पंचमस्कन्ध है।

रहनेकी क्रियाको जैसे ‘स्थान’ कहा जाता है, वैसे ही जिस साधनके अवलंबनद्वारा अथवा जहां रहा जाता हो, उस साधन या

देश को भी ‘स्थान’ कहा जाता है। एतदर्थ देश-काल-स्वरूपके त्रिविध प्रभेदोंका ज्ञान आवश्यक होता है। तदन्तर्गत स्थान भूः भुवः और स्वः यों तीन तरहके देशात्मक होते हैं। वेदमें “बारह महिने पांच ऋतु तीन लोक और आदित्य” यों कालको कुल मिला कर इक्कीस प्रकारका माना गया है। इसी तरह पूर्वोक्त ईश्वर-जीवके प्रभेदवश स्वरूप दो प्रकारके होते हैं। यों इस स्कन्धमें छब्बीस अध्यायोंके योजनमें छब्बीस संख्याका प्रयोजन समझा सकता है। इन सभी स्थानोंमें सर्वत्र-सर्वदा भगवान्के अलावा तो अन्य कोई रह नहीं सकता। अतः सभीके उपादान होने तथा नियामक होने से भगवान् सर्वत्र-सर्वदा-सर्वरूपेण स्थित हो पाते हैं इसे स्थानलीला समझी जाती है।

(प्रकरणार्थ)

यहां प्रकरणोंका विभाजन इस तरह किया गया है कि स्थूलदृष्ट्या स्थानलीलाका विचार करनेपर अध्याय १ से अध्याय १५ तक स्वरूपस्थिति निरूपित हुयी है। इसी तरह अध्याय १६ से अध्याय २६ पर्यन्त देशस्थिति प्रतिपादनीय है। अतः प्रमुख प्रकरण दो ही बनते हैं। यहां कालमें स्थितिका निरूपण नहीं किया गया है। क्योंकि जिस कालमें सब कुछ अवस्थित वह काल स्वयं तो भगवान्में ही उनकी चेष्टाके रूपमें स्थित रहता है।

अतः स्वरूपद्वारा स्थिति और देशमें स्थिति, यों स्थानलीलाके दो प्रमुख प्रकरण बनते हैं। इनमें स्वरूपस्थिति पुनः षड्विध भगवद्गुणोंकी स्थितिके रूपमें और अष्टांगयोग तथा ज्ञान की सिद्धिके रूपमें अभिप्रेत है। अतः इसके दो अवान्तर प्रभेद दिखलाये गये हैं।

(अध्यायार्थ)

अपने गुणोंद्वारा भगवान्की स्वरूपस्थितिके निरूपणार्थ, क्योंकि भगवान् ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान वैराग्य रूपी छह गुणोंसे युक्त

हैं अतः, छह अध्याय इस अवान्तर प्रकरणमें समायोजित हैं।

(स्थानलीलान्तर्गत स्वरूपस्थितिके मुख्य प्रकरणके अन्तर्गत भगवान्की अपने छह गुणोंसे स्वरूपस्थितिके निरूपणार्थ १-६ अध्यायोंवाला अवान्तरप्रकरण)

(१) छह भगवद्गुणोंमें से ऐश्वर्य तथा वीर्य रूपी दो गुणोंद्वारा श्रीकृष्णकी स्वरूपेण स्थितिका निरूपण तो तो प्रथम प्रकरणमें ही प्रियव्रत राजाके स्वरूपमें भगवान्के स्थापक ऐश्वर्य तथा वीर्य के वर्णनद्वारा प्रथम अध्यायमें किया गया है।

(२) अपने श्री रूपी गुणद्वारा श्रीकृष्णकी स्वरूपेण स्थितिके प्रकरणमें आग्नीध्रके स्वरूपमें अपनी स्थापिका श्रीका निरूपण द्वितीय अध्यायमें किया गया है।

(३) अपने यशोरूपी गुणद्वारा श्रीकृष्णकी स्वरूपेण स्थितिके प्रकरणमें नाभि राजाके स्वरूपमें अपने स्थापक यशका निरूपण तृतीय अध्यायमें किया गया है।

(४) अपने धर्म रूपमें श्रीकृष्णकी स्वरूपेण स्थितिके प्रकरणमें प्रजाके स्वरूपमें अपने स्थापक धर्मरूप ऋषभावतारका निरूपण चतुर्थ अध्यायमें किया गया है।

(५) अपने ज्ञान रूपी गुणद्वारा श्रीकृष्णकी स्वरूपेण स्थितिके प्रकरणमें ऋषभपुत्रोंके स्वरूपमें अपने स्थापक ज्ञानका निरूपण पांचवें अध्यायमें किया गया है।

(६) अपने वैराग्य रूपी गुणद्वारा श्रीकृष्णकी स्वरूपेण स्थितिके प्रकरणमें योगिप्रभृति सभी लोगोंके स्वरूपमें अपने स्थापक वैराग्यका निरूपण छठे अध्यायमें किया गया है।

इसके बाद दूसरे प्रकारकी स्वरूपस्थितिके निरूपणार्थ दूसरा अवान्तर प्रकरण आता है।

(स्थानलीलान्तर्गत स्वरूपस्थितिके मुख्य प्रकरणके अन्तर्गत भगवान्की अष्टांगयोग तथा ज्ञान द्वारा स्वरूपस्थितिके निरूपणार्थ ७-१५ अध्यायोंवाला अवान्तरप्रकरण)

योग अष्टांगोंवाली साधना है। अतः तदनुरूप योगद्वारा स्वरूपस्थितिके निरूपणार्थ द्वितीय प्रकरणमें आठ अध्यायोंको तथा मध्यमें एक ज्ञानके द्वारा स्वरूपस्थितिके वर्णनार्थ यों कुल नौ अध्यायोंवाला यह अवान्तरप्रकरण है।

(७) श्रीकृष्णकी योगद्वारा स्वरूपस्थितिके अवान्तरप्रकरणमें भरतके स्वरूपमें प्रजापालनादि धर्म, योगसाधना और भक्ति का निरूपण सातवें अध्यायमें किया गया है।

(८) श्रीकृष्णकी योगद्वारा स्वरूपस्थितिके अवान्तरप्रकरणमें प्रारब्धादिके वश योगसाधनाके विघात हो जानेपर भी भरत, जो सर्वसाधनोंसे सम्पन्न मुमुक्षु थे, उनका मनकी चंचलताके प्रवाहमें बह जानेपर भी हरिभक्तिद्वारा उन्हें ज्ञानप्राप्त होनेका निरूपण आठवें अध्यायमें किया गया है।

(९) श्रीकृष्णकी योगद्वारा स्वरूपस्थितिके अवान्तरप्रकरणमें मनकी स्थिरता भगवत्प्राप्तिके योग्य ब्राह्मणदेह मिलनेपर भी प्रतिबन्धक अध्यापन वृषलके हाथोंसे मृत्यु आदिसे हरिभक्ति ही मुक्ति प्रदान करती है, इसका निरूपण नौवें अध्यायमें किया गया है।

(१०) श्रीकृष्णकी योगद्वारा स्वरूपस्थितिके अवान्तरप्रकरणमें मर्यादामें कर्म आदिकी बलिष्ठता दिखलानेको भरतको ज्ञानी होनेपर भी जन्मान्तर लेना पड़ा और यह जतानेको ज्ञानी होनेके कारण रहूँगणको ज्ञानोपदेशके निरूपणके प्रसंगमें गुरुके प्रति प्रणति और प्रश्न का निरूपण दसवें अध्यायमें किया गया है।

(११) श्रीकृष्णकी योगद्वारा स्वरूपस्थितिके अवान्तरप्रकरणमें

पूर्वजन्मसिद्ध ज्ञानके बोधक उपदेशका निरूपण तथा योगानुसारी विज्ञान तथा मनोनिग्रह का निरूपण ग्यारहवें अध्यायमें किया गया है।

(१२) श्रीकृष्णकी योगद्वारा स्वरूपस्थितिके अवान्तरप्रकरणमें पूर्वजन्मसिद्ध ज्ञानके बोधक उपदेशके प्रसंगमें भगवान्से अतिरिक्त पदार्थोंको अवस्तु दिखला कर उत्कृष्ट वैराग्यका निरूपण बारहवें अध्यायमें किया गया है।

(१३) श्रीकृष्णकी योगद्वारा स्वरूपस्थितिके अवान्तरप्रकरणमें पूर्वजन्मसिद्ध ज्ञानके उपदेश देनेके प्रसंगमें अधिकारके परीक्षक होनेके निरूपणमें भगवान्से अतिरिक्त सारे पदार्थ अन्तमें दुःखप्रद ही होते हैं ऐसे निरूपण किया गया। अतः ऐसे उत्कृष्टतर वैराग्यका निरूपण तेरहवें अध्यायमें किया गया है।

(१४) श्रीकृष्णकी ज्ञानद्वारा स्वरूपस्थितिके निरूपणार्थ इस अध्यायमें ज्ञानमार्गीय पुरञ्जनोपाख्यानके रूपकवाली परोक्षकथा राजा परिक्षित भलीभांति समझ नहीं पाये, एतावता उनका भक्तिमार्गीय उत्कर्ष दिखलाते हुवे भरतके दो पूर्वजन्मोंकी सार्थकताका निरूपण इस चौदहवें अध्यायमें किया गया है।

(१५) पुनः श्रीकृष्णकी योगद्वारा स्वरूपस्थितिके निरूपणार्थ भरतके वंशकी उत्तमताका निरूपण इस पंद्रहवें अध्यायमें किया गया है।

इस तरह तीन तरहकी स्वरूपस्थितिके निरूपणमें कुल मिला कर पंद्रह अध्यायोंका संनिवेश हुवा है। इसके बाद दूसरा मुख्य प्रकरण देशस्थितिका प्रारम्भ होता है।

(स्थानलीलान्तर्गत द्वितीय मुख्य प्रकरण देशस्थितिका है अतः तदन्तर्गत तीन अवान्तर प्रकरणोंमें प्रथम अवान्तरप्रकरण १६-२० अध्यायोंका)

जैसा कि कहा जा चुका तदनुसार भूः भुवः स्वः यों देशके तीन तरहके प्रभेद होते हैं। अतः तदनुसार भूलोक प्रधानतया पंचमहाभूतोंसे घटित होता है। अतः इस अवान्तरप्रकरणमें पांच ही अध्याय तदनुरूप समायोजित हुवे हैं।

(१६) श्रीकृष्णकी देशस्थितिके मुख्यप्रकरणके अन्तर्गत भूमि रूपी अवान्तर मध्य स्थानके वर्णनके अन्तर्गत भूमिके परिमाण तथा स्वरूप सोलहवें अध्यायमें निरूपित हुवे हैं।

(१७) श्रीकृष्णकी देशस्थितिके मुख्यप्रकरणके अन्तर्गत भूमि रूपी अवान्तर मध्य स्थानके वर्णनके अन्तर्गत भूमिके नवखण्डोंमें से एकखण्डमें गंगाजलके सम्बन्धके कारण भूमिमें आगन्तुक धर्मकृत उत्कर्षका निरूपण हुवा है। भगवान् श्रीहरिकी पूजाके कारण इलावृत खण्डके उत्कर्षका वर्णन सत्रहवें अध्यायमें किया गया है।

(१८) श्रीकृष्णकी देशस्थितिके मुख्यप्रकरणके अन्तर्गत भूमि रूपी अवान्तर मध्य स्थानके वर्णनके अन्तर्गत भद्राश्व आदि छह खण्डोंके उत्कर्षका वर्णन अठारहवें अध्यायमें किया गया है।

(१९) श्रीकृष्णकी देशस्थितिके मुख्यप्रकरणके अन्तर्गत भूमि रूपी अवान्तर मध्य स्थानके वर्णनके अन्तर्गत गुणमार्गद्वारा हरिपूजनका उत्तरोत्तर उत्कर्ष निरूपण करके दो प्रदेशोंमें अर्थात् पर्वतोंमें से उद्भूत होनेवाली नदियोंके जलके कारण तथा कर्मभूमि होनेके कारण भी सर्वोपजीव्य होनेसे तथा देवताओंकेलिये भी प्रशंसनीय होनेके कारण भारतवर्ष रूपी भूप्रदेशका परम उत्कर्ष उन्नीसवें अध्यायमें वर्णित हुवा है।

(२०) श्रीकृष्णकी देशस्थितिके मुख्यप्रकरणके अन्तर्गत भूमि रूपी अवान्तर मध्य स्थानके वर्णनके अन्तर्गत प्लक्ष आदि द्विपोंके प्रमाण तथा लक्षण का निरूपण बीसवें अध्यायमें किया गया है।

(स्थानलीलान्तर्गत २१-२३ अध्यायोंवाला पांचवा प्रकरण)

भुवर्लोकमें प्रकृतिके तीन सत्त्व-रजस्-तमो गुणोंकी प्रधानता होनेके कारण इस प्रकरणमें तीन अध्याय समायोजित हुवे हैं.

(२१) श्रीकृष्णकी देशस्थितिके मुख्यप्रकरणके अन्तर्गत अवान्तर-ऊर्ध्वदेशरूप द्युलोकमें स्थितिका तथा द्युमर्यादाका निरूपण करते हुवे सूर्यलोकका वर्णन इक्कीसवें अध्यायमें किया गया है.

(२२) श्रीकृष्णकी देशस्थितिके मुख्यप्रकरणके अन्तर्गत अवान्तर-ऊर्ध्वदेशरूप द्युलोककी मर्यादाका निरूपण बाईसमें अध्यायमें किया गया है.

(२३) श्रीकृष्णकी देशस्थितिके मुख्यप्रकरणके अन्तर्गत अवान्तर-ऊर्ध्वदेशरूप द्युलोककी मर्यादाके निरूपणमें शिशुमार रूपी तारामण्डल संस्थान तेईसवें अध्यायमें वर्णित हुवा है.

(स्थानलीलान्तर्गत २४-२६ अध्यायोंवाला छठा प्रकरण)

स्वर्लोकमें भी प्रकृतिके उक्त तीन गुणोंकी प्रधानता रहती है. अतः यहां भी तीन अध्याय समायोजित हुवे हैं.

(२४) श्रीकृष्णकी देशस्थितिके मुख्यप्रकरणके अन्तर्गत अवान्तर-अधोदेशरूप तथा स्वर्गलोकरूप देशोंकी मर्यादाके निरूपण चौबीसवें अध्यायमें किये गये हैं.

(२५) श्रीकृष्णकी देशस्थितिके मुख्यप्रकरणके अन्तर्गत अवान्तर-अधोदेशरूप पाताल आदि देशोंमें भी सुखके हेतुओंका निरूपण पच्चीसवें अध्यायमें किया गया है.

(२६) श्रीकृष्णकी देशस्थितिके मुख्यप्रकरणके अन्तर्गत निषिद्ध कर्मोंके कर्ताओंको कर्मफलतया अवान्तर-नरकदेशकी यातना तथा उसकी मर्यादाका निरूपण छब्बीसवें अध्यायमें किया गया है.

इस तरह स्वरूपस्थिति और देशस्थिति दोनों ही तीन-तीन प्रकारकी होती हैं अतः यहां इस स्कन्धमें कुल मिला कर छह प्रकरणोंका संनिवेश है.



(षष्ठस्कन्धार्थ पोषणलीला)

षष्ठस्कन्धमें पुष्टिलीला या भगवदनुग्रहरूपा पोषणलीला प्रमुखतया वर्णनीय है. काल कर्म स्वभाव आदिकी नियतिके वश अपरिहार्यतया होनेवाले प्रभावोंको निरस्त करके, उन प्रभावोंसे जीवात्माको बचा लेनेकी लीलाको 'पोषण' कहा जाता है. इसीका दूसरा नाम 'अनुग्रह' भी है. यह भगवान्का अचिन्त्य धर्मरूप विशेष सामर्थ्य है.

(प्रकरणार्थ)

इस लीलाके अन्तर्गत नाम ध्यान तथा अर्चन के प्रभेदवश तीन प्रमुख प्रकरण योजित हुवे हैं. ये नाम ध्यान या अर्चन भगवान्के अनुग्रह अथवा भगवान्द्वारा पोषण किये जानेके संकल्पोंके अनुरूप जीवात्माओंके भीतर प्रकट होनेवाले अवान्तरव्यापार हैं, अर्थात् भगवान् ही इन्हें जीवोंके उद्धारके बहानेकी तरह प्रकट करते हैं.

(अध्यायार्थ)

इस प्रथम प्रकरणमें भगवन्नामोंके श्रवण कीर्तन तथा स्मरण रूपी अवान्तरव्यापारोंका निरूपण करनेवाले तीन अध्याय योजित हुवे हैं.

(पोषणलीलाके अन्तर्गत १-३ अध्यायोंवाला प्रथम नामप्रकरण)

(१) पोषणलीलाके अवान्तरव्यापाररूप भगवन्नामोंके प्रकरणमें अपने पुत्रका जो 'नारायण' नाम रखा था, उस अर्थमें नामके उच्चारणकी महिमाके वश अजामिलने यमदूतोंके मुखसे वृत्तान्त जो सुना, वह इस अध्यायमें निरूपित हुवा है.

(२) पोषणलीलाके अवान्तरव्यापाररूप भगवन्नामोंके प्रकरणमें विष्णुदूतोंके मुखसे भगवन्नामकीर्तनकी प्रशंसा और उसके कारण मिलते फलका निरूपण इस द्वितीय अध्यायमें किया गया

है.

(३) पोषणलीलाके अवान्तरव्यापाररूप भगवन्नामोंके प्रकरणमें यमराजके मुखसे भगवन्नामका स्मरण करनेवालोंके बारेमें सिद्धान्तका निरूपण इस तृतीय अध्यायमें किया गया है.

(पोषणलीलाके अन्तर्गत भगवद्रूपके ध्यानका निरूपण करनेवाले ४-१७ अध्यायोंवाला द्वितीय प्रकरण)

इसके बाद भगवद्ध्यानमें भगवद्रूपके ध्यानकी महत्ता होनेके कारण तथा रूपकी महत्ताके निरूपणार्थ चौदह अध्याय योजित किये गये हैं :

(४) पोषणलीलाके अवान्तरव्यापाररूप भगवद्ध्यानके प्रकरणमें दक्षपर केवल भौतिक सात्त्विक प्रसाद प्रकट हुवा उसका निरूपण इस चतुर्थ अध्यायमें किया गया है.

(५) पोषणलीलाके अवान्तरव्यापाररूप भगवद्ध्यानके प्रकरणमें दक्षपुत्रोंपर ज्ञानके कारण तमोगुणसे मिश्रित सात्त्विक प्रसाद प्रकट हुवा उसकी कथा इस पांचवें अध्यायमें निरूपित हुयी है.

(६) पोषणलीलाके अवान्तरव्यापाररूप भगवद्ध्यानके प्रकरणमें दक्षकी कन्याओंके उपर जगत्के धारणार्थ रजोगुणसे मिश्रित सात्त्विक भौतिक प्रसाद जो प्रकट हुवा, उसकी कथा छठे अध्यायमें निरूपित हुयी है.

(७) पोषणलीलाके अवान्तरव्यापाररूप भगवद्ध्यानके प्रकरणमें प्रसाद प्रकट करनेको काश्यप त्वष्टाके पुत्र विश्वरूपद्वारा इन्द्रका पौरोहित्य और उसपर भी देवताओंके गुरु बृहस्पतिके समान ज्ञान तपस्या रूपी आध्यात्मिक प्रसादका निरूपण सातवें अध्यायमें निरूपित हुवा है.

(८) पोषणलीलाके अवान्तरव्यापाररूप भगवद्ध्यानके प्रकरणमें

इन्द्रपर प्रसाद प्रकट करनेको नारायणकवचका उपदेश तथा विश्वरूपके भीतर वैष्णवताके प्रकट होनेके प्रसादकी कथा आठवें अध्यायमें निरूपित हुयी है।

(९) पोषणलीलाके अवान्तरव्यापाररूप भगवद्ध्यानके प्रकरणमें इन्द्रपर प्रसाद प्रकट करनेको कर्मनिष्ठ विश्वरूपके द्वारा अन्यथा रीतिसे यज्ञका अनुष्ठान करवानेकी कथा, इसके कारण विश्वरूपकी दैत्यभावापत्ति हो जानेसे भी इन्द्रपर भी प्रकट होनेवाले प्रसादमें प्रतिबन्ध उठ खड़े होनेकी कथा तथा विश्वरूपके वधकी कथा कही गयी है। त्वष्टाके पुत्र वृत्रके भक्त होनेपर भी देवद्रोहके अपराधवश उसके दैत्यभावापत्तिकी कथा; और इन्द्रके उपर होनेवाले प्रसादमें उसकी प्रतिबन्धकताके कारण उसके वधकी कथा; तथा, दधीचि ऋषिके दैत्य न होनेपर भी उनका जीवन भी इन्द्रपर किये जानेवाले प्रसादमें प्रतिबन्ध होनेकी भी कथा इस नौवें अध्यायमें कही गयी हैं। इसके अलावा इन्द्रपर किये जानेवाले प्रसादमें प्रतिबन्धक होनेके रूपमें इन्द्रद्वारा कर्म ज्ञानी और भक्त के वधकी कथा कही गयी है।

(१०) पोषणलीलाके अवान्तरव्यापाररूप भगवद्ध्यानके प्रकरणमें वृत्रासुरपर आधिदैविक प्रसादरूप ज्ञानका निरूपण दसवें अध्यायमें किया गया है। विषादके कारण सेनाद्वारा पलायन किये जानेपर भी वृत्रासुर स्वयं विषादग्रस्त नहीं हुवा और सैनिकोंको जो उसने उपदेश दिया उससे पता चलता है कि वृत्रासुरके ज्ञानमें किसी तरहकी रुकावट या प्रतिरोध नहीं था। यही दिखलाना इस दसवें अध्यायमें अभिप्रेत है।

(११) पोषणलीलाके अवान्तरव्यापाररूप भगवद्ध्यानके प्रकरणमें वृत्रासुरके ऊपर आधिदैविक प्रसादरूपा जो भक्ति प्रकट हुयी उसका निरूपण ग्यारहवें अध्यायमें किया गया है। वृत्रके पराक्रमको देख कर विषादग्रस्त हो जानेवाले इन्द्रको अपने

मारनेका उपाय समझानेवाले वृत्रासुरमें भगवान्‌के अलावा अन्य किसी भी अनुराग नहीं है क्योंकि अतीव दैन्यके साथ की भगवत्स्तुतिमें भी वृत्रासुरके भीतर भगवान्‌के माहात्म्यका ज्ञान और स्नेह यों भक्तिके दोनों ही अंश अक्षुण्ण दिखलायी पड़ते हैं।

(१२) पोषणलीलाके अवान्तरव्यापाररूप भगवद्ध्यानके प्रकरणमें वृत्रासुरपर आधिदैविक प्रसादरूप बलका निरूपण किया गया है। साथ ही साथ इन्द्रपर भी प्रसादका ज्ञापक वृत्रासुरका वध किया गया है। वज्रप्रहार करने बाद स्वयं विलज्जित होनेवाले इन्द्रको ज्ञान और नीति के उपदेशकी कथामें पुनः इन्द्रको वज्रग्रहण करवानेके बावजूद निरायुध कटी बाहुओंवाले वृत्रासुरद्वारा इन्द्रको उसके वाहनके निगल जानेकी कथा वृत्रके अलौकिक बलके निरूपणार्थ इस बारहवें अध्यायमें योजित की गयी है।

(१३) पोषणलीलाके अवान्तरव्यापाररूप भगवद्ध्यानके प्रकरणमें वृत्रासुरवध भी आधिदैविक होनेके कारण उसके कारण इन्द्रको जो पापाचरण करनेका क्लेश हुवा और वह ऋतम्भर भगवान्‌के ध्यानद्वारा निवृत्त हुवा, स्वयं भगवान्‌ रुद्रने इन्द्रके पापोंकी हानि सूचित की, इसी तरह लक्ष्मीजीद्वारा इन्द्ररक्षा और ध्यानमें किसी तरहका प्रतिबन्ध न रह जानेकी कथा साथ ही साथ अश्वमेध यज्ञके अनुष्ठानद्वारा इन्द्रको महेन्द्र बन पानेकी कथा इस तेरहवें अध्यायमें निरूपित हुयी है।

(१४) पोषणलीलाके अवान्तरव्यापाररूप भगवद्ध्यानके प्रकरणमें इन्द्रको भक्तिमार्गीय भक्तोंके लिये अनुपयोगी मतान्तरसिद्ध वैराग्यके प्रदानका निरूपण चौदहवें अध्यायमें किया गया है।

(१५) पोषणलीलाके अवान्तरव्यापाररूप भगवद्ध्यानके प्रकरणमें इन्द्रको भक्तिमार्गीय भक्तोंके लिये अनुपयोगी मतान्तरसिद्ध

ज्ञानके प्रदानका निरूपण पंदरहवें अध्यायमें किया गया है.

(१६) पोषणलीलाके अवान्तरव्यापाररूप भगवद्ध्यानके प्रकरणमें इन्द्रको भक्तिमार्गीय भक्तोंके लिये अनुपयोगी मतान्तरसिद्ध भक्तिरूप प्रसादका निरूपण सोलहवें अध्यायमें किया गया है.

(१७) पोषणलीलाके अवान्तरव्यापाररूप भगवद्ध्यानके प्रकरणमें मुख्य भक्तिमें ऐसा कोई दोष हो नहीं सकता अतः दोषको आगन्तुक होने और उसके हेतुभूत शापकी कथा जो भक्तिमार्गीय भक्तोंके बारेमें सम्भव नहीं अतः मतान्तरसिद्ध शापकथाका निरूपण सत्रहवें अध्यायमें किया गया है.

(पोषणलीलाके अन्तर्गत भगवान्के अर्चनका निरूपण करनेवाले

१८-१९ अध्यायोंवाला तृतीय प्रकरण)

(१८) पोषणलीलाके अवान्तरव्यापाररूप भगवदर्चनरूपा क्रियाके प्रकरणमें बाह्य पूजाके कारण बाह्य आसुरभाव निवृत्त होता है उसकी कथा अठ्ठारहवें अध्यायमें वर्णित हुयी है.

(१९) पोषणलीलाके अवान्तरव्यापाररूप भगवदर्चनरूपा क्रियाके प्रकरणमें आन्तर पूजाके कारण आन्तर आसुरभाव निवृत्त होता है उसकी कथा उन्नीसवें अध्यायमें वर्णित हुयी है.



सप्तम स्कन्ध

(सप्तमस्कन्धार्थ ऊतिलीला)

सप्तम स्कन्धमें ऊतिलीलाका निरूपण किया गया है. 'ऊति' पद जीवात्माके भीतर किये गये कर्मोंकी वासनाओंके आतानवितानात्मक जालके अर्थमें प्रयुक्त हुवा है. अपवादरूपा पुष्टिलीला, क्योंकि, पोषणरूपा है अतः उत्सर्गरूपा मर्यादाके निरूपण बिना उस पोषणलीलाका भलीभांति बोध शक्य नहीं, अतः एक मर्यादा निर्धारित होनी चाहिये कि जीवात्माओंकी स्वयंद्वारा किये गये कर्मोंकी वासनाकी मर्यादाके अनुरोधवश कैसी गति सम्भावित थी और परमात्माने अपनी पोषणलीलाद्वारा कैसे जीवात्माका रक्षण किया! यदि कर्मवासनाकी औत्सर्गिकी मर्यादा स्थापित करनेकी लीला स्वयं भगवान्के द्वारा निर्धारित न की गयी हो तो भगवान्में उसके अपवादार्थ पुष्टिलीला प्रकट करनेकी सामर्थ्य भी सन्देहास्पद बन सकती है. अतः पुष्टिलीलाके बारेमें पक्षपातके दोषके परिहारार्थ भी ऊतिलीला प्रासंगिक बन जाती है.

(प्रकरणार्थ)

जीवात्माओंके भीतर विसर्गलीलाके अन्तर्गत निर्धारित धर्माधर्म अर्थानर्थ कामाकाम मुक्ति-संसृति रूपा मर्यादाओंके अनुरूप या तो आधिभौतिक आध्यात्मिक और आधिदैविक अथवा असद्वासना सद्वासना और मिश्रवासना का जाल बुना हुवा रहता है. अतः तदनुसार इस स्कन्धमें भी प्रमुखतया असद्वासना सद्वासना और मिश्रवासना रूप तीन प्रकरणोंका ही संनिवेश किया गया है.

(अध्यायार्थ)

इसके अलावा जीवात्माके सारे कर्म देहाध्यास प्राणाध्यास इन्द्रियाध्यास और अन्तःकरणाध्यास मूलक होते हैं. और ये चारों अध्यास स्वरूपाज्ञान या स्वरूपविस्मृति के बिना शक्य नहीं. अतः पंचपर्व अविद्याके पांच

पर्वोंके अनुरूप इन तीनों प्रकरणोंमें पांच-पांच अध्याय योजित किये गये हैं. न केवल इतना अपितु भगवद्गीताके अनुसार प्रत्येक कर्म जो जीवात्मा कर पाती है, उसमें (ऊतिलीलाके अन्तर्गत १-५ अध्यायोंवाला प्रथम असद्वासनाप्रकरण) अधिष्ठान कर्ता करण पृथक्-पृथक्चेष्टा तथा दैव यों पांच कर्मघटक तत्त्व प्रतिपादित किये गये हैं. तदनुसृततया भी प्रत्येक प्रकरणमें पांच-पांच अध्यायोंका योजन उचित लगता है.

यों सब मिला कर इस स्कन्धमें पंद्रह अध्याय योजित किये गये हैं. अतः प्रथम पांच अध्याय असद्वासनाके प्रकरणमें. द्वितीय पांच अध्याय सद्वासनाके प्रकरणमें और तृतीय पांच अध्याय मिश्रवासनाके प्रकरणमें योजित हुवे हैं.

(ऊतिलीलाके अन्तर्गत १-५ अध्यायोंवाला प्रथम असद्वासनाप्रकरण)

(१) असद्वासनाके प्रकरणमें वैकुण्ठमें सनकादि ऋषिओंके अतिक्रम करनेवाले असद्वासनाके कार्यरूप औद्धत्यका निरूपण प्रथम अध्यायमें किया गया है.

(२) ऊतिलीलाके असद्वासनाके प्रकरणमें सभी लोकोंको पीड़ा प्रदान करनेवाले असद्वासनाके कार्यरूप तपका निरूपण इस द्वितीय अध्यायमें किया गया है.

(३) ऊतिलीलाके असद्वासनाके प्रकरणमें असद्वासनाके कार्यरूप तपोरूप स्वपीड़ाका निरूपण इस तृतीय अध्यायमें किया गया है.

(४) ऊतिलीलाके असद्वासनाके प्रकरणमें अत्यन्त भोगसम्पन्न-ताके बावजूद अतृप्तिरूपा असद्वासनाकी कार्यरूपा अनिर्वृतिका निरूपण इस चतुर्थ अध्यायमें किया गया है.

(५) ऊतिलीलाके असद्वासनाके प्रकरणमें भगवद्भक्तोंको असद्वासनाके कार्यरूप पीड़ाप्रदानका निरूपण इस पांचवे अध्यायमें किया गया है.

(ऊतिलीलाके अन्तर्गत ६-१० अध्यायोंवाला द्वितीय सद्वासनाका प्रकरण)

ऊतिलीलाके अन्तर्गत सद्वासनाके प्रकरणमें भी पांच अध्याय योजित हुवे हैं :

(६) ऊतिलीलाके सद्वासनाके प्रकरणमें सर्वमोचक सद्वासना-कार्यरूप ज्ञानहेतु दयाका निरूपण इस अध्यायमें किया गया है.

(७) ऊतिलीलाके सद्वासनाके प्रकरणमें सर्वमोचक सद्वासना-कार्यरूपा क्रियाहेतु सानुभावरूपा महत्कृपाका निरूपण इस अध्यायमें किया गया है.

(८) ऊतिलीलाके सद्वासनाके प्रकरणमें अतिदुःखहेतुओंके नाशक भगवत्प्रादुर्भावानुकूल सद्वासनाकार्यरूपा क्रियाका निरूपण इस अध्यायमें किया गया है.

(९) ऊतिलीलाके सद्वासनाके प्रकरणमें जीवात्माओंके सर्वथा भगवत्सामुख्यका निरूपण इस अध्यायमें किया गया है.

(१०) ऊतिलीलाके सद्वासनाके प्रकरणमें भगवत्प्रसादवश सफल काया वाणी और मन के भावोंका निरूपण तथा सद्वासनाके मूलतत्त्व श्रीहरिद्वारा दुर्वासनाके मूल ऐसे त्रिपुरोंके विनाशका निरूपण इस अध्यायमें किया गया है.

(ऊतिलीलाके अन्तर्गत ११-१५ अध्यायोंवाला तृतीय मिश्रवासनाका प्रकरण)

इस प्रकरणमें भी पुनः पांच ही अध्याय हैं :

(११) ऊतिलीलाके मिश्रवासनाके प्रकरणमें मिश्रवासनावाले जीवात्माकी असद्वासनाके निवर्तक कर्मके निरूपणमें साधारणतया सभी धर्मोंका निरूपण इस अध्यायमें किया गया है.

(१२) ऊतिलीलाके मिश्रवासनाके प्रकरणमें मिश्रवासनावाले जीवात्माकी असद्वासनाके निवर्तककर्मके प्रकरणमें ब्रह्मचर्याश्रम और वानप्रस्थाश्रम धर्मोंका निरूपण इस अध्यायमें किया गया है.

(१३) ऊतिलीलाके मिश्रवासनाके प्रकरणमें मिश्रवासनावाले जीवोंमें से असद्वासनानिवर्तक संन्यासाश्रमके धर्मका निरूपण इस अध्यायमें किया गया है.

(१४) ऊतिलीलाके मिश्रवासनाके प्रकरणमें मिश्रवासनावाले जीवोंमें असद्वासनाके निवर्तक गृहस्थाश्रमके धर्मके निरूपणार्थ देश-काल आदिके निर्णयपूर्वक बाह्यदोषोंके निवर्तक धर्मका निरूपण इस अध्यायमें किया गया है.

(१५) ऊतिलीलाके मिश्रवासनाके प्रकरणमें मिश्रवाले जीवोंमें असद्वासना दूर करनेवाले कर्मोंके निरूपणमें गृहस्थाश्रमके धर्मों दिखलानेको अन्तःकरणके दोषोंके नाशक साधनोंका निरूपण इस अध्यायमें किया गया है.



अष्टम स्कन्ध

(अष्टमस्कन्धार्थ मन्वन्तरलीला)

अष्टमस्कन्धमें मन्वन्तरलीलाका निरूपण किया गया है. 'मन्वन्तर'पदका अर्थ सद्धर्म होता है. अतः मन्वन्तरधर्मोंके प्रवर्तकतया सद्धर्मका निरूपण इस स्कन्धमें वर्ण्यविषय है. सप्तमस्कन्धमें जिस कर्मवासनाका निरूपण किया गया था उन वासनाओंका दहन सद्धर्मवशात् होता है. प्रकृतिजन्य गणोंकी संख्या २४ होनेके कारण इन चौबीस प्राकृत गणोंमें उत्पन्न होनेवालेकी वासनाओंका मन्वन्तररूप सद्धर्मके कारण विनाश होता ही है, यह दिखलानेको इस स्कन्धके अन्तर्गत ४ प्रकरणोंमें २४ अध्याय समायोजित किये गये गये हैं.

(प्रकरणार्थ)

इस मन्वन्तरलीलाके प्रसंगमें सद्धर्मोंके निरूपणमें प्रमुखतः चार बातें समझायी गयी हैं : १.प्रथम प्रकरणमें आपद्में श्रीहरिका स्मरणरूप सद्धर्म २.सम्पद्में दानरूप सद्धर्म ३.स्वयं जो वचन कहे हों उनका निर्वाह यानि सत्यवचनरूप सद्धर्म और ४.उल्लिखित तीनों धर्मोंके वक्तृके रूपमें भगवान्के मत्स्यावतारका वर्णन. इस तरह चार प्रकरण यहां इस स्कन्धमें योजित हुवे हैं.

(अध्यायार्थ)

(१) इसके अन्तर्गत श्रीहरिका स्मरण चारों पुरुषार्थोंका साधक होता है, यह दिखानेको प्रथम प्रकरणमें चार अध्याय हैं. (२) दानकर्ता और प्रतिग्रहीता के प्राकृत स्वभावकी घटक प्रकृतिकी गुणत्रयीके परस्पर संमिश्रणके वश नौ प्रकार और एक गुणातीत प्रकार यों कुल दस प्रकारके बनते हैं. अतः दान भी दस प्रकारका हो सकता होनेसे द्वितीय प्रकरणमें दस अध्याय समायोजित हुवे हैं. (३) तृतीय प्रकरणमें अपने द्वारा कही गयी बातको निभानेके प्रसंगमें बलिराजाने स्वयंद्वारा प्रतिश्रुत

दान दे कर अपने वचनकी सत्यता निभायी. यह त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके गुणोंके परस्पर संमिश्रणवश जो नौ प्रकार होते हैं तदनु रूप नौ अध्याय यहां समायोजित हैं. यहां निजवचनकी सत्यताका निर्वाह अर्थात् सद्धर्मके अंगतया दान निरूपित हुवा है. जबकि पूर्वप्रकरणमें दान अंगीके रूपमें प्रतिपादित किया गया था. यों प्रतिपाद्यके प्रभेदवश दोनोंमें वर्णित दानोंमें एकवद्भाव नहीं सोच लेना चाहिये. (४) इन सद्धर्मोंके उपदेशक भगवान्के मत्स्यावतारके एकविध होनेके कारण चतुर्थ प्रकरणमें केवल एक अध्याय ही समायोजित हुवा है. यों कुल मिला कर "४+१०+९+१=२४" अध्यायोंका योग चार प्रकरणोंमें समायोजित हुवा है.

(मन्वन्तरलीलाके अन्तर्गत १-४ अध्यायोंवाला आपद्में श्रीहरिस्मरण सद्धर्मका प्रथम प्रकरण)

(१) आपदाओंमें श्रीहरिके स्मरणके प्रकरणमें उपनिषदर्थोंकी अनुसन्धानरूपा भगवत्स्मृतिद्वारा मनुके प्रतिबन्धोंका निवारण हुवा और अतएव मनुको तपोरूप धर्म सिद्ध हुवा. क्योंकि धर्मबाध करनेपर क्लेश होता है यह दिखलानेको बीचमें गजेन्द्रकथा सूचित की गयी और उसके बारेमें प्रश्न भी इस प्रथम अध्यायमें वर्णित हुवा है.

(२) आपदाओंमें श्रीहरिके स्मरणके प्रकरणमें गजेन्द्रको अपने पूर्वजन्ममें अनुष्ठित धर्मके कारण श्रीहरिकी स्मृति और साधनक्लेशमें कारणीभूत सकाम अर्थकी सिद्धि का निरूपण द्वितीय अध्यायमें किया गया है.

(३) आपदाओंमें श्रीहरिके स्मरणके प्रकरणमें गजेन्द्रद्वारा पूर्वजन्ममें सीखे हुवे स्तोत्रद्वारा भगवान्की शरणागतिरूपा रक्षारूप फलका प्रदायी कामकी सिद्धिका निरूपण तृतीयाध्यायमें किया गया है.

(४) आपदाओंमें श्रीहरिके स्मरणके प्रकरणमें भगवत्स्मृति और भगवत्प्रपत्ति रूपा भक्तिके कारण सन्तुष्ट भगवान् द्वारा मुक्तिकी

सिद्धिका निरूपण चतुर्थ अध्यायमें किया गया है।

(मन्वन्तरलीलाके अन्तर्गत ५-१४ अध्यायोंवाला सम्पद्में दानरूप सद्धर्मका द्वितीय प्रकरण)

(५) सम्पदाओंमें दानरूप सद्धर्मके प्रकरणके अन्तर्गत दानहेतुओंके निरूपणार्थ उसके हेतुतया साधनरूप भगवान्का निरूपण पांचवें अध्यायमें किया गया है।

(६) सम्पदाओंमें दानरूप सद्धर्मके प्रकरणके अन्तर्गत दानहेतुओंके निरूपणार्थ उनके हेतुतया साधनवर्गके देवों और असुरों का निरूपण छठे अध्यायमें किया गया है।

(७) सम्पदाओंमें दानरूप सद्धर्मके प्रकरणके अन्तर्गत दानहेतुओंके निरूपणार्थ उसके हेतुतया प्रतिबन्धोंके निवारक श्रीमहादेवका निरूपण सातवें अध्यायमें किया गया है।

(८) सम्पदाओंमें दानरूप सद्धर्मके प्रकरणके अन्तर्गत दानहेतुओंके निरूपणार्थ सभी रत्नादिरूप देयपदार्थोंकी उत्पत्तिका निरूपण आठवें अध्यायमें किया गया है।

(९) सम्पदाओंमें दानरूप सद्धर्मके प्रकरणके अन्तर्गत दानरूपके निरूपणार्थ अपात्र ऐसे दैत्योंके वंचन और पात्ररूप देवोंको अमृतदानरूप लीलाका निरूपण नौवें अध्यायमें किया गया है।

(१०) सम्पदाओंमें दानरूप सद्धर्मके प्रकरणके अन्तर्गत दानरूपके निरूपणार्थ मोक्षके आध्यात्मिक रूप अमृत चेतनाका देवोंके लिये उपकारक जीर्णताका निरूपण दसवें अध्यायमें किया गया है। फिरभी भगवान्के उपकारको भूल कर अपने अहंकारके वशीभूत हो कर युद्धमें प्रवृत्त होनेवाले देवताओं अमृत चेतन होनेपर भी उन देवताओंमें कृतघ्नताकी शंका उत्पन्न हुयी और ऐसी अमृतता देवगणोंको पच नहीं पायी अतः देवताओंकी दानवोंके साथ युद्धमें पराजयका वर्णन किया गया और उस

अहंकारकी निवृत्ति होनेपर भगवान्द्वारा किये गये उपकारकी स्मृति लौटनेपर दैन्यभाववश भगवान् प्रकट हुवे और उन्होंने दैत्योंको मार कर कृतघ्नतावश अमृत न पच पानेका दोष निवृत्त देवोंको विजयी बनाया।

(११) सम्पदाओंमें दानरूप सद्धर्मके प्रकरणके अन्तर्गत दानफलके निरूपणार्थ अमृतपानकर्ता देवगणोंका दैत्यहननार्थ सक्षम बनना स्वर्ग पानेमें भी सक्षम होनेका निरूपण ग्यारहवें अध्यायमें किया गया है।

(१२) सम्पदाओंमें दानरूप सद्धर्मके प्रकरणके अन्तर्गत दानफलके निरूपणार्थ जो भगवदाश्रित दैत्य होते हैं उन्हें उपायान्तरका उपदेश और एतावता देवोंको पुनः उपद्रवकी सम्भावनासे बचानेको अमृतके दाता भगवान्द्वारा महादेवजीको मोहित करनेकी कथाका निरूपण बारहवें अध्यायमें किया गया है।

(१३) सम्पदाओंमें दानरूप सद्धर्मके प्रकरणके अन्तर्गत दानफलके निरूपणार्थ सप्तमादि आठ मन्वन्तरोंके निरूपणमें अमृतपायी देवोंकी सभी मन्वन्तरोंमें अमृतावेशवश अक्षयताका निरूपण तेरहवें अध्यायमें किया गया है।

(१४) सम्पदाओंमें दानरूप सद्धर्मके प्रकरणके अन्तर्गत मनु और मनुपुत्रों से प्रति मन्वन्तरोंके युगान्तमें भीषण कर्मोंके निरूपणमें सभी कुछ भगवान्के आधीन है यह निरूपित किया गया है चौदहवें अध्यायमें।

(मन्वन्तरलीलाके अन्तर्गत १५-२३ अध्यायोंवाला अपने दिये वचनकी सत्यताको निभानेके सद्धर्मका तृतीय प्रकरण)

(१५) स्वयं दिये वचनकी सत्यताके निर्वाहके प्रकरणमें हेतुके निरूपणार्थ विप्रोंकी कृपाके कारण प्राकरणिक दाता बलिराजाकी स्वर्गविजयरूप दानसामर्थ्यका निरूपण पंद्रहवें अध्यायमें किया गया है।

(१६) स्वयं दिये वचनकी सत्यताके निर्वाहके प्रकरणमें हेतुके निरूपणार्थ स्वयं भगवान्को बलिराजाके पास याचनार्थ क्यों जाना पड़ा उसके वर्णनार्थ अदितिने भगवान्को सन्तुष्ट करनेवाले पयोव्रतरूप कर्मका अनुष्ठान किया उसका निरूपण सोलहवें अध्यायमें किया गया है.

(१७) स्वयं दिये वचनकी सत्यताके निर्वाहके प्रकरणमें हेतुके निरूपणार्थ अदितिके उक्त व्रतसे सन्तुष्ट भगवान्की प्रसन्नताका निरूपण सत्रहवें अध्यायमें किया गया है.

(१८) स्वयं दिये वचनकी सत्यताके निर्वाहके प्रकरणमें बलिराजाके पास भूमिदानकी याचनाके लिये जाना तदर्थ पहले अदितिके गर्भसे से छलनार्थ प्रकट हो कर वामनरूप धारण कर बलिराजाके यज्ञमें जाना और बलिराजाका उन्हें पहचान न पानेका वृत्तान्त इस अष्टादशवें अध्यायमें प्रतिपादित किया गया है.

(१९) स्वयं दिये वचनकी सत्यताके निर्वाहके प्रकरणमें दानदाता बलिराजाकी भगवान् द्वारा प्रशंसापूर्वक तीन पैंड भूमिदानकी याचना और भृगुऋषिके वचनके आधारपर बलिराजा भगवान्को पहचान पाये यह वृत्तान्त उन्नीसवें अध्यायमें निरूपित किया गया है.

(२०) स्वयं दिये वचनकी सत्यताके निर्वाहके प्रकरणमें भृगुऋषिद्वारा बलिराजाको यह जताना कि दैत्योंके वैरी होनेके कारण भगवान् बलिराजाके सर्वस्वका अपहरण करनेकेलिये पधारे हैं यह जान लेनेके बावजूद धैर्य रख कर अपने गुरुके वचनोंका उल्लंघन करके भी विश्वरूप धारण करनेवाले भगवान्को बलिराजाका अपने दिये वचनके निर्वाहार्थ दानका निरूपण इस बीसवें अध्यायमें किया गया है.

(२१) स्वयं दिये वचनकी सत्यताके निर्वाहके प्रकरणमें दानफलके निरूपणार्थ अन्यथा कृतिवश बलिराजाके बन्धनका निरूपण इक्कीसवें अध्यायमें किया गया है.

(२२) स्वयं दिये वचनकी सत्यताके निर्वाहके प्रकरणमें भगवान्के साक्षात्कार होने जानेपर तो आत्मा-आत्मीय सकल पदार्थोंका समर्पण कर देना ही उचित होता फिरभी अहन्ता-ममताके वश अपने वचनको सत्य सिद्ध करनेके अहंकार रखते हुवे वामनका साक्षाद् भगवान् जान लेनेके बावजूद अन्यथा दान करना, भगवान्द्वारा बलिराजाके सैनिकोंने जो उपद्रव किया उस लोकसिद्ध अपराधको निमित्त बना कर बलिराजामें दैन्यपूर्वक भगवदीयता सम्पादित करनेको अहंकारादि दोषोंके निवर्तक दण्डात्मक अनुग्रहरूप बन्धन, दानादि लौकिक धर्मोंसे स्वर्गादि प्राप्तिरूप फल भी अन्ततः तो बन्धनरूप ही होता है यह जतानेको दानफलतया बन्धनका निरूपण किया गया. साथ ही साथ स्वयं दिये वचनकी सत्यताके निर्वाहके प्रकरणमें दानफलके निरूपणार्थ यथार्थकरणके कारण बलिराजाको बन्धनसे मुक्ति और सुदुर्लभ वरदानका निरूपण भी किया गया है. इस तरहके भगवान्की लीलाके कारण भगवान्के बारेमें असूया रखे बिना दण्डको भी अनुग्रह मान लेनेके दैन्यके वश आत्मसमर्पण शरणागति यथार्थकरण संसारसे भी मुक्ति, आधिव्याधिके उपद्रवोंसे रहित सुख, लोकाधिपतियोंद्वारा अपराजेयता, चक्रद्वारा आज्ञा उल्लंघनकारियोंका नाशन ऐसी भगवत्कृत रक्षा, सदा भगवद्दर्शनका दुर्लभलाभ और आसुरभावकी निवृत्ति जैसे सुदुर्लभ वरोंका निरूपण इस बावीसमें अध्यायमें किया गया है.

(२३) स्वयं दिये वचनकी सत्यताके निर्वाहके प्रकरणमें दानफलके निरूपणार्थ सावर्णिमन्वन्तरमें अभिलषित स्वर्गसिद्धिके लिये बलिराजाको सुतलमें स्थापित करनेको यज्ञरूप जो पूर्वमें समारब्ध कर्मानुष्ठान था उसकी भी संसिद्धिका निरूपण इस तैवीसमें अध्यायमें किया गया है.

(मन्वन्तरलीलाके अन्तर्गत २४वें अध्यायवाला सद्धर्मके वक्तावाला चतुर्थ प्रकरण)

(२४) सद्धर्मके वक्ताके प्रकरणमें उक्त त्रिविध धर्मके वक्ताके रूपमें भगवान्‌के मत्स्यावतारका निरूपण इस चौबीसवें अध्यायमें किया गया है.



नवम स्कन्ध

(नवमस्कन्धार्थ ईशानुकथालीला)

नवमस्कन्धके २४ अध्यायोंमें ईशानुकथालीलाका निरूपण किया गया है. क्योंकि अष्टम स्कन्धमें प्रतिपादित सद्धर्मद्वारा असदवासनाओंके दग्ध हो जानेपर भगवान्‌के बारेमें शुद्ध वासनाके प्रकट होनेके कारण भक्ति कर्तव्यतया प्रसक्त होती है. अतः ईशानुकथारूपा भक्तिका निरूपण नवम स्कन्धमें हुवा है. इस स्कन्धमें श्रीहरिके अवतारोंका अर्थात् “श्रीहरिका और उनके अनुवर्तियोंका” (भाग.पुरा.२।१०।५) अनुचरितका वर्णन जो बताया गया है उसमें ‘हरि’पद द्वारा दुःखोंको हरनेवाले और सुखप्रदान करनेवाले भगवान्‌ हैं इस तरह अभिप्रेत है.

प्रस्तुत स्कन्धार्थके विचारवश ईशानुकथाके २४ अध्यायोंका हेतुरूप सन्दर्भ यों है : इस स्कन्धमें प्रमुखतया दो ^१दुःखनिवारणकी लीला और ^२सुखप्रापणकी लीला के निरूपणार्थ दो प्रकरण योजित हुवे हैं.

प्रकृतिके तिगुने तीन गुण अर्थात् नौ गुणोंके प्रभेदवश दुःख नौ तरहके प्रकट होते हैं. और अपने अनुगामियोंके दुःख जो भगवान्‌ने दूर किये वे भक्त भी, अतएव, नौ तरहके प्रतिपादित हुवे हैं. ईशके ये सभी अनुगामी एक भगवद्विषयक ज्ञान, जो अविद्या रूपी नवविध दुःखोंका वासक बन जाता है, उससे मण्डित होते हैं. इसके अलावा इनके चरित्र भी कर्म ज्ञान और भक्ति के प्रभेदवश तीन तरहके प्रकट हुवे हैं. अतः प्रथम प्रकरणतया [१ प्रकारके (भक्तोंके दुःख) + १ एक (दुःखनिवारक ज्ञान) + ३ प्रकारके (कर्मज्ञानभक्त्यात्मक चरित्र) = १३] अर्थात् तेरह अध्यायोंमें दुःखनिवारणका प्रकरण विवक्षित है.

इसी तरह श्रीहरिकी सुखप्रापणकी लीलाके निरूपणार्थ दस अध्याय

हैं। क्योंकि जिन इन्द्रियोंसे सुखकी अनुभूति होती है, वे पांच कर्मेन्द्रिय और पांच ज्ञानेन्द्रिय यों कुल दस प्रकारकी होती हैं। उन सुखोंके अनुभवकर्ता भक्त भी अतः दशविध होते हैं। इन सुखोंको प्रदान करनेवाले एक भगवान् यों “१०+१=११” कुल मिला कर ग्यारह अध्यायोंका द्वितीय प्रकरण योजित हुवा है।

(प्रकरणार्थ)

इन दोनों प्रकरणोंको कार्यरूपा लीलाकी दृष्टिसे निहारनेपर प्रथम प्रकरण सूर्यवंशके भक्तोंके वर्णनार्थ है तथा दूसरा प्रकरण चन्द्रवंशके भक्तोंके वर्णनार्थ है। सूर्यवंशमें भगवान्का प्रादुर्भाव बारह प्रकारसे हुवा। सूर्यवंशके बीजरूप सूर्यको भी द्वादश प्रकारका माना गया होनेके कारण प्रथम प्रकरण बारह अध्यायोंका योजित हुवा है। चन्द्रवंश भी सूर्यवंशकी तुलनामें कुछ जघन्य नहीं होता यह दिखलानेको उस वंशका वर्णन भी बारह अध्यायोंमें ही किया गया है। नवम स्कन्धके प्रथम अध्यायमें चन्द्रवंशके बीजरूप पुरूरवाका वर्णन मिलता होनेसे यह अध्याय मुख्यतया चन्द्रवंशके वर्णनार्थ स्वीकारना हो तो एक यह प्रथम अध्याय और १४वें अध्यायसे प्रारंभ कर अन्तिम २४वें अध्याय तक जो ११ अध्याय होते हैं उन्हें जोड़नेपर बारह अध्यायोंका योग भी बन सकता है। अथवा सूर्यवंशके वर्णनार्थ तेरह अध्याय और चन्द्रवंशके वर्णनार्थ ग्यारह अध्याय, यों भी चौबीस अध्यायोंकी संगति सोची जा सकती है।

(ईशानुकथाके अन्तर्गत १-१३ अध्यायोंवाला दुःखनिवारक श्रीहरिकी लीलाके साथ सूर्यवंशके वर्णनपरक प्रथम प्रकरण)

तदन्तर्गत ईशानुकथाके अवान्तर प्रकरणके अध्याय १-९ :

(१) सूर्य और सोम के वंशोंके द्विविध प्रकरणोंके अन्तर्गत आद्य प्रकरणके प्रथम अध्यायमें आदिम कोटिके प्रजारहित

मनुकी पत्नी श्रद्धाके गर्भसे पुत्रकी जगह ‘इला’ नामिका पुत्री जो जनमी उसे भगवान्के वरदानतया ‘सुद्युम्न’ नामक पुत्रकी प्राप्ति हुयी वह ब्रह्मा विष्णु और रुद्र के द्वारा केवल पुरुषरूप न रह कर स्त्री-पुरुष उभयरूप परम भक्त बना उसकी कथाका निरूपण हुवा है।

(२) सूर्य और सोम के वंशोंके द्विविध प्रकरणोंके अन्तर्गत आद्य प्रकरणके द्वितीय अध्यायमें आदिमकोटिके पृषध आदि सात मनुके पुत्रोंके वंशचरित्रके निरूपणमें भगवान्के ऐश्वर्यादि छह गुणधर्म और सातवें उन गुणधर्मोंवाले स्वयं भगवान् के स्वरूपके अनुरूप तथा अलम्बुषा देवीके भजनका निरूपणद्वारा देवरूप भक्तोंका निरूपण किया गया है।

(३) सूर्य और सोम के वंशोंके द्विविध प्रकरणोंके अन्तर्गत आद्य प्रकरणके तृतीय अध्यायमें आदिमकोटिके शर्याति और अंगीरस के सत्रमें दूसरे दिनके कर्मके प्रवक्ताके रूपमें स्वतः यज्ञके प्रवर्तक होनेसे यज्ञप्रवर्तक च्यवन आदि ऋषियोंके द्वारा इन्द्रकी भुजाओंके स्तम्भनका वृत्तान्त और लुप्त हुवे आश्विन ग्रहका पुनः प्रवर्तनका भी वृत्तान्त ‘सुकन्या’ नामिका पुत्रीके दान आदिद्वारा सभी कामनाओंकी पूर्तिका वृत्तान्त साथ ही साथ ब्रह्माजीके वचनके अनुरोधवश उस वंशमें जनम लेनेवाली ‘रेवती’ नामिका कन्याका दान द्वापरयुगमें यदुवंशमें अवतीर्ण होनेवाले श्रीबलरामको जो किया गया वह देवके पोषक भक्तोंका चरित्र वर्णित हुवा है।

(४) सूर्य और सोम के वंशोंके द्विविध प्रकरणोंके अन्तर्गत आद्य प्रकरणके चतुर्थ अध्यायमें मध्यमकोटिके निरूपणार्थ ‘नाभाग’ नामक राजाने, मन्त्रदृष्टा और सत्यपरायण होनेके कारण, महादेवजीको परितुष्ट किया और इसके कारण वह उनके समान भक्त हुवा, ऐसा निरूपण किया गया है। और नाभागके पुत्र महाभागवत राजा अम्बरीषका भगवान्से अतिरिक्त सर्वत्र

विरक्त होना तथा सर्वात्मभावपूर्वक सर्वेन्द्रियोंसे भगवद्भजनमें अनुरक्त होना साथ ही साथ ऐसे भक्तकी भक्तिके अनुभावको प्रकट करनेको ब्राह्मण द्वारा दिये गये कायिक शापका भी वहां प्रभावहीन हो जाना तथा भगवान्की भी भक्तवश्यता प्रकट करनेको ऐसे भक्तके प्रति किये अपराध करनेवालेको भगवान्द्वारा भी स्वयं क्षमा कर रक्षण नहीं करना एतावता भगवत्समान भक्त होनेका निरूपण किया गया है. साथ ही साथ यहां भक्तोंके बन्ध और मोक्ष की व्यवस्थाकी विलक्षणताकी कथा अर्थात् मध्यमकोटिके अन्तर्गत महाभागवत राजा अम्बरीषके भक्तिमय बन्ध अर्थात् गृहस्थितिका वृत्तान्त निरूपित हुवा है.

(५) सूर्य और सोम के वंशोंके द्विविध प्रकरणोंके अन्तर्गत आद्य प्रकरणके प्रथम अध्यायमें मध्यमकोटिके भक्तकी कथाके सन्दर्भमें जब दुर्वासा ऋषिने राजा अम्बरीषके चरण पकड़ लिये तब राजाका लज्जित हो कर स्वयं दुर्वासा ऋषिके चरणोंको पकड़ कर अपनी ब्रह्मण्यता प्रकट कर सुदर्शनचक्रकी स्तुतिके निरूपणमें भी राजाका सर्वथा गर्वरहित होना दिखलाया गया है. जिसकी रक्षा करने भगवान्ने अपनी असमर्थता प्रकट की उसकी रक्षा कर पानेका गर्वरहित सामर्थ्य यहां निरूपित हुवा है. एतावता भक्तिके लिये सर्वप्रथम भगवान् नहीं प्रत्युत भक्त ही मृग्य होता है अतः ब्रह्मभावकी तुलनामें भक्तिकी श्रेष्ठताका निरूपण अभिप्रेत है. साथ ही साथ राजा अम्बरीषके बन्ध-मुक्तिकी व्यवस्था क्या-कैसी थी यह समझानेको राजाके गृहत्यागका भी वर्णन इस अध्यायमें किया गया है.

(६) सूर्य और सोम के वंशोंके द्विविध प्रकरणोंके अन्तर्गत आद्य प्रकरणके छठे अध्यायमें मध्यमकोटिके महाराज इक्ष्वाकुकी कथामें पिताद्वारा आज्ञप्त पुत्र विकुक्षिका वनमें श्राद्धसम्पदानार्थ

खरगोशके शिकारको जाना और उस श्राद्धानुष्ठानसे पूर्व ही उस मांसका भूखके कारण भक्षण कर लेनेके कारण पिताद्वारा पुत्रत्याग तथा अन्तमें संसारनिरपेक्षतया शरीरत्याग द्वारा कमपिक्षया भी श्रेष्ठतर भक्तिद्वारा भगवान्को प्राप्त कर लेनेकी कथा; और, ऐसे पिताके बाद 'शशाद'नाम्ना विकुक्षिके सिंहासनारूढ़ होनेपर श्रीहरिके याजनमें परायण होनेकी कथा, शशादके 'पुंजय'- 'इन्द्रवाह'- 'ककुत्स्थ' यों तीन नामवाले पुत्रकी भगवान् श्रीहरिके तेजसे सम्पन्न तथा देव-दानवयुद्धमें देवोंके सहायक बननेकी कथा, उसके पुत्र कुवलाश्वकी अतिदुःसह पुत्रकी मृत्युसे भी विचलित हुवे बिना ऋषियोंके कार्य सिद्ध करनेकी कथा, उसके वंशमें युवनाश्वकी पत्नीके वन्ध्या होनेके कारण ऋषियोंने पुत्रेष्टि यज्ञ करवाया परन्तु उस पुत्रेष्टिमें मंत्राभिषिक्त पुंसवनार्थ जलका पान राजाकी रानियोंके बजाय स्वयं राजाने अतिपिपासाकुल हो कर लिया परिणामतः उसकी कुक्षि फाड़ कर गर्भगत शिशुके जनमनेकी ऋषिओं और देवताओं के अनुग्रहकी कथा, युवनाश्वके पुत्र, भगवान् अच्युतके तेजोधामसे सम्पन्न, मान्धाताके पृथ्वीपर चक्रवर्ती सम्राट् होने की कथा द्वारा ब्रह्मसमान भक्तोंकी कथा वर्णित हुयी है.

(७) सूर्य और सोम के वंशोंके द्विविध प्रकरणोंके अन्तर्गत आद्य प्रकरणके सातवें अध्यायमें उत्तमकोटिके निरूपणार्थ इसी वंशमें सत्यव्रतके पुत्र त्रिशंकु जो अपने गुरुके शापवश दोषवश चाण्डाल बने उसके पुत्र राजा हरिश्चन्द्रद्वारा मुक्त हुवे, यों राजा हरिश्चन्द्रकी भगवद्भक्ति स्वपर उभयकी उद्धारिका दिखलायी गयी है. इन्हें लोकापवादके शमनार्थ तथा देवर्षिपितृ-ऋणकी निवृत्तिके लिये वरुणको प्रार्थना कर प्राप्त हुवे पुत्रकी मृत्युके लिये राजी हो जानेपर भी भगवान्ने उसके पुत्रकी रक्षा करके अपनी कृपा प्रकट दिखायी धर्मकी परीक्षाके हेतु चाण्डाल होनेकी दशामें भी अपने स्वामीके कार्यार्थ अतिसाहसपूर्वक

धैर्य धारण कर अपनी सत्यनिष्ठासे विश्वामित्रको प्रसन्न करनेवाले धैर्यपूर्वक लोकोद्धारार्थ प्रयत्नशील भक्तका इस अध्यायमें निरूपण हुवा है।

(८) सूर्य और सोम के वंशोंके द्विविध प्रकरणोंके अन्तर्गत आद्य प्रकरणके आठवें अध्यायमें उत्तमकोटिके निरूपणार्थ इसी वंशमें जनमे सगर राजाने मर्यादाविरोधी तालजंघका वध किया और उनके पुत्रोंने सागरके निर्माणद्वारा मर्यादाकी रक्षा की जानेके कारण कर्म ज्ञान आदि द्वारा उनके महत्ताका ख्यापन भी किया गया है स्थिर रहनेवाले कार्योके कर्ता होनेके रूपमें लोकोद्धारका प्रयत्न करनेवाले भक्तोंके चरित्रका यहां प्रतिपादन किया गया है।

(९) सूर्य और सोम के वंशोंके द्विविध प्रकरणोंके अन्तर्गत आद्य प्रकरणके नौवें अध्यायमें उत्तमकोटिके निरूपणार्थ इसी वंशमें प्रकट होनेवाले महाराज भगीरथके सर्वलोकोद्धारार्थ भूमिपर जगत्पावनी गंगाके अवतरणार्थ तप करना, उनके ही वंशमें जनमनेवाले राजा सौदासकी गुरुशापवश पहले राक्षस बन जाना और उस रूपमें पुनः श्रुताध्ययनतपआदि निरत ब्राह्मणका भक्षण करनेसे ब्राह्मणपत्नीके शापवश पत्नीसंगमसे निवृत्त हो जानेके कारण राजपत्नी मदयन्तीके ही बच जानेसे राजगुरु वशिष्ठद्वारा नियोग द्वारा ब्रह्मबीजसे वंशके अनुवृत्त रहनेकी कथामें भक्तिकी प्रमुखता तथा ज्ञानयुक्तता के निरूपणके कारण राजा खट्वांगमें दोनों ही फलित हो जानेसे क्षणभरको भी श्रीकृष्णकी स्मृतिके कारण अनपायिनी मुक्तिके प्राप्त होनेकी कथाके आधारपर भक्तिमार्गके बारेमें परमकाष्ठापन लोकोद्धारके प्रयत्नमें परायण भक्तोंका निरूपण इस अध्यायमें हुवा है।

तदन्तर्गत ईशकथाके अवान्तर प्रकरणके अध्याय १०-१३ :

(१०) सूर्य और सोम के वंशोंके द्विविध प्रकरणोंके अन्तर्गत आद्य प्रकरणके दसवें अध्यायमें ईशानुगामिओंकी कथाके बाद ईशकथाको प्रस्तुत करने ईशके माहात्म्यके ज्ञापक वीर्यप्रकाशक श्रीरामावतारचरित्रका निरूपण करते हुवे ईशकी क्रियाशक्तिका निरूपण इस अध्यायमें किया गया है।

(११) सूर्य और सोम के वंशोंके द्विविध प्रकरणोंके अन्तर्गत आद्य प्रकरणके ग्यारहवें अध्यायमें ईशकथाके सन्दर्भमें इसी सूर्यवंशमें ईशावतार लेनेवाले भगवान् श्रीरामचन्द्र सर्वदेवमय देवाधिदेवके यजनमें सर्वस्वदानके द्वारा वैदिक ब्राह्मणोंमें प्रीतिका सम्पादन किया इसी तरह लोकापवादके निरसनार्थ लौकिकधर्मोंका अंगीकार लौकिक जनोंके हृदयमें भी प्रीतिका सम्पादन किया, इसी तरह सुग्रीव-हनुमान आदि वानरोंके साथ सख्य-स्वामिभाव निभा कर अपनी सुकृतज्ञताके ज्ञापनद्वारा मानवेर योनिमें जनमनेवाले पशु-पक्षिओंमें भी अपनी प्रीतिका सम्पादन किया. सारे कौशलके उद्धारद्वारा अपना अलौकिक माहात्म्य भी प्रकट किया. इसी तरह अपने सभी भाईओंके हितसौख्यका सम्पादन करनेवाले भगवान् श्रीरामने अपना लौकिक माहात्म्य भी प्रकट करनेके कारण इस अध्यायमें भक्तिकी निष्ठाका निरूपण किया गया है।

(१२) सूर्य और सोम के वंशोंके द्विविध प्रकरणोंके अन्तर्गत आद्य प्रकरणके बारहवें अध्यायमें ईशकथाके निरूपणार्थ इसी वंशमें अवतीर्ण होनेवाले ईशकी ज्ञानशक्तिका निरूपण वंशविस्तारके निरूपणद्वारा किया गया है।

(१३) सूर्य और सोम के वंशोंके द्विविध प्रकरणोंके अन्तर्गत आद्य प्रकरणके तेरहवें अध्यायमें ईशकथाके प्रसंगमें ज्ञानमिश्रभक्तिकी प्रमुखताके निरूपणार्थ राजा निमिको गुरुके शापकी कथाद्वारा गुरुमें ज्ञानकी प्रमुखता बोधित की गयी है. गुरुको राजा निमिके प्रतिशापके कारण राजा निमिमें

भक्तिकी प्रमुखता बोधित की गयी है। इसी तरह आगे भी चल कर उसके वंशमें ऐसे जनमेंगे ऐसे निरूपण द्वारा ज्ञाननिष्ठभक्तके चरित्रकी कथा इस अध्यायमें हुयी है।

(ईशानुकथाके अन्तर्गत १४-२४ अध्यायोंवाला सुखप्रापक श्रीहरिकी लीलाके साथ चन्द्रवंशके वर्णनपरक द्वितीय प्रकरण)

(१४) सूर्य और सोम के वंशोंके द्विविध प्रकरणोंके अन्तर्गत द्वितीय प्रकरणके प्रथम अर्थात् आदिसे १४वें अध्यायमें आदिमकोटिके भक्तके चरित्रके सन्दर्भमें ब्रह्माजीके पुत्र अत्रि ऋषिके ज्ञानेन्द्रिय रूप नेत्रोंमेंसे जनमे सोमके पुत्र बुध, ज्ञानांश तथा यज्ञरूप होनेके कारण शुद्ध हैं। वैसे लोकदृष्टिसे बुध जारजात हैं तोभी सर्वदेवोंकी सम्पत्तिके कारण तथा देवताओंके गुरु बृहस्पति की स्पृहावश निर्दोष विष्णुबुद्धिका अनुभाव जतानेके कारण बृहस्पतिकी पत्नी ताराके भीतर लक्ष्मीका आवेश तब था और सोमके भीतर भगवान् विष्णुका आवेश हुवा था। इसीलिये ऐसे बुध और इला की सन्तती होनेके कारण पुरुवा ऐल, वैसे लोकदृष्ट्या 'उर्वशी' अप्सरा अतीव आसक्त था, परन्तु नारायणसे उत्पन्न होनेवाली उर्वशी मित्रावरुणोंके शापवश भूलोकमें प्रकट होनेवाली ही थी फिरभी देवोंमें प्रकट होनेवाली भोगसहित भक्ति नहीं प्रत्युत भूलोकमें प्रकट होनी आवश्यक ऐसी मूर्तिमती भोगरहित भक्तिरूपा थी। उसमें अत्यधिक समासक्त होनेके कारण पुरुवा ऐलसे वेदत्रयी और अग्नित्रयी भूतलपर प्रकट हुयी थी। अतएव ऐसी उर्वशीमें आसक्त होनेके कारण पुरुवा ऐलको मुक्तिलाभ मिला था। यह भक्तिके ऐसे अनुभावयुक्त भक्तका चरित्र इस अध्यायमें निरूपित हुवा है।

(१५) सूर्य और सोम के वंशोंके द्विविध प्रकरणोंके अन्तर्गत द्वितीय प्रकरणके द्वितीय अर्थात् आदिसे १५वें अध्यायमें

ईशावतारकथाको प्रस्तुत करनेको ऋचिक ऋषिके द्वारा तैयार किये गये चरुओंके उलटे-पुलटे उपभोग अर्थात् हविर्नाशके वश भगवदावेशावतार परशुरामद्वारा, क्षत्रियोंमें त्रेतायुगके अनुरूप प्रकटे दोषपूर्ण त्रिगुणोंके सप्तगुणित (अर्थात् $3 \times 7 = 21$) विनाशकी कथाका सूत्रपातरूपी चरित्र इस अध्यायमें वर्णित हुवा है।

(१६) सूर्य और सोम के वंशोंके द्विविध प्रकरणोंके अन्तर्गत द्वितीय प्रकरणके तृतीय अर्थात् आदिसे १६वें अध्यायमें ईशावतारकथाको प्रस्तुत करनेको मन्त्रनाशके वश पूर्वोक्त सदोष त्रिगुणोंके सप्तधा विनाशकी कथा इस अध्यायमें अनुवृत्त हो रही है।

(१७) सूर्य और सोम के वंशोंके द्विविध प्रकरणोंके अन्तर्गत द्वितीय प्रकरणके चतुर्थ अर्थात् आदिसे १७वें अध्यायमें सोमवंशके आदिमकोटिके भक्तोंकी कथाको प्रस्तुत करने अवैदिक त्रिगुणोंके तो रामावतारके समय निवारण किये जानेके कारण जो गुण उर्वरित हुवे वे तो वैदिक थे अतः निर्गुण थे अतः धन्वन्तरिके जन्मकेद्वारा उनकी शुद्धता जतायी गयी अतएव अलर्कके भोगयुक्त होनेपर भी मोक्षप्राप्तिमें कोई बाधा नहीं आयी। रजि तो दैत्योंको भी जीतनेवाला देवताओंके कार्यका साधक था परन्तु रजिके पुत्र सब तरहसे समर्थ होनेपर भी वेदबाह्य मानसिकता वाले थे अतः इन्द्रद्वारा उनके वधकी कथा भोगयुक्त वैदिक भक्तोंके निरूपणार्थ इस अध्यायमें योजित हुयी है।

(१८) सूर्य और सोम के वंशोंके द्विविध प्रकरणोंके अन्तर्गत द्वितीय प्रकरणके पंचम अर्थात् आदिसे १८वें अध्यायमें सोमवंशके मध्यमकोटिके भक्तोंकी कथाको प्रस्तुत करनेको पुष्टिभक्तोंमें जो श्रेष्ठ हो उसे सभी बातोंमें प्रमाणभूत शुद्ध अन्तःकरणकी वृत्ति तथा पित्राज्ञापरायणता होती है। अतः ऐसे भक्तोंकी बन्धमोक्षव्यवस्था समझानेको ययातिके लिये बन्धरूप गृहस्थितिका

निरूपण इस अध्यायमें किया गया है।

(१९) सूर्य और सोम के वंशोंके द्विविध प्रकरणोंके अन्तर्गत द्वितीय प्रकरणके छठे अर्थात् आदिसे १९वें अध्यायमें सोमवंशके मध्यमकोटिके भक्तोंकी कथाको प्रस्तुत करनेको मध्यमोंमें मध्यम ऐसे ययातिको जब वैराग्य हुवा तब उसने मोक्षरूप गृहत्याग उसका ही निरूपण इस अध्यायमें किया गया है।

(२०) सूर्य और सोम के वंशोंके द्विविध प्रकरणोंके अन्तर्गत द्वितीय प्रकरणके सातवें अर्थात् आदिसे २०वें अध्यायमें सोमवंशके उत्तमकोटिके भक्तोंकी कथाको प्रस्तुत करनेको दुष्यन्तके पुत्र भरतकी कथा अतिसामर्थ्यवाले भक्तकी कथाके रूपमें इस अध्यायमें निरूपित हुयी है।

(२१) सूर्य और सोम के वंशोंके द्विविध प्रकरणोंके अन्तर्गत द्वितीय प्रकरणके आठवें अर्थात् आदिसे २१वें अध्यायमें सोमवंशके उत्तमकोटिके भक्तोंकी कथाको प्रस्तुत करने रन्तिदेव आदिकी कथा अतिधैर्यवाले भक्तकी कथाके रूपमें इस अध्यायमें वर्णित हुयी है।

(२२) सूर्य और सोम के वंशोंके द्विविध प्रकरणोंके अन्तर्गत द्वितीय प्रकरणके नौवें अर्थात् आदिसे २२वें अध्यायमें सोमवंशके उत्तमकोटिके भक्तोंकी कथाके अन्तर्गत अन्तमें यदुवंशकी तालिका दिखलायी गयी है। यों यहां सामर्थ्य और धैर्य दोनोंसे युक्त भक्तोंकी कथा इस अध्यायमें निरूपित हुयी है।

(२३) सूर्य और सोम के वंशोंके द्विविध प्रकरणोंके अन्तर्गत द्वितीय प्रकरणके दसवें अर्थात् आदिसे २३वें अध्यायमें सोमवंशके उत्तमकोटिके भक्तोंकी कथाको प्रस्तुत करने यदुवंशकी कथाको और आगे बढ़ाते हुवे परमकाष्ठापन्न भक्तिवाले भक्तोंकी कथा इस अध्यायमें वर्णित हुयी है।

(२४) सूर्य और सोम के वंशोंके द्विविध प्रकरणोंके अन्तर्गत द्वितीय प्रकरणके ग्यारहवें अर्थात् आदिसे २४वें अध्यायमें

सोमवंशके उत्तमकोटिके भक्तोंकी कथाको प्रस्तुत करने ऐसे भक्तिमान् कुलमें उनकी भक्तिके फलस्वरूप भगवत्प्रादुर्भावका प्रसंग प्रस्तुत किया गया है।



दशम स्कन्ध

(दशमस्कन्धार्थ निरोधलीला)

शेष-हृदयमें सहस्रलक्ष्मी-लीलाका लहराता सागर।

नमन वहीं उस कलानिधिको जो है नटवरनागर॥

स्कन्धदशमके चार चार और चार तीन प्रकरण हैं।

छह अध्याय गुणोंके यों पांच रीतिके प्रभुविहरण हैं॥

(स्कन्धार्थ)

सदा दशविधलीलाविहारी परमानन्दस्वरूप श्रीकृष्णकी भक्तिके निरूपक नवमस्कन्धके बाद, अब दशमस्कन्धमें उनकी निरोधलीलाका निरूपण अभिप्रेत है। 'निरोध' पद 'नि'=भलीभांति अर्थवाले उपसर्गको 'रोध'=रोकना अर्थवाली क्रियापदके साथ जोड़नेपर व्युत्पन्न होता है। एतदर्थ स्वाभाविकतया कुछ अपेक्षा प्रकट हो जाती है यथा :

१-आकांक्षा किसे भलीभांति रोकना ? २-आकांक्षा किसमें या कहां भलीभांति रोकना ? ३-आकांक्षा कैसे या किस भलीभांतिके उपाय या साधन से रोकना ? ४-आकांक्षा क्यों अर्थात् किस भलीभांतिके प्रयोजनवश रोकना ?

१-पूर्ति तदनुसार प्रस्तुत सन्दर्भमें 'निरोध' पद नवमस्कन्धमें प्रतिपाद्य भक्ति जिनके भीतर सिद्ध हो गयी हो उन्हें भलीभांति रोकनेके तात्पर्यवश प्रयुक्त हुआ है। २-पूर्ति अपने परमानन्दात्मक स्वरूप गुण और लीलाओं द्वारा अपने भक्तोंके भीतर पनपनेवाली पारमात्मिक स्वरूपासक्ति गुणासक्ति अथवा लीलासक्ति में जीवात्माओंको भलीभांति निरुद्ध करना। ३-पूर्ति अपनी उन-उन मनोहारिणी साक्षात् लीलाओंद्वारा अर्थात् पहले स्वयं अपने-आपको भक्तोंके बीच भलीभांति निरुद्ध बना कर ४-पूर्ति सालोक्यादि मुक्ति तथा अन्ततः स्वरूपभावापत्ति या आश्रयभावापत्ति प्रदान करनेके भलीभांतिके प्रयोजनवशात्।

अतएव इस दशमस्कन्धके, ३ अध्याय^(१२-१४) प्रक्षिप्त होनेके कारण, ८७ अध्यायोंवाले समग्र स्कन्धमें उसकी एकार्थता जीवात्माको प्रपंचविस्मृति करा कर भूतलपर अवतीर्ण परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णके दिव्य स्वरूप गुण और लीलाओं में जीवात्माओंको अनन्यासक्त बना देनेवाली कथाके रूपमें निरूपणीय है।

“दसवें आश्रय तत्त्वके विशुद्धबोधार्थ नौ स्कन्ध भागवतपुराणमें योजित हुवे हैं... दशमस्कन्धमें प्रतिपाद्य निरोध इस आत्माका अपनी शक्तिओंके साथ अनुशयन है। आभास और निरोध जिसके कारण निर्धारित होते हैं, ऐसे उस आश्रयतत्त्वको 'परब्रह्म-परमात्मा' कहा जाता है। जो पुरुष आध्यात्मिक है वही पुरुष आधिदैविक भी है। फिरभी एक होनेपर भी द्विधा अवभासित पुरुषोंका परस्पर विच्छेद तृतीय पुरुष, जो आधिभौतिक है, वह करता है। दोनोंमें से किसीभी एकके न होनेपर दूसरा भी जब उपलब्ध न हो पाता हो, तबभी तीनों पुरुषोंको जो जानता हो उसे “स्वाश्रयाश्रय आत्मा” कहा गया है”।

(भाग.पुरा. २।१.०।२-९)

लक्षणरूपा इन नौ लीलाओंके निरूपण, लक्ष्यरूप आश्रयतत्त्वके निरूपण, विशेषरूपेण मध्यपाती निरोधके निरूपण, इसी तरह आधिभौतिक आध्यात्मिक और आधिदैविक यों तीन तरहके पुरुषोंके निरूपणोंके भी आधारपर इतना तो स्पष्ट ही है कि आरम्भके उपक्रमरूप प्रथम-द्वितीय दो स्कन्धोंको छोड़नेके बाद सर्गलीलाके निरूपक तृतीय स्कन्धसे आरम्भ कर नवम स्कन्ध पर्यन्त सात स्कन्धोंके अर्थ सरलतया निर्धारित हो जाते हैं। परन्तु दशमसे द्वादश स्कन्ध पर्यन्त तीन स्कन्धोंमें से कौनसे स्कन्धमें लक्ष्यरूप आश्रय तत्त्वका प्रतिपादन अभिप्रेत मानना ? यह

विचारणीय मुद्दा है। क्योंकि उसी आधारपर अवशिष्ट दो स्कन्धोंमें लक्षणतया अभिप्रेत दो अवशिष्ट लीलाओंका निरूपण अंगीकार करना पड़ेगा। सो इन तीन स्कन्धोंमें से किसी एक स्कन्धमें, चाहे उसे ८७ अध्यायोंके महाकलेवरवाले दशम स्कन्धके प्रतिपाद्यके रूपमें लें; अथवा, ३१ और १३ अध्यायोंके अल्पतर और अल्पतम कलेवरवाले ग्यारहवें या बारहवें स्कन्धके प्रतिपाद्यके रूपमें लें, लक्ष्यस्वरूपका निरूपण कहीं तो स्वीकारना ही पड़ेगा।

एक यह और बात है कि श्रीकृष्णचरित्रार्थ अपनाये गये असाधारण कलेवरविस्तारको लक्ष्यबाह्य रखें तब भी श्रीकृष्णको यदि भागवतमें प्रमुख प्रतिपाद्य नहीं मानते तो बड़ी असमंजसता प्रकट होती है। क्योंकि सभी स्कन्धोंमें अपने अवतारकालसे पूर्व भी किसी न किसी रूपमें श्रीकृष्णका निरूपण जो मिलता है, वह श्रीकृष्णको भागवतपुराणमें प्रमुख प्रतिपाद्य न माननेपर असंगत हो जायेगा।

ऐसी स्थितिमें श्रीकृष्णकी प्राकट्यलीला, बाललीला, पौगंडलीला, किशोरलीला तथा प्रौढ़लीला आदि लीलाओंका वर्णन तो दशम स्कन्धमें ही उपलब्ध होता होनेसे, इसी स्कन्धको लक्ष्यरूप आश्रयके प्रतिपादनपरक नहीं स्वीकारते हैं तो, इस भागवतपुराणमें श्रीकृष्णका परब्रह्म परमात्मा भगवान् होना भी सन्देहास्पद हो जाता सा लगता है।

अतएव श्रीश्रीधरस्वामी आदि क्रमप्राप्त निरोधलीलाका प्रतिपादन इस दशम स्कन्धमें अस्वीकार कर “विश्वसर्गविसर्गादिनवलक्षणलक्षितं ‘श्रीकृष्ण’ख्यं परं धाम जगद्धाम नमाम तद् दशमे दशमं लक्ष्यम् आश्रिताश्रयविग्रहम्” (भाग.श्रीध.१.०।१।१) ऐसे प्रतिपादनद्वारा लक्ष्यरूप आश्रयका स्वरूप यहां अभिप्रेत मानते हैं।

जबकि ‘हरिलीला’ नामक ग्रन्थकर्ता श्रीबोपदेव : “निरोधो दशमस्कन्धे

नवत्यध्याये ईरितो ‘निरोधो’ नाम सृष्टानां संहारः स चतुर्विधः ‘नैमित्तिकः प्राकृतिको ब्रह्मणो अन्ते दिनायुषोः नित्यः... नैमित्तिको निरोधो अन्यो, धर्मलानिमित्तको ‘भूमिभारावतारा’ख्यो यदर्थं जन्म मापतेः, स एष दशमे प्रोक्तो, मुक्तिः एकादशे ततः, त्रयो अन्ये द्वादशे शुद्धं निरूपयितुम् आश्रयम्” (हरिली.१.०।१-४) ऐसे प्रतिपादनद्वारा क्रमकी प्रधानता स्वीकार कर चतुर्विध प्रलयोंमें से नैमित्तिक प्रलयके एक प्रकारको दशमस्कन्धके अर्थतया लेना चाहते हैं। इसी तरह आत्यन्तिक प्रलय, अर्थात् मुक्तिको, एकादशस्कन्धके अर्थतया लेना चाहते हैं। दूसरे प्रकारके नैमित्तिकप्रलय, प्राकृतिकप्रलय और नित्यप्रलय को द्वादशस्कन्धके अर्थतया लेना चाहते हैं।

इस तरह देखा जा सकता है कि इन व्याख्याकारोंके मनमें एक दुविधा खटकती सी लग रही है कि दशविध लीलाओंके, जो अर्थ स्वयं भागवतद्वितीय स्कन्धमें दिये गये हैं, उन्हें प्रधान मानना; या, स्कन्धोंके क्रम जो दर्साये गये हैं, उन्हें यथाक्रम स्वीकारना? इसे दूर करनेको इन व्याख्याकारोंमें से श्रीश्रीधर स्वामीने द्वितीय स्कन्धके वचनमें दिये गये तत्तद् लीलाओंके अर्थको प्रधान मान कर क्रमप्राप्त निरोधको छोड़ कर लक्ष्यरूप आश्रयका प्रतिपादन यहां प्रधान या प्रमुख माना है। श्रीबोपदेव, परन्तु, क्रमको प्रधान मान कर दशमस्कन्धकी निरोधप्रतिपादकताका त्याग किये बिना स्वयं ‘निरोध’पदके लोकप्रचलित अर्थ प्रलय और उसके चार प्रकारोंमें से एक नैमित्तिकप्रलय रूपी अर्थको यहां, और दूसरे आत्यन्तिकप्रलय रूपी अर्थको ग्यारहवें स्कन्धमें; और शेष तीनों अर्थोंको बारहवें स्कन्धमें स्वीकारते हैं।

इस असमंजसताका स्पष्टीकरण आरम्भमें ही हो जाना आवश्यक लगता है। तदनुसार :—

भागवतके तृतीय स्कन्धमें ब्रह्माजीद्वारा की गयी भगवत्स्तुतिमें

भगवान्के स्वरूपकी विवेचना, सृष्टिके जन्मादिकी विवेचना और उसमें भगवल्लीलावतारोंकी विवेचनामें कई बातें अतीव महत्वपूर्ण उपलब्ध होती हैं :

“ज्ञातोऽसि मे अद्य सुचिराद्, ननु देहभाजां न ज्ञायते भगवतो गतिर, इति अवद्यम्. न अन्यत् त्वद् अस्ति, भगवन्!, अपि तन्न शुद्धं मायागुणव्यतिकराद्, यद् उरुः विभासि... त्वं भावयोग-परिभावित-हृत्सरोज आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु, नाथ!, पुंसां यद्यदधिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय. न अतिप्रसीदति तथा उपचितोपचरैः आराधितः सुरगणैः हृदि बद्धकामैः यत् सर्वभूतदयया असदलभ्यया एको नानाजनेषु अवहितः सुहृदन्तरात्मा. पुंसाम् अतो विविधकर्मभिः अध्वराद्यैः दानेन च उग्रतपसा व्रतचर्यया च आराधनं भगवतः तव सत्क्रियार्थो धर्मो अर्पितः कर्हिचिद् द्रियते न यत्र. शश्वत् स्वरूपम् असहैव निपीतभेदमोहाय बोधधिषणाय नमः परस्मै विश्वोदभवस्थितिलयेषु निमित्तलीलारासाय ते नमः इदं चक्रम ईश्वराय”.

(भाग.पुरा.३।९।१-१४)

ब्रह्माजी द्वारा की गयी इस स्तुतिके अन्तर्गत कहे गये भगवन्निरूपणके अवलोकन करनेपर कुछ बातें पर्याप्तरूपेण स्पष्ट हो जाती हैं. यथा : ^१स्वयं ब्रह्माजीको भी भगवान्के यथार्थ स्वरूपको पहचाननेमें कुछ न कुछ विलम्ब तो होता ही है तो अन्य देहधारियोंकी इस बारेमें चर्चा क्या करनी! क्योंकि मूलरूपमें भगवान्में ज्ञेय-ज्ञान-ज्ञानोपकरण-ज्ञाताके प्रभेदोंका विकल्प होता नहीं है. ये प्रभेद जब भगवान् अपनी त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके द्वारा प्रकट करते हैं, तब मूलरूप इन्हीं प्रभेदोंमें अन्तर्गूढ़ बन जाता होनेसे, अनुभूतिगोचर नहीं हो पाता. अतः जो रूप प्रकट

होते हैं वे बुद्धिमें मोह प्रकट करनेवाले बन जाते हैं. अतः ज्ञेय-आदिके प्रभेदवशात् प्रकट होते भगवान्के रूप शुद्धरूप या मूलरूप न हों तो; और, भगवत्स्वरूपके यथार्थ बोधके बिना उद्धार ही सम्भव न हो तो, स्वयं भगवान्की मुक्तिलीला भी सार्थक कैसे हो पायेगी? क्योंकि मुक्ति-मुक्त्युपाय-मोचकेश्वर-मुक्तात्माके प्रभेद बिना मुक्तिलीला भी शक्य न होनेसे हृदय शंकाकुल हो जाता है.

तथ्य, परन्तु, इसमें यही है कि ^२भगवान्के लीलार्थ परिगृहीत रूपोंमें भगवान्का यथार्थ गृहीत नहीं हो पाता, यह तो प्राकृत देहधारियोंकी अक्षमताकी कथा है. इस न्यूनताका आरोप, परन्तु, भगवान्के स्वयं मूलरूपपर या अवतीर्णरूपपर भी लगाया नहीं जा सकता! क्योंकि शास्त्रतः भगवान्के मूलरूप एवं अवतीर्णरूप का भी यथार्थबोध शक्य है ही. अतः ऐसे यथार्थबोधके बाद प्रकट होती भगवत्प्रीतिद्वारा, अर्थात् अपनी श्रद्धा रुचि प्रेम आसक्ति अनन्यासक्तिरूप या व्यसनरूप भावयोगके द्वारा भगवान्के स्वरूपकी जब कोई भक्त जो भी परिकल्पना या परिभावना करने लगता है, तब उसके समक्ष या हृदयमें जो भी भगवान्का स्वरूप प्रकट होता है, उसे प्रकट करने स्वयं भगवान् सर्वथा-सर्वदा समर्थ हैं ही. इस भावयोगद्वारा प्रादुर्भावित भगवत्स्वरूपमें भगवान्का आनन्दात्मक स्वरूपानुपाती अतिशय प्रसाद भी प्रकट होता है. अन्यथा समर्थ-दयालु होनेके कारण अपने सामर्थ्यानुपाती स्वरूप या प्रसाद को भी भगवान् प्रकट कर ही सकते हैं. अतः निष्काम भावयोगद्वारा परिभावित भगवत्स्वरूप और तदनुसारी भगवत्कृपा सर्व आपत्तियोंका समाधान प्रस्तुत कर देती हैं. ^३सृष्टिके कण-कणमें और प्राणिमात्रमें भी विविध नाम-रूप-कर्मोंकी लीलामें विहरनेवाले भगवान् सर्वोपादानतया सर्वान्तर्यामितया एवं सर्वरूपतया बिराजमान तो रहते ही हैं, तबभी सृष्टिके किसी विशेष नाम-रूप-कर्मके प्रति अपने क्षुद्र राग/द्वेषसे प्रेरित हो कर जब कोई असत्पुरुष बड़े तामझामके साथ भगवान्की सकाम पूजा या अर्चना करता है, तब उसकी क्षुद्रकामनाओंको भगवान्

पूर्ण नहीं करते, ऐसा भी नहीं. स्वयंकी ऐसी आराधनामें, परन्तु, भगवत्कृपा किसी और ही तरहकी अवतरता ली हुयी होती है. अतः आवश्यकता यही है कि मानव अपने विविध लौकिक या शास्त्रीय कर्मोंको या तो भगवदाराधनाके रूपमें सम्पन्न करे अथवा तो भगवदाराधना भलीभांति निभ पाये ऐसे शुद्ध प्रयोजनवश उनका अनुष्ठान करे. तभी धर्माचरण भी क्षरणशील नहीं रह जाता. अन्यथा तो धर्माचरण भी नश्वर हो सकता है. यह कथा तो दूसरी ही है कि मर्त्य प्राणी तो शाश्वत धर्मोंका आचरण भी नश्वर प्रयोजनोंको पूर्ण करनेके लिये ही अपनाता है! तब “भगवान्के भेद-मोहातीत यथार्थ स्वरूपका भान ऐसे प्राणीके भीतर कैसे टिक सकता है? जबकि भगवान् तो इस सृष्टिकी उत्पत्ति स्थिति और प्रलय की लीला भी स्वयंके साथ स्वयंके ही एक रासके रूपमें ही प्रकट करते हैं!

क्योंकि सृष्टिकी सारी लीला भगवान् स्वयंके साथ एक रासलीलाके रूपमें करते हैं, ऐसी सृष्टिमें सर्वजनगोचरतया स्वयं भी कभी अवतीर्ण हो कर कोई अवतारलीला भगवान् करते हों तो, उसका प्रयोजन केवल धर्मस्थापन असुरसंहार साधुपरित्राण या दुष्कर्मोपशमन जितना अल्पतर हो नहीं सकता. क्योंकि ये सारे कार्य तो सृष्टिमें प्रकट हुवे बिना, सृष्टिनिर्माता होनेके कारण, संल्पमात्रसे भगवान् प्रकट कर सकते हैं. अतः स्वयं भगवान् भी जब ऐसी दुहाई देते हों तो उसे हमें अपना आदर्श समझानेकी उनकी लीला माननी चाहिये. भक्तजनोंको तो उनके भावोंद्वारा परिभावित स्वरूपकी दिव्यानुभूति प्रदान करनेके प्रयोजनवश ही भगवान् अपना लीलाविग्रह प्रकट करते हैं.

अतएव भागवतके प्रथमस्कन्धमें कुन्ती द्वारा की गयी श्रीकृष्णकी स्तुतिमें भी अवतारप्रयोजनकी मीमांसा यों उपलब्ध होती है :

“नमस्ये पुरुषन्तु आद्यम् ईश्वरं प्रकृतेः परम् अलक्ष्यं

सर्वभूतानाम् अन्तर्बहिरवस्थितं मायाजवनिकाछन्नम् अज्ञा-
धोक्षजम् अव्ययं न लक्ष्यसे मूढदृशा नटो नाट्यधरो
यथा. तथा परमहंसानां मुनीनाम् अमलात्मनां भक्तियोगविधा-
नार्थं कथं पश्येमहि स्त्रियः!... न वेद कश्चिद्, भगवन्!,
चिकीर्षितं तव ईहमानस्य नृणां विडम्बनं, न यस्य कश्चिद्
दयितो अस्ति कश्चिद्, द्वेष्यः च, यस्मिन् विषमा मतिः
नृणाम्. जन्म कर्म च विश्वात्मन्! अजस्य अकर्तुः आत्मनः
तिर्यङ्मृषिषु यादःसु तद् अत्यन्तविडम्बनम्... “केचिद् आहुः
अजं पुण्यश्लोकस्य कीर्तये यदोः प्रियस्य अन्ववाये... अपरे
वासुदेवस्य देवक्यां याचितो अभ्यगाद् अजः त्वम् अस्य क्षेमाय
वधाय च सुरद्विषां, भारावतरणाय अन्ये भुवो नावइव
उदधौ सीदन्त्याः भूरिभारेण जातो हि आत्मभुवा अर्थितः.
भवे अस्मिन् क्लिश्यमानानाम् अविद्याकामकर्मभिः श्रवणस्मर-
णार्हाणि करिष्यन् इति केचन”.

(भाग.पुरा.१।८।१८-३५).

इस कुन्तीस्तुतिमें भगवान्को मूलरूपका वर्णन आद्यपुरुष ईश्वर प्रकृतिसे पर अलक्ष्य प्राणिमात्रके भीतर और बाहर दोनों जगह मायाके आवरणसे आवृत हो कर अवस्थित अज्ञजनोंकी इन्द्रियोंसे अगोचर अव्यय होनेके रूपमें दरसाया गया है. भगवान्के भूतलपर अवतीर्ण रूप हो जाने मात्रसे भगवान्का ऐसा स्वरूप निरस्त नहीं हो जाता परन्तु कोई कुशल अभिनेता अपने कायिक वाचिक और वेषभूषा आदिके आहार्य अभिनय करते समय पहचाना नहीं जा सकता ऐसे भगवान्के भी भूतलपर अवतीर्ण होनेपर उन्हें साधारण जन केवल पहचान नहीं पाते. क्योंकि भगवान् तो विषयासक्तिसे रहित विरक्त भगवच्चिन्तनमननपरायण निर्मलमतिवाले पुरुषोंके भीतर भक्तियोग प्रकट करने ही अपना लीलास्वरूप प्रकट करते हैं. जैसे विषममतिवाले साधारणजनोंके लिये कोई द्वेष्य होता है तो कोई प्रिय, भगवान्के

लिये, परन्तु, कोई भी द्वेष्य या प्रिय नहीं होता. फिरभी मनुष्यके रूपमें प्रकट हो कर भगवान् मनुष्य जैसा बरताव लीलया प्रकट करते हैं. ऐसा तो नहीं कि भगवान् केवल मानुष रूप ही धारण कर अवतीर्ण होते हों. भगवान् तो पशु-पक्षी मनुष्य ऋषि जलचर आदि अनेक रूपोंमें अवतीर्ण होते हैं; और जब जैसा रूप धारण करते हैं, तब वैसी लीला भी करते ही हैं! फिर केवल मनुष्य जैसी लीलाके कारण अज-अकर्ता भगवान्के जन्म-कर्मकी दिव्यतामें शंका करनेका कोई औचित्य रह नहीं जाता है. यह कथा अलग है कि ऐसी लीलाका हेतु या प्रयोजन सभीको अपने-अपने अधिकारके अनुरूप अलग-अलग समझमें आता हो किसीको, जिस कुलमें भगवान् प्रकटे उसकी कीर्ति बढ़ानेको प्रकट होते हैं, ऐसा लगता है. किसीको लोककल्याण और असुरोंका वध करने भगवान्, स्वयंको मिले किसी तरहके वरदानको प्रमाणित करने भगवान् प्रकट हुवे, ऐसा लगता है. किसीको ब्रह्माजीके द्वारा की गयी प्रार्थनाके स्वरूप भूमिभार हरनेको भगवान् प्रकट होते हैं, ऐसा लगता है. तो किसीको अज्ञान कामना और कर्मबन्धन में फंसे जीवोंको भवबन्धनसे मुक्त करने अपने श्रवणीय-कीर्तनीय गुणोंको प्रकट करने भगवान् प्रकट होते हैं, ऐसा लगता है.

भगवान् क्यों प्रकट होते हैं ऐसे प्रश्नके समाधानार्थ दिये जानेवाले ऐसे विभिन्न अभिप्रायोंमें कौनसा अभिप्राय भगवान्को एकान्तिकतया अभिप्रेत है, यह निर्धारित नहीं हो पाता. सभी भगवदभिप्रेत हो सकते हैं और इनसे पृथक् भी कोई अभिप्राय भगवान्का क्यों नहीं हो सकता है!

अतः विचारणीय यहां यही है कि 'निरोध' पदका अर्थ प्रलय माननेपर, उसे दशमस्कन्धमें खोज पाना शक्य नहीं. वह तो बारहवें स्कन्धमें ही निरूपित हुवा है.

इसके अलावा जिन नौ तरहकी लक्षणरूपा लीलाओंके अवगत होनेपर लक्ष्यरूप आश्रयका स्वरूप शुद्धतया समझमें आ सकता हो, उसे उन लीलाओंके वर्णनसे पहले ही बीचमें यहां, दशमस्कन्धमें प्रतिपाद्य मान लेना भी बड़ी असमंजस निरूपणकी रीति लगती है. न केवल इतना अपितु आश्रयस्वरूपका यहां दशमस्कन्धमें निरूपण स्वीकारनेपर अग्रिम दो लीलाओं निरूपण भी निष्प्रयोजन (anti-climax) ही लगने लगेगा. अतएव इन स्कन्धोंके बीच रहा पारस्परिक कार्यकारणभाव भी शिथिल होता सा लगता है. श्रीकृष्णको शुद्ध आश्रय स्वरूप मानना, उचित हो या अनुचित हो, पर वह श्रीकृष्णचरित्र केवल दशमस्कन्धमें ही नहीं प्रत्युत ग्यारहवें स्कन्ध तक अनुवृत्त हुवा है. ऐसी स्थितिमें ग्यारहवें स्कन्धमें आश्रयके स्वरूपका प्रतिपादन क्यों मान्य नहीं रखा जाता ?

एतावता यह सिद्ध होता है कि इस स्कन्धमें प्रतिपाद्य भगवल्लीला निरोधरूपा ही है. वह भक्तिलीलाके प्रतिपादक नवमस्कन्धके बाद ऐसे भक्तोंकी माहात्म्यज्ञानपूर्वक प्रकट होनेवाली ऐसी प्रेमलक्षणा भक्ति है कि जिसमें ऐसी दिव्य एकतानता प्रकट होती है कि भक्तको भगवान्के अलावा अन्य सभी सांसारिक विषयोंका आकर्षण निःशेष हो जाता है! अतः भक्ति और/अथवा मुक्ति या स्वरूपभावापत्ति प्रदान करनेकी लीलायें तो भगवान् दिव्यधामोंमें बिराजमान रहते हुवे भी कर सकते हैं. निरोधलीला, परन्तु, भगवान्के भूतलपर प्रकट हुवे बिना शक्य नहीं. अतएव तत्त्वार्थदीपनिबन्धके प्रारम्भमें श्रीकृष्णके स्वरूपकी परिभाषाके रूपमें महाप्रभु यों दिखलाते हैं “सएव परमकाष्ठापन्नः कदाचिद् जगदुद्धारार्थं पूर्णएव प्रादुर्भूतः ‘कृष्णः’ इति उच्यते” (त.दी.नि.१।१).

अब रही हरिलीलाकारद्वारा उत्प्रेक्षित भूभारहरणकी बात. तो वह तो दशमस्कन्धके प्रारम्भ भाग और अन्तिम भाग में तो वर्णित हुयी नहीं है. और मुक्तिप्रतिपादक ग्यारहवें स्कन्धमें भी, अन्य स्कन्धोंमें

वर्णित अनेकानेक अवतारलीलाओंके सामान्य वर्णनोंकी तरह ही, वह तो यहां भी अनुवृत्त हुयी है. अतः उसे यहां प्रमुखतया प्रतिपाद्य कैसे माना जा सकता है? अतः निरोधलीलाका जो लक्षण — “‘निरोध’का अर्थ इस आत्माका अपनी शक्तिओंके साथ अनुशयन है” (भाग.पुरा.२।१०।५) इन शब्दोंमें दिया गया है वह भूभारहरणकी लीलाके साथ संगत भी नहीं हो पाता है. अतः उसे अकारण यहां लानेपर लीला भी नौके बजाय अधिक सिद्ध होगी. पुनः भूभारहरणार्थ भगवान्का जन्मग्रहण प्रथमस्कन्धमें वर्णित कुन्तीके द्वारा की गयी स्तुतिसे भी विपरीत लगता है. नवमस्कन्धमें ईशके अनुगामिजन भक्तोंकी कथाके बाद भूभारहरणकी कथाकी पूर्वोत्तरसंगति भी बैठती नहीं है.

अतः यहां इस स्कन्धमें भगवान् श्रीकृष्णने भूतलपर अवतीर्ण हो कर जिन भक्तोंके साथ अपनी दुर्विभाव्य शक्तिओंके साथ ऐसी लीला प्रकट की वे सभी भक्त प्रापंचिक विषयोंको भूल कर भगवान्में अनन्यासक्त हो जाते हैं, ऐसा अभिप्रेतार्थ लेना उचित है. अतः ऐसी भक्तिके कारण भक्त मुक्त हो पाते हैं और अन्तमें भगवान् उन्हें अपने सच्चिदानन्दात्मक स्वरूपसे सम्पन्न बना कर स्वरूप या आश्रय भावापन्न भी कर देते हैं. ऐसा क्रम अंगीकार करनेपर नवम दशम एकादश और द्वादश स्कन्धोंका यथोपदिष्ट अर्थमें पूर्वोत्तरभाव निभ पाता है. अतएव ब्रज मथुरा और द्वारका आदि लीलास्थलोंके सभी भक्तोंके बारेमें भगवल्लीलाकी चरमनिष्पत्ति (climax) यही दिखलाया गया है कि वे कैसे प्रपंचके विषयों सम्बन्धों और कर्तव्यों को भूल कर सर्वथा भगवदासक्त हो गये :

“शृण्वन् गृणन् संस्मरयन् च चिन्तयन् नामानि रूपाणि च मंगलानि ते क्रियासु यः त्वच्चरणारविन्दयोः आविष्टचेता न भवाय कल्पते... न ते भवस्य ईश भवस्य कारणं विना विनोदं बत तर्कयामहे... युवां मां पुत्रभावेन ब्रह्मभावेन

च असकृत् चिन्तयन्तौ कृतस्नेहौ यास्येथे मदगतिं पराम्” (जन्मप्रक.१०।२।३७-३९,३।४५).

“इति नन्दादयो गोपाः कृष्णरामकथां मुदा कुर्वन्तो रममाणाः च न अविन्दन् भववेदनां एवं विहारैः कौमारैः कौमारं जहतुः ब्रजे” (ताम.प्रमा.१०।११।५८-५९)

“एवंविधाः भगवतो या वृन्दावनचारिणः वर्णयन्त्यो मिथो गोप्यः क्रीडाः तन्मयतां ययुः” (ताम.प्रमे.१०।२१।२०).

“गोपीनां परमानन्दः आसीद् गोविन्ददर्शने क्षणं युगशतमिव यासां येन विना अभवत्” (ताम.साध.१०।१९।१६).

“तन्मनस्काः तदालापाः तद्विचेष्टाः तदात्मिकाः तदगुणानेव गायन्त्यो न आत्मागाराणि सस्मरुः”, “एवं ब्रजस्त्रियो राजन् कृष्णलीलानुगायतीः रेमिरे अहःसु तच्चित्ताः तन्मनस्काः महोदयाः” (ताम.फल.१०।३०।४४, १०।३५।२६).

“ताभिः स्वलंकृतौ प्रीतौ कृष्णरामौ सहानुगौ प्रणताय प्रपन्नाय ददतुः वरदौ वरान् सोऽपि वब्रे अचलां भक्तिं तस्मिन्नेव अखिलात्मनि तद्भक्तेषु च सौहार्दं भूतेषु दयां पराम्, इति तस्मै वरं दत्त्वा” (राज.प्रमा.१०।४१।५१-५२).

“दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमै श्रेयोभिः विविधैः च अन्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते. भगवति उत्तमश्लोके भवतीभिः अनुत्तमा भक्तिः प्रवर्तिता दिष्ट्या मुनीनामपि दुर्लभा. दिष्ट्या पुत्रान् पतीन् देहान् स्वजनान् भवनानि च हित्वा अवृणीत यूयं यत् ‘कृष्णा’ख्यं पुरुषं परं”, “मनसो वृत्तयो न स्युः कृष्णपादाम्बुजाश्रयाः वाचो अभिधायिनी नाम्नां कायः तत्प्रह्वणादिषु कर्मभिः भ्राम्यमाणानां यत्र क्वापि ईश्वरेच्छया मंगलाचरितैः दानैः रतिः नः कृष्णे ईश्वरे” (राज.प्रमे.१०।४७।२४-६७).

“विमोहितो अयं जनः ईश मायया त्वदीयया त्वां भजति अनर्थदृक् सुखाय दुःखप्रभवेषु सज्जते गृहेषु योषित् पुरुषः

च वञ्चितः”, “न धीः मय्येकभक्तानाम् आशीभिः भिद्यते क्वचिद् युञ्जानानाम् अभक्तानां प्राणायामादिभिः मनः अक्षीणवासनं... दृश्यते पुनः उत्थितम्” (राज.साध.१०।५१-४६-६०,६१).

“त्वं वै समस्तपुरुषार्थमयः फलात्मा यद्वाञ्छया सुमतयो विसृजन्ति कृत्स्नं... का अन्यं श्रयेत तव पादसरोजगन्धम् आघ्राय सन्मुखरितं जनता अपवर्गम्” (राज.फल.१०।६०।३८-४२).

“एवं मनुष्यपदवीम् अनुवर्तमानो नारायणो अखिलभवाय गृहीतशक्तिः रेमे... यानि इह विश्वविलयोद्भववृत्तिहेतुः कर्माणि अनन्यविषयाणि हरिः चकार यस्तु अंगं गायति शृणोति अनुमोदते वा भक्तिः भवेद् भगवति हि अपवर्गमार्गो” (सात्त्वि.प्रमे.१०।६१।४४-४५).

“भवन्त एतद् विज्ञाय देहादि उत्पाद्यमन्तवद् मां यजन्तो अध्वरैः युक्ताः प्रजाधर्मेण रक्षथ! सन्तन्वन्तः प्रजातन्तून् सुखं दुःखं भवाभवौ प्राप्तं-प्राप्तं च सेवन्तो मच्चित्ताः विचरिष्यतः. उदासीनाः देहादौ आत्मारामाः धृतवृताः मयि आवेश्य मनः सम्यङ् माम् अन्ते ब्रह्म यास्यथ” (सात्त्वि.साध.१०।७३।२१-२३).

“आहुः च ते, नलिननाभ!, पदारविन्दं योगेश्वरैः हृदि विचिन्त्यम् अगाधबोधैः संसारकूप-पतितोत्तरणावलम्बं गेहञ्जु-षाबमपि मनसि उदियात् सदा नः... न वयं, साध्वि!, साम्राज्यं स्वाराज्यं भौज्यमपि उत वैराज्यं पारमेष्ठ्यं च आनन्त्यं वा हरेः पदं कामयामहे एतस्य श्रीमत्पादरजः श्रियः... मूर्ध्ना वोढुं गदाभृतः” (सात्त्वि.फल.१०।८२।४९-८३।४२-४३).

“शय्यासनाटनालापक्रीडास्नानादिकर्मसु न विदुः सन्तम् आत्मानं वृष्णयः कृष्णचेतसः... इत्थं परस्य निजवर्त्म-रिरक्षया

आत्तलीलातनोः तदनुरूपविडम्बनानि कर्माणि कर्मकषणानि यदूतमस्य श्रूयाद् अमुष्य पदयोः अनुवृत्तिम् इच्छन्” (गुण.प्र-क.१०।९०।४६-४९).

(प्रकरणार्थ)

इस दशमस्कन्धके पांच प्रमुख प्रकरण यों हैं : ^१जन्मप्रकरण ^२तामसप्रकरण ^३राजसप्रकरण ^४सात्त्विकप्रकरण और ^५गुणप्रकरण. इसी तरह इन पांच प्रकरणोंके अन्तर्गत ^६प्रमाणप्रकरण ^७प्रमेयप्रकरण ^८साधनप्रकरण और ^९फलप्रकरण यों चार-चार अवान्तप्रकरणोंमें उपलब्ध होते साधनादिनिरोधरूप भगवत्स्वरूप और भगवल्लीला के प्रभावरूपेण फलनिरोधरूप प्रभावोंका ही निरूपण किया गया है.

इनमें तथ्य यह उभर कर सम्मुख आता है कि अधर्मग्लानिवारण धर्मसंस्थापन साधुव्रण और असाधुनिराकरण जैसे प्रयोजन तत्तद् लीलाओंमें निरन्तर निरूपित होनेके बावजूद पूर्णवतारलीलाके प्रमुख प्रयोजनतया मान्य नहीं हो सकते. क्योंकि नवम-दशमस्कन्धोंके पूर्वोत्तरभावकी संगतिके अभिप्रेतार्थतया उनका बोध नहीं होता है. फिरभी भगवद्भक्त भी क्योंकि जनमें तो जगत्में ही होते हैं अतः ऐसे जगत् या विष्णुपत्नीरूपा पृथ्वी की भी कुछ पीड़ा तो हो ही सकती है. भगवान् उस पीड़ाके निवारणार्थ भी अवतीर्ण होते हैं. जबकि पुष्टिभक्तोंके बारेमें तो स्वयं भागवतपुराण ही यों कहना चाहता है :

“अस्मिन् लोके वर्तमानः स्वधर्मस्थो अनघः शुचिः ज्ञानं विशुद्धम् आप्नोति मद्भक्तिं वा यदृच्छया. स्वर्गिणोऽपि एतम् इच्छन्ति लोकं निरयिणः तथा साधकं ज्ञानभक्तिभ्याम् उभयं तद् असाधकम्. न नरः स्वर्गतिं कांक्षेद् नारकीं वा विचक्षणः न इमं लोकं च कांक्षेत देहावेशात् प्रमाद्यति”, “नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः”.

(भाग.पुरा.११।२०।११-१३, ६।१७।२८).

यहां स्वधर्मनिरतका निष्पाप और शुद्ध होना. उसका भगवत्प्रदत्त बीजभाववश या यदृच्छया ज्ञानवान् अथवा भगवद्भक्त हो पाना ऐसा क्रम साधनावस्थाके निरूपणार्थ दर्साया गया है. पुनः ऐसे विशुद्धज्ञान या भगवद्भक्ति के वश ऐहिक विषयाकर्षण या पारलौकिक नरककी भीतिसे अथवा स्वर्गकी लालसासे रहित होनेमें देहावेशप्रयुक्त प्रमाद या देहावेशरहित अप्रमाद को कारण माना गया है. जहां तक सिद्ध भक्तोंका सवाल है तो उन्हें तो स्वर्ग अपवर्ग और नरक सर्वत्र तुल्यदर्शी माना गया है. अतएव भक्तात्माकी पीड़ाके निवारणार्थ भगवदुक्त या भागवतोक्त अवतारके चतुर्विध प्रयोजन तो वस्तुतः लीलार्थ अंगीकृत प्रयोजन ही हैं. वस्तुमात्रमें उपादानतया अन्तर्यामितया एवं परमानन्दात्मिका निजलीलामें विहार करनेवाले परब्रह्म परमात्मा भगवान्का अपने आन्तरिक या बाह्य अनुभवोंमें गोचर न होना ही अभगवद्भक्त्यर्थ जीवात्माकी अव्यक्त पीड़ा है. प्रारम्भमें वह पीड़ा स्वयं भी मनोगोचर नहीं होती परन्तु स्वयं भागवतपुराणके अनुसार —

क“सतां प्रसंगाद् मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायानाः
कथाः तज्जोषणाद् आशु अपवर्गवर्त्मनि श्रद्धा रतिः भक्तिः
अनुक्रमिष्यति, भक्त्या पुमान् जातविरागः ऐन्द्रियाद् दृष्टश्रुताद्
मद्रचनानुचिन्तया चित्तस्य यत्तो ग्रहणे योगयुक्तो यतिष्यते
ऋजुभिः योगमार्गैः. असेवया अयं प्रकृतेः गुणानां ज्ञानेन
वैराग्यविजृम्भितेन योगेन मयि अर्पितया च भक्त्या मां
प्रत्यगात्मानम् इह अवरुन्धे” (३।२५।२५-२७).

ख“भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिः अन्यत्र च एषः त्रिकः
एककालः प्रपद्यमानस्य यथा अश्नतः स्युः पुष्टिः तुष्टिः
क्षुदपायो अनुधासम्” (भाग.पुरा.११।२।४२).

ग“नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिः भगवतो, नृप !, अव्ययस्य
अप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः, कामं क्रोधं भयं स्नेहम्
ऐक्यं सौहृदमेव वा नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां
हि ते. नच एवं विस्मयः कार्यो भवता भगवति अजे

योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यतः एतद् विमुच्यते” (भाग.पुरा.१०।२१-
१४-१६).

क“वचनमें अवतारकाल या अनवतारकाल में प्रमाण-साधनमर्यादाके अनुरोधवश “वैराग्यविजृम्भितेन योगेन मयि अर्पितया च भक्त्या मां प्रत्यगात्मानम् इह अवरुन्धे” वचनांशद्वारा निरोधपथकी ओर अग्रसर होनेकी सरणी दर्सायी गयी है. ख“वचनमें अनवतारकालमें निःसाधन जीवात्मओंके वास्ते निरोधपथपर अग्रसर होनेकी सरणी दर्सायी गयी है. ग“वचनमें अवतारकालमें “यान्ति तन्मयतां हि ते” वचनांशद्वारा निरोधपथपर अग्रसर होनेकी लीलापद्धति दर्सायी गयी है. निरोधलीलौपयिक प्रमुख अन्तर केवल यही है कि प्रमाण और साधन की मर्यादाके वश सर्वथा निन्दार्ह दोषरूप माने जाते मनोविकार काम-क्रोध-भय-द्वेष-स्नेह-सौहृदादि कथञ्चित् प्रकट भगवत्स्वरूपविषयक हों तो निरोधपथकी ओर ले जानेवाले बन सकते हैं परन्तु जागतिक विषयक हों तो नहीं !

अतएव स्कन्धार्थरूप निरोधका कारणलक्षण भूमिपर भगवान्का भक्तोंके बीच प्राकट्य माना गया है. इसी तरह कार्यलक्षण ऐसे इन भक्तोंका प्रापंचिक विषयोंके विस्मरणपूर्वक अनन्यभगवदासक्त हो जाना माना गया है. उसी निरोधलीलाको प्रकट करने जन्मप्रकरणमें भगवज्जन्म प्रमुख प्रतिपाद्य विषय माना गया है. तामस राजस और सात्त्विक प्रकरणोंकी त्रयीमें उसी निरोधके तामस राजस एवं सात्त्विक भक्तोंके भावोंके अनुरूप भगवल्लीलाओंके कारण तामसादि भक्तोंका अपने लौकिक वैदिक कर्तव्यों तथा अहन्ता-ममतास्पद प्रापंचिक विषयोंके आकर्षणसे मुक्त हो कर अनन्यभगवदासक्त हो जाना, भगवल्लीलाके कार्यतया प्रतिपादित हुवा है.

श्रीघनश्याम भट्ट प्रस्तुत प्रकरणार्थका संकलन यों करते हैं : प्रपंचविस्मृतिपूर्विका भगवदाक्तिको निरोधरूपा माना गया होनेसे

निरोधलीलाके प्रकटनार्थ सबसे भगवत्प्राकट्य वर्णित हुवा है। इसमें प्रथम जन्मप्रकरण है। इस जन्मप्रकरणके अन्तर्गत चार अध्याय भगवान् चतुर्भूति बन कर प्रकट हुवे हैं यह दर्सानेको है। यों चतुर्भूति भगवान्के वासुदेव संकर्षण प्रद्युम्न और अनिरुद्ध चार व्यूह होते हैं।

(जन्मप्रकरणान्तर्गत चार अध्यायोंका प्रतिपाद्य अर्थ)

अतएव निरोधलीलाके उपक्रमतया अपनी दुर्विभाव्य शक्तिओंके समुदायके साथ प्रकट होनेवाले भगवान्की भूतलपर जन्मग्रहणकी लीला प्रथमके चार अध्यायोंद्वारा प्रतिपादित हुयी है।

देश-काल-स्वरूपके परिच्छेद(सीमा)से रहित भगवान्का भूतलके देशविशेषमें कालविशेषमें तथा उन-उन विशेष भक्तोंके भावोंके अनुरूप अपना विशेष स्वरूप प्रकट करना, इस प्रसंगमें साधननिरोधरूपा लीलाकथा बन जाती है। भक्तोंका अपने प्रापंचिक संबन्ध विषय और क्रियाकलापों को भूल कर ऐसे भगवान्में अनन्यासक्त हो जाना फलनिरोधरूपा लीलाकथा मानी गयी है।

प्रत्येक साधनकी साधनका साधन होना उसके किसी तरहके क्रियाकलाप या अवान्तरव्यापार में अन्वित होनेपर प्रकट होता है। अतः दशमस्कन्धके, नामशः, जन्म तामस राजस सात्त्विक और गुण, यों पांचों प्रकरणोंमें प्रतिपादित विविध भगवल्लीलायें भक्तोंके बीच भूतलपर प्रकट होनेकी साधनरूपा भगवल्लीलाके अवान्तरव्यापारोंकी लीलाकथा मानी जाती हैं।

प्रथमाध्यायार्थ हेतुता :

(^१) निरोधलीलाके अन्तर्गत जन्मप्रकरणके ६९ श्लोकोंवाले इस प्रथम अध्यायमें भूमि, माता देवकी; तथा, अन्य भी भक्तजनोंको सतानेवाले भयरूप कष्ट या दुःख जो थे उनका निरूपण, दुःख हरनेवाले भगवान् श्रीहरिके, जन्मके हेतुतया

किया गया है। यह भयरूप दुःख भूमिको प्रत्यासन्न कलिकालके कारण था। माता देवकीको कंसके क्रूर संकल्प और स्वभाव के कारण था। तथा अन्य भी साधारण जनोंको अज्ञानजन्य अथवा कंसकी मूर्खताके कारण भयरूप दुःख था। अतः अपनी परमानन्ददायिका लीलाद्वारा त्रिविध दुःखको हरनेवाले भगवान्का वासुदेव व्यूहके साथ प्रकट होनेमें त्रिविध दुःखोंको हेतुके रूपमें दिखलाया जाना स्वाभाविक है। और यही हेतुता इस प्रथमाध्यायका प्रतिपाद्य अर्थ है। इसके अलावा, श्रीशुकदेवजी द्वारा श्रीकृष्णावतारकथाका वर्णन महाराज परीक्षितद्वारा यदुकुलमें जन्म लेनेवाले भगवान्की अवतारलीलाके बारे जिज्ञासा प्रकट करनेके कारण भी प्रसक्त हुवा होनेसे अवतारहेतु यहां चतुर्धा निरूपित हुवे हैं। माता देवकीजीको मृत्युसे बचा पानेका श्रीवासुदेवजीका सामर्थ्य और उनके हृदयमें भगवान्के वासुदेवतया प्रकट होना ये प्रथमाध्यायमें वर्ण्य-विषय हैं।

भगवल्लीलागानमें तत्पर बनानेको सूरदासजी और परमानन्ददासजी को जो सुनायी गयी थी 'दशमानुक्रमणिका' उसमें इस प्रथमाध्यायकी अनुक्रमणिकामें इतने विषय गिनाये गये हैं : ^१महाराजा परीक्षितद्वारा यदुकुलमें प्रकट होनेवाले भगवान् वासुदेवकी कथा सुननेका मनोरथ श्रीशुकदेवजीके सम्मुख प्रस्तुत करना, ^२जन्मके बाद अपने माता-पितासे दूर नन्द-यशोदाके पास भगवान्के लालन-पालनकी लीलाके हेतुकी जिज्ञासा, ^३भूमिको दी गयी सान्त्वना, ^४श्रीवासुदेवजीद्वारा मायाद्वारा और श्रीनारदजीद्वारा कंसका प्रबोधन, ^५'देवकीजीके छह पुत्रोंका वध; और, ^६साधारण जनताके भीतर कंसका भय।

द्वितीयाध्यायार्थ उद्यम :

(^२) निरोधलीलाके अन्तर्गत जन्मप्रकरणके ४२ श्लोकोंवाले

द्वितीयाध्यायमें संकर्षणव्यूह और योगमाया रूपी लीलाविहारके अंगभूत उन-उन आधिदैविक सामर्थ्योंको पहले प्रकट कर बादमें स्वयं भगवान्‌के प्रकट होनेकी योजनाके वृत्तान्तका निरूपण अभिप्रेत है। सभी देवताओंद्वारा की गयी भगवत्स्तुतिके कारण पूर्वाध्यायमें वर्णित भयहेतुओंके निवारणार्थ उद्यम इस द्वितीयाध्यायका प्रमुख प्रतिपाद्य अर्थ है। तदर्थ माता देवकीजीके गर्भसे श्रीबलरामके गर्भान्तरारोपणकी कथा तथा श्रीबलरामके दैत्यविघातक शेष तथा संकर्षणव्यूह रूपी होनेके कारण पूर्वप्राकट्यकी कथाका निरूपण भी किया गया है।

उक्त दशमानुक्रमणिकाकी व्याख्यामें ग्रन्थकर्ता प्रस्तुत अध्यायके विषयोंको यों गिनाते हैं : ^१भगवान्‌की दिव्यसामर्थ्यरूपा योगमायाके विपरीतगुणोंका वर्णन, ^२ऐसी अपनी दिव्यशक्तिरूपा योगमायाको प्रकट होनेकी आज्ञा, ^३उस योगमायाका कार्य, ^४उसका परिणाम, ^५देव आदिद्वारा भगवान्‌की स्तुति, ^६भगवान्‌के श्रीवसुदेवजीके हृदयमें आविष्ट होना, ^७वहांसे माता देवकीजीमें, ^८कंसका विचार, ^९ब्रह्मा आदिका आगमन ^{१०}भगवत्स्तुति, ^{११}देवताओं द्वारा माता देवकीजीको अभिनन्दन-आश्वासन प्रदान करनेके रूपमें की गयी उनकी स्तुति और ^{१२}देवताओंका पुनर्गमन।

तृतीयाध्यायार्थ रूपान्तरस्वीकरण :

^(३) निरोधलीलाके अन्तर्गत जन्मप्रकरणके ५३ श्लोकोंवाले तृतीयाध्यायमें रूपान्तर स्वीकार अध्यायार्थतया अभिप्रेत है। ^१आनेवाले कलियुगरूपी लौकिक कालमें सर्वगुणोपेत मूलकालका प्रादुर्भाव, ^२अवतीर्ण भगवान्‌के मूलरूपका निरूपण, ^३पिता वसुदेव तथा माता देवकी द्वारा की गयी स्तुतिओंके अनुसार; तथा, स्वयं भगवान्‌ने जो अपने मूलस्वरूपके बारेमें खुलासा दिया उसके अनुसार भी भगवान्‌का मूलस्वरूप ^४साथ ही

साथ माता देवकी द्वारा उस रूपके संगोपनकी प्रार्थनाके कारण जो भगवान्‌ने अपना शिशुरूप प्रकट किया, यों चार प्रकारसे रूपान्तरस्वीकरण इस अध्यायमें वर्णित हुवा है। भगवान्‌का यही रूप वंशसम्बन्धी होनेके कारण यहां प्रद्युम्नव्यूहका प्राकट्य द्योतित हुवा है।

‘दशमानुक्रमणिका’ ग्रन्थमें इस तृतीयाध्यायकी अनुक्रमणिकामें इतने विषय गिनाये गये हैं : ^१श्रीकृष्णप्रादुर्भावका वर्णन, ^२समुद्भूत श्रीकृष्णके स्वरूपका वर्णन, ^३पिता वसुदेवजी द्वारा की गयी स्तुति, ^४माता देवकी आदिके पूर्वजन्मगत स्वरूपका ज्ञापन भगवान्‌द्वारा, ^५पिता वसुदेवजी द्वारा भगवान्‌को नन्दगोकुलमें पधरा जाना।

चतुर्थाध्यायार्थ मायानाट्य :

^(४) निरोधलीलाके अन्तर्गत जन्मप्रकरणके ४६ श्लोकोंवाले चतुर्थाध्यायमें भगवान्‌की शक्तिरूपा योगमायाका नाट्य प्रमुखतया प्रतिपाद्य विषय है। ^१माता देवकीद्वारा पुत्रजन्मके तथ्यका उपगूहन, रोदन कन्याको जीवित रहने देनेकी कंसके समक्ष याचनाके कारण अन्यकी कन्या होनेके तथ्यका उपगूहन ये मायाकार्य है। ^२स्वयं माया द्वारा भी कंसको श्रीकृष्णका जन्म किसके पुत्रतया कहां कब कैसे हुवा, इस बारेमें कोई स्पष्ट बात बतानेके बजाय भरमानेवाले शब्दोंमें उकसाना भी मायाका ही नाटन है। ^३कंसकी ओर अतीव भय रहनेके बावजूद श्रीवसुदेवजी मथुरामें ही बसे रह कर कंसकी वंचना मायाका नाटन है, ^४कंसको स्वयं खुदके कर्मविपाकवश वधार्ह बनानेको ब्रह्महिंसामें अपना हित समझमें आना बुद्धिप्रेरक भगवान्‌का भी मायानाटन है। इस चार प्रकारके कपट या मायानाटन की किसीके मनमें भनक भी पैदा न होनी कि कोई उसे

रोक पाये या मायाके परदाको उठा कर सत्यका अनावृत देख पाये यह भगवान्की निरोधलीलाको भलीभाँति घटित होने देनेमें भगवान्की अनिरुद्धव्यूहरूपा सामर्थ्य है. और उसीका जन्म इस चतुर्थ अध्यायका प्रमुख विषय है.

‘दशमानुक्रमणिका’ ग्रन्थमें इस चतुर्थाध्यायकी अनुक्रमणिकामें इतने विषय गिनाये गये हैं : ^१श्रीकृष्णकी अनुजा कन्याके रूपमें प्रकट होनेवाली योगमायाके मारणप्रयासकी कथा, ^२उस कन्यारूपा योगमायाका कंसको उकसाना, ^३योगमायाके वचन सुन कर कंसको आकस्मिक पश्चात्ताप तथा देवकीवसुदेवको सान्त्वनाके वचन कहना दोनोंको कारागृहसे मुक्त करना, ^४कंसके मन्त्रिगणोंकी साधुपुरुषोंको त्रास देनेकी एवं पास-पड़ोसके प्रदेशोंमें सद्योजात बालकोंके वध करवा देनेकी सलाह.

आज तो आनन्द आनन्द !

पूरण ब्रह्म सकल घटव्यापी सो आयो गृहनन्द ॥१॥

गरग पराशर अरु मुनि नारद पढ़त वेद श्रुति छन्द ।

हरिजीवनप्रभु गोकुल प्रकटे मिटे सकल दुखद्वन्द्व ॥२॥

भागवतार्थनिबन्ध गत प्रकरण - अध्यायार्थ ।

गोकुलराय-धनश्यामजी-रचित-ग्रन्थबोधार्थ ॥

हिन्दी भाषा में रचा एक काय सरलार्थ ।

श्याममनोहरकी कृति निजमतिके शोधार्थ ॥



॥ १८. गीतगोविन्दरसावगाहन ॥

परमेश्वरकी अवज्ञाके दंडरूपेण मानवीय शरीरके मैथुनजन्य या मर्त्य होनेके अभिशापकी कथा न तो भारतीय आर्ष परंपरामें कहीं वर्णित हुई है और न किसी भी प्राणीके शरीरके पृथ्वी जल तेज वायु आकाश रूपी जड़ पदार्थोंके संघातरूप होनेमें किसी तरहके अपवित्रताकी कल्पना यहां मान्य की गई है। बृहदारण्यकोपनिषद् (२।३।१) स्वयं ब्रह्मके भी दो रूप स्वीकारता है : मूर्त मर्त्य अस्थायी और अमूर्त अमृत स्थायी। इसी तरह जड़ पदार्थोंकी उत्पत्ति तैत्तिरीयोपनिषद् (२।१-५) में परमात्मामें से आकाश वायु अग्नि जल पृथ्वी ओषधि अन्न और अन्नमय पुरुषशरीरके उत्पत्तिक्रममें स्वीकारी गयी है। इसी अन्नरसमय शरीरके भीतर क्रमशः प्राणमय मनोमय विज्ञानमय आनन्दमय सन्निहित हैं ऐसा भी माना गया है। अर्थात् परमात्माके भीतर ही आकाश आदि पंचमहाभूत पैदा हुवे और इस मानवीय पांचभौतिक शरीरके विभिन्न कोशरूप अन्नमय प्राणमय मनोमय विज्ञानमयके क्रममें सबसे भीतर आनन्दमय परमात्मा बिराजमान रहता है, ऐसा माना गया है।

यों भारतीय आर्ष परंपरा न तो शरीरको धिक्कारती है और नहीं केवल शारीरिकताको ही हमारे अस्तित्वका प्रमुख रूप स्वीकारती है। हमारी शारीरिकताको हमारे अस्तित्वकी पूर्णता मानना अथवा केवल भौतिक विषयोंमें मिलते सुखको ही सर्वोपरि सुख मानना आर्ष दृष्टिकोणके अनुसार अज्ञानसे जन्य मनोवृत्ति होनेपर पशुतुल्यता है और आत्ममोहसे भरे होनेपर तो यह निश्चयेन आसुरी भाव है। हमारे अस्तित्वको उसकी संपूर्णता — आधिभौतिकता आध्यात्मिकता एवं आधिदैविकता — में स्वीकारना ही भारतके ऋषि-महर्षिओंके दृष्टिकोणकी व्यापकता है।

इस मूल मुद्देकी बातको समझ लेनेपर दैविक स्वरूपोंमें स्त्री-पुरुष आकारोंवाले शारीरिक भेद अथवा उन दैवी आकारोंके परस्पर प्रणय

या कलह के लीलाप्रसंगोंको पौराणिक गप्प (Myth) या मानवीय लौकिक कुण्ठाओंकी दैवीकरणद्वारा सन्तुष्टिकी विकृत मानसिकता मानना भी मूल आर्ष धारणाओंके साथ नितान्त अपरिचयका प्रकाशन है।

जागतिक अपूर्ण ऐश्वर्य, अपूर्ण सामर्थ्य, अपूर्ण सौन्दर्य, अपूर्ण ज्ञान या अपूर्ण वैराग्य की तरह अपूर्ण काम या अपूर्ण प्रेम की अपूर्णताको स्वीकार लेना एक बात है। यही अपूर्णता, परन्तु, हमारे भीतर परिपूर्ण ऐश्वर्य सामर्थ्य सौन्दर्य ज्ञान वैराग्य काम या प्रेम की अनुभूति प्राप्त करनेको प्रेरकबल भी बनती हैं, यह कभी भूलना नहीं चाहिए।

अतएव हमारे यहां आर्ष शास्त्रोंमें ब्रह्मके सृजनकारी दैविक पुरुषरूपको ब्रह्मा तो दैविक स्त्रीरूपको सरस्वती; अर्थात्, नूतन सृजनमें ज्ञानविज्ञानपूर्णता होनी अपेक्षित मानी गयी है। अन्यथा तो ज्ञान-विज्ञानके बिना सृजन आत्मविनाशका हेतु भी बन सकता है। ब्रह्मके पालनकारी दैविक पुरुषरूपको विष्णु तो दैविक स्त्रीरूपको लक्ष्मी; अर्थात्, पालनकारी स्वरूपका विष्णु=सर्वव्यापी होना तथा लक्ष्मी=धनधान्यपूर्ण होना आवश्यक माना गया है। ब्रह्मके संहारकारी दैविक पुरुषरूपके रुद्र होनेपर भी उसका अन्तिम प्रयोजन शंकर=कल्याणकारी होना तथा दैविक स्त्रीरूपको दुर्गा या काली अर्थात् दुर्गम कालजयी होना आवश्यक माना गया है। इसी तरह हमारे किसी भी उपक्रममें ब्रह्मके विघ्नहरणकारी दैविक रूपको गणपति तो दैविक स्त्रीरूपको ऋद्धि-सिद्धि होनेके रूपमें मान्य किया गया है। किसी भी उपक्रम या उद्यम में विघ्नवारणार्थ जैसे समृद्धि और सिद्धि अपेक्षित होती है; वैसे ही समृद्धि और सिद्धि का विघ्नरहित होना भी अपेक्षित होता है।

इसी तरह हमारे भीतर भरे कामभावको पुरुषरूप कामदेव तो प्रेमभावको स्त्रीरूप रतिदेवी के रूपमें स्वीकारा गया है। प्रणयकेलीमें

पुरुषका कामरहित होना तो स्त्रीका रति=प्रेमरहित होना प्रणयकेलीमें रसाभासजनक माना गया है.

हमारे यहां धर्म अर्थ काम और मोक्ष यों चारोंके पुरुषार्थ होनेकी स्वीकृति स्वयंमें इस बातका प्रबल प्रमाण है कि इन चारोंको एक-दूसरेसे विरोधी नहीं केवल विभिन्न ही माना जाता था. अतएव इनमें किसी भी एक पुरुषार्थके अतिरेककी मनोवृत्ति न केवल सामाजिक अस्वस्थता प्रत्युत आध्यात्मिक अस्वस्थता भी होती है. यही कारण है कि स्वयं परमात्मामें भी सृष्टि प्रकट करनेसे पहले कामभाव जगा था ऐसा ऋग्वेदमें कहा गया है. इसी कामभाववश उस एकाकी परमात्माने अपने-आपको दो स्त्री-पुरुषरूप भागोंमें विभक्त किया. वह दूसरा स्त्रीरूप रतिजनक था. यों सृष्टिके आरम्भमें ही काम और रति की सर्वप्रथम जो प्रणयकेली सम्पन्न हुई उससे यह सृष्टि प्रकट हुई. यह आधिदैविक काम आधिदैविक रति के बीच सम्पन्न हुई प्रणयकेली थी.

जो अनार्ष मनोवृत्तिवाले होते हैं उन्हें परमात्माके भीतर ऐसे काम-रतिके गुणधर्म होनेकी बात जुगुप्साजनक लगती है. परन्तु प्राणिओंके स्थूल शरीरके भीतर सूक्ष्म जीवकोशरूप शुक्र (sperm) और डिम्ब (ovum) में भी परस्पर काम और रति की प्रणयकेली न केवल पशु-पक्षी आदि प्राणिजगतमें भी अपितु वनस्पती जगत्में भी पायी जाती है. क्या उसे धर्म-अधर्म नीति-अनीति या पुण्य-पापके वर्गोंमें हम बांट पायेंगे? वस्तुतः तो रासायनिक अणु (chemical molecule) में भी धनविद्युदणु (positively charged cation) और ऋणविद्युदणु (negatively charged anion) के बीच भी जैविक नहीं परन्तु रासायनिक काम और रति के भावोंके व्यवहार होता ही है. इसे भी वर्ज्य या पापरूप माननेपर तो ऐसा विधान करनेवाले जैविक प्राणीको स्वयं अपने जैविक स्वरूप (biological form) को भी पापरूप स्वीकारना पड़ेगा!

इस परिप्रेक्ष्यमें आधिदैविक काम और रति के प्रति अपनी आधिभौतिक काम और रति के बारेमें पूर्वाग्रहग्रस्त वर्जनापूर्ण (inhibition) मूढ़तापर काबू पाना ही उपयुक्त होगा.

अतएव “द्यौः पिता पृथ्वी माता” का उद्घोष करनेवाला यजुर्वेद भी वर्षाद्वारा पृथ्वीको वनस्पतीगर्भा बनानेवाले द्यौका भौतिक पर्यावरणीय (ecological) कामभाव और पृथ्वीका रतिभाव ही प्रतिपादित करना चाहता है.

रसशास्त्रमें इस काम और रति के प्रणयको शृंगाररसात्मक माना गया है. शृंगाररसका रंग भी द्यौके जैसा नील माना गया है और इसका अधिदेव विष्णुको माना गया है. वैसे वेदमें ‘राधस्’ शब्द लक्ष्मीका वाचक है परन्तु वह लक्ष्मी भगवान् विष्णुके विविध अवतारोंमें यथायथ अनेक नामोंको धारण कर साथ ही साथ प्रकट होती है. अतएव भागवतपुराणमें भी “निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा स्वधामनि ब्रह्मणे रंस्यते नमः” कहा गया है.

इन तथ्योंको दृष्टिगत करनेपर जयदेवके गीतगोविन्द काव्यमें राधामाधवकी प्रणयकेलीको सामान्य लौकिक काम-रतिके सीमित एवं क्षुद्र सन्दर्भमें देखनेके बजाय इस दिव्य गंभीर और व्यापक सन्दर्भमें देखनेपर ही इस महाकविके प्रति न्याय हो पाता है.

वे स्वयं अपने काव्यका रसात्मक मूल्यांकन करते हुवे कहते हैं कि उनकी काव्यभाषा ‘मधुर’ अर्थात् किसी दिव्य शृंगाररसके वर्णनार्थ है लौकिक शृंगाररसके नहीं “श्रितकमलाकुचमण्डल धृतकुण्डल ए कलितललितवनमाल जय-जय देव! हरे! दिनमणिमण्डलमण्डन भवखण्डन ए मुनिजनमानसहंस जय-जय देव! हरे!”.

ऐसे मधुरभावोंको अभिव्यक्त करनेको उन्होंने सहज ही कोमलध्वनि प्रकट करते पदोंका विन्यास किया है. अर्थात् किसी भी तरहके हठात् आकृष्ट रूक्ष पदोंके चयनद्वारा नहीं प्रत्युत सहज कान्त अर्थात् कमनीय पदोंके प्रयोगद्वारा ही इस दिव्य शृंगारका वर्णन जयदेव करते हैं. यह तो जयदेवके गीतोंकी प्रथम पंक्ति “ललित लवंग लता परिशीलन-कोमल मलय समीरे, मधुकर निकर करम्बित कोकिल कूजित कुंज कुटीरे. हरिरिह विहरति सरस वसन्ते” से ही स्पष्ट हो जाता है.

हम देख सकते हैं कि कितने प्रबल आत्मविश्वास और श्रीकृष्णके प्रति प्रगाढ़ भक्तिभावकी तन्मयतासे भरपूर वे कहते हैं कि संगीतगायनविद्यामें जो कुछ कौशल हो सकता है, जो कुछ भगवान् विष्णु या श्रीकृष्ण का अनुध्यान हो सकता है, जो कुछ शृंगारसीय संयोग या विरह के मनोभावोंका सूक्ष्म चित्रण हो सकता है, वह सभी कुछ श्रीकृष्णमें नितान्त तल्लीन जयदेवके प्रस्तुत गीतगोविन्द काव्यके अनुशीलनमें प्राप्त हो जाता है!

पुष्टिभक्तिमार्गप्रवर्तक श्रीवल्लभाचार्य महाप्रभु और उनके पुत्र गोस्वामी श्रीविठ्ठलनाथ प्रभुचरण दोनोंको ही जयदेवके गीतगोविन्दसे कितना अधिक लगाव था, यह तो महाप्रभुके “काव्यकथाअपि नीताः काव्योक्तप्रकारेण गीतगोविन्दोक्तन्यायेनापि रतिं कृतवान्” (भाग.सुबो.१०।३०।२६). तथा गोस्वामी श्रीविठ्ठलनाथ प्रभुचरणद्वारा लिखी गई गीतगोविन्दकी व्याख्या भी उपलब्ध होती है. न केवल इतना प्रत्युत पुष्टिमार्गीय सेवाप्रणालीमें श्रीराम श्रीवामन और श्रीनृसिंह जयन्तीके अलावा वसन्त ऋतुमें भी जयदेवके पदोंका गायन इनके काव्यके प्रति अलौकिक लीलाके वर्णनकी पुष्टिभक्तिसम्प्रदायद्वारा प्रकट की गई स्वीकृति है.



॥श्री हरिः ॥

॥ १९. 'श्रीविट्ठलायन महाकाव्य' की भूमिका ॥

गतिर्विट्ठलेशे मतिर्विट्ठलेशे रतिर्विट्ठलेशे सदा वै ममास्तु

जयति श्रीवल्लभार्यो जयति च विट्ठलेश्वरः श्रीमान्।

पुरुषोत्तमश्च तैश्च निर्दिष्टा पुष्टि पद्धतिर्जयति ॥

बुद्धि एक पतिंवरा कन्या है जो स्वयंवरमें सत्यका ही पतित्वेन वरण करना चाहती है. सत्यसे विवाहित बुद्धि सत्यकी अर्धांगिनी बनने पर 'यथार्थ' कहलाती है. सत्य-अर्थकी अनुगामिनी बुद्धि यथार्थ होती है. बुद्धि जब सत्य-अर्थका अनुसरण नहीं कर पाती तब दुःशीलताके कारण उसे अर्थव्यभिचारिणी, अयथार्थ, अविश्वसनीय समझा जाता है. सत्यकी अर्धांगिनी बुद्धिका माहात्म्य, अतएव, सत्यके अनुसरण- सत्यके अनुसार अपने आपको ढाल पानेमें ही निहित है, परन्तु श्रद्धाका सत्यके साथ क्या सम्बन्ध ?

श्रद्धाका स्वभाव विलक्षण है! श्रद्धाके गर्भगत होने पर सत्यका ही 'भाव'के रूपमें पुनर्जन्म होता है. सत्यको भी स्वयं अपने अनुसार ढाल देनेमें श्रद्धा समर्थ होती है, सत्य जब श्रद्धाके अनुरूप ढल जाता है तो हम उसे 'भावात्मक सत्य या भाव' कहते हैं. अतएव भाव सत्य होते हैं किन्तु सभी सत्य, भाव नहीं हो पाते; क्योंकि श्रद्धाके गर्भसे जिस सत्यका पुनर्जन्म नहीं हो पाता ऐसा सत्य भावात्मक नहीं हो सकता. जिस भावात्मक सत्यके साथ बुद्धि विवाहित नहीं हो पाती ऐसे भावका वह अनादर करती है. संभवतः उसे भाव ही न माना जाय, कुभाव या भावाभास समझा जाय. बुद्धि यह भी कहे कि श्रद्धाके गर्भगत सत्य नहीं किन्तु असत्य हुवा है, श्रीशंकराचार्यकी उक्ति 'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति' के अनुसार भाव कुभाव हो सकता है पर श्रद्धा न तो कुश्रद्धा और न अन्धश्रद्धा ही होती है. श्रद्धा अपने प्रत्येक उदाहरणमें पवित्र है. श्रद्धाका विषय सद् या असद् हो सकता है. श्रद्धा एक सहज वृत्ति है-जैसे सांस लेनेकी क्रिया. वायु

दूषित भी हो सकती है और शुद्ध शीतल सुगन्ध आदि गुणोंसे युक्त भी.

निरुक्तमें कहा गया है, 'श्रद्धा श्रत्+धानात्' अतएव 'श्रद्धा' शब्दकी व्युत्पत्ति-'श्रत् सत्यम् अस्यां धीयते इति श्रद्धा'दी गयी है. श्रत्- सत्यका जिसमें आधान स्थापन होता हो उसे 'श्रद्धा' कहते हैं. श्रत् और सत्य पर्यायवाची शब्द हैं.

सत्यकी अर्धांगिनी बुद्धि जैसे 'यथार्थ' कहलाती है वैसे ही भावात्मक सत्यकी जननी श्रद्धाको 'अतियथार्थ' या 'परम यथार्थ' (surreal) कहना चाहिये. आशा विश्वास संकल्प ये सब श्रद्धाके ही आधिभौतिक पक्ष हैं. इन्हींका आध्यात्मिक आधिदैविक पक्ष श्रद्धा है. वैज्ञानिक सत्य, दार्शनिक सत्य अथवा सामाजिक सत्य में संकल्प, विश्वास, आशा आदि के रूप पहचाने जा सकते हैं किन्तु श्रद्धाका वहां कोई प्रसङ्ग नहीं होता. जबकि धार्मिक आध्यात्मिक या आधिदैविक सत्य हमारी श्रद्धाके ही विषय बनते हैं. विज्ञान या दर्शन पर व्याख्यान विश्वास पूर्वक सुना जा सकता है आत्मोपदेश या भगवदुपदेश का अवधारण बिना श्रद्धाके संभव नहीं. केवल विश्वास भगवदुपदेशमें अपर्याप्त ठहरता है. वास्तविक दृश्य दृष्टाके अन्यथाविश्वासको कभी बदल सकता है परन्तु दृष्टाकी वास्तविक श्रद्धा अन्यथादृश्यको बदलने में सक्षम होती है. हां, श्रद्धाका दृश्य किन्तु आधिभौतिक नहीं हो सकता. श्रद्धा सत्यसे अधिक सामर्थ्य वाली होनेके कारण अपने स्वभावके अनुरूप घड़कर वह सत्यको भावात्मक सत्य बना देती है. अतएव श्रीमद भागवतकार कहते हैं: "त्वं भावयोगपरिभाषितहृत्सरोजः आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसां यद् यद् धिया त उरुगाय विभावयन्ति, तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय"(भाग.पुरा.३।१।१९).

अर्थ: जिन जिन भावनाओंसे हम भगवान्को विभावित—विविध प्रकारसे भावित—हमारी श्रद्धामयी वृत्तियोंका आलम्बन बनाते हैं, उनके सर्वथा अनुरूप ही स्वरूप-वपु धारण कर भगवान् उस भावयोग-परिभावित-हृदय-कमलपर श्रवण मार्गसे प्रविष्ट होकर विराजमान हो जाते हैं.

यह परमसत्य परमात्माके भावात्मक सत्य बननेकी ही विधि है। जगत्पिताका नंदनन्दन बनना या आत्माराम-पूर्णकाम परब्रह्मका गोपिका-रमण बनना ये सब सत्यके भावात्मक सत्यमें परिणतिके ही उदाहरण हैं। आधुनिक यूरोपीय दर्शनमें इसी बातको थोड़ेसे प्रकारान्तरसे ए एन व्हाइटहेड अपने एक प्रमुख ग्रन्थ Process and Reality में यों समझाते हैं:

“Coupled with god’s primordial nature is his consequent nature. His consequent nature is derivative. It expresses the reaction of the world upon god. The consequent nature is thus in part subject to process of actualization in the actual world. As consequent god is conditioned by the world.”

अर्थ : मौलिक (अन्यनिरपेक्ष) स्वभावके अलावा ईश्वरका एक परिणत (अन्य सापेक्ष) स्वभाव भी होता है। यह ईश्वरका परिणत स्वभाव व्युत्पन्न होता है। जगतकी ईश्वर विषयक प्रतिक्रिया इस परिणत स्वभाव द्वारा अभिव्यक्त होती है। यह परिणत स्वभाव मूर्त-वास्तविक जगतमें ईश्वरके वास्तविकतया-मूर्ततया घटित होनेकी प्रक्रियाका अंशतः अङ्ग होता है। परिणत स्वभावकी दृष्टिसे ईश्वर जगतसे नियमित होता है।

इसी परिणत स्वभावको प्रकट करनेके हेतु अजन्मा भगवान् भी जन्मग्रहण करता है। अजन्माके जन्मकी बात सुनकर ज्ञानीकी धीरज छूट जाती है। वह अजन्माके जन्मकी घटनाको मायिक आभास मान लेता है! धैर्यशील ज्ञानी, किन्तु, अच्छी तरहसे पहचानता है कि अजन्माका भी एक वास्तविक-भावात्मक जन्म संभव है : “तस्य धीराः परिजानन्ति योनिम्”।

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य सुबोधिनीमें इस भावात्माके जन्मग्रहणकी प्रक्रियाका व्याख्यान इन शब्दोंमें देते हैं :

“स्वभावस्यान्यथा भावो न वै शक्यः कथंचन।
अतस्त्रिविधजीवेषु त्रिविधा भगवत्कृतिः ॥”

अर्थ : स्वभाव बदला नहीं जा सकता, अतः त्रिविध जीवोंके हेतु भगवान्की त्रिविध लीलायें होती हैं।

जगतके साथ भगवान्के सम्बन्ध स्थापनकी दो दिशाएँ हो सकती हैं।

(१) जगत अपने स्वभावको छोड़कर भगवद्भावकी ओर अग्रसर हो।

या

(२) ईश्वर अपने स्वभावको छोड़कर जागतिक भावोंकी ओर अग्रसर हो।

जागतिक सामर्थ्य जो भी कुछ हो किन्तु भगवत्सामर्थ्यकी तुलनामें वह कुछ भी नहीं। ईश्वरके सर्वसमर्थ होनेका मतलब ही ‘कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ’होना है, अपने मूल स्वभावको छोड़ने के लिये, अतएव, ईश्वर जितना समर्थ है, वैसा सामर्थ्य जगतका कदापि नहीं हो सकता। जागतिक स्वभावकी स्वीकृति ईश्वरके लिये एक लीला हो सकती है और वह उसे निरायास निभा भी सकता है; जबकि जगतका अपने स्वभावको छोड़ देना; भी न तो लीला कही जा सकती है और न वह सहज संभव ही है। अतएव भगवल्लीलाकी एक रीति जगतके स्वभावका अनुवर्तन भी है। अनेकविध भक्तोंके साथ भगवान्की लीला भी अनेकविध ही होती। यही मौलिक सत्य और भावात्मक सत्य या परस्पर अन्तर है। सर्वसमर्थका सर्वस्वभावानुसरण न तो मायाका कपटनाटक है और न अयथार्थ मिथ्या-आभास ही। यह तो सारे यथार्थोंसे ऊपर एक अति-यथार्थ या परम यथार्थ की स्थिति है।

अतएव, समग्र कृष्णावतारलीलाकी व्याख्या केवल यथार्थ या अयथार्थ के विकल्पमें संभव नहीं इसके सम्यग्बोधके लिये अतियथार्थकी भूमिकासे परिचित होना नितान्त आवश्यक है। यह अतियथार्थ कृष्णावतारलीलाके ऐतिहासिक कालमें सीमित नहीं, और न इसकी इसे सार्वकालिक कहने मात्रसे ही पूर्ण व्याख्या संभव है। यह तो कालातीतकी कालिकता है। कालातीतका कालमें प्रवेश है अथवा कालातीतका कालको स्वीकारना

है। इसी अर्थमें इसे 'नित्यलीला' कहा जाता है, क्योंकि कालमें घटित होनेके बावजूद यह कालके अधीन नहीं। कृष्णजन्म गोकुलमें द्वापरयुगमें नन्दयशोदाके सन्दर्भमें एक ऐतिहासिक यथार्थ हो सकता है, परन्तु उसका अतिथार्थ पक्ष यह भी है कि वह प्रत्येक देशमें प्रत्येक कालमें प्रत्येक व्यक्तिके निजी जीवनकी घटना भी हो सकती है। जैसे कृष्ण कालातीत पुरुषोत्तम हैं वैसे ही उनकी लीलायें भी हैं।

“कालाधिको हरिश्चात्र पुरुषोत्तम एव च!” महाकवि सूरदासजीके हृदयमें इसी भावात्मक अतिथार्थके प्रादुर्भावका साक्ष्य महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यने “सुन सूर सबन की यह गति जे हरिचरन भजे” कहकर दिया था।

चौरासी वैष्णवकी वार्ता एवं दो सौ बावन वैष्णवन की वार्तामें इन्हीं भावात्मक अतिथार्थके निजी प्रादुर्भावोंका वर्णन उपलब्ध होता है। कृष्णवतारलीलाकी तरह इन वार्ताओंकी ऐतिहासिकता पर भी जब-तब विद्वानोंके सन्देह प्रकट होते हैं। इस सन्दर्भमें महर्षि अरविन्दकी दो सूक्तियां हम उद्धृत करना चाहेंगे :

(1) Some say Krishna never lived, he is myth. They mean on earth; for if Brindaban existed no where, the Bhagwat could not have been written.

(2) They say that gospels are forgeries and Krishna a creation of the poets. Thank god then for the forgeries and bow down before inventors.

अर्थ: (१) कुछ लोग कहते हैं कि कृष्ण कभी हुवे ही नहीं। वह तो केवल पौराणिक कल्पना हैं। उनका तात्पर्य यह ही समझना चाहिए कि कृष्ण संसारमें नहीं हुवे अन्यथा वृन्दावनका अस्तित्व यदि कहीं भी न हो तो भागवत लिखी ही नहीं जा सकती थी।

(२) लोग कहते हैं कि कृष्णगाथा केवल वंचनार्थ लिखी है तथा कृष्ण केवल कवियोंकी कृति है। हम वस्तुतः, ईश्वरके कृतज्ञ हैं

इस वंचनाके लिये और नतमस्तक है उस आविष्कृतिके समक्ष, जिसका आविष्कार कृष्ण हैं।

हमारे वार्ता साहित्य विषयमें भी यह बात उतनी ही खरी बैठती है। यथार्थ चाहे जो भी हो परन्तु इन वार्ताओंमें प्रकट होते भावात्मक अतिथार्थ पर एक यथार्थ नहीं शतशः यथार्थ न्योछावर है। वस्तुतः पुष्टिके निजी मर्मकी जैसी अभिव्यक्ति इन वार्ताओंमें हुयी है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। श्रीगोकुलनाथजीके प्रसिद्ध उद्गार- “आज कथाको फल कहत हैं, वैष्णवनकी वार्तामें सघरो फल जानियों” अत्यन्त मननीय है।

ज्ञानमार्गीय दृष्टिकोणसे कभी भगवान् कृष्णके स्वरूप, लीला एवं माहात्म्य को मायिक माना जा सकता है। ‘शाखा-अरूधन्ती’ न्याय (छोटे अरूधन्ती तारेपर निगाह टिकानेसे पहले किसी वृक्षकी शाखाकी ओर इंगित करने)के अनुसार इन्हें प्रयोजन न मानकर अद्वैतावस्था के लक्ष्यकी प्राप्ति हेतु साधक इन्हे साधनकी कोटीपर भी गिरा सकता है। परन्तु यह खिलवाड़, कृष्णभक्तोंके स्वरूप, जीवन या माहात्म्य के साथ नहीं किया जा सकता। भक्तोंकी कथामें भगवान् तो गुंफित हैं ही और वह भी इस तरहसे कि साधन कोटीपर गिराया न जा सके। महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य, अतएव, कहते हैं कि पुष्टिजीवनका फल केवल भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं; और वह भी भूमि पर अवतीर्ण होनेपर ही, केवल वैकुण्ठस्थित नहीं “भगवानेव हि फलं स यथा आविर्भवेद् भुवि।”

आज जब साकार भक्तिकी भाषामें निराकर-ज्ञानके उपदेशचातुर्यसे सत्संग प्रेमी पुष्टिभक्त हृदयमें भी भक्तिके बीजभाव अपने आकार खो रहे हैं, ऐसी स्थितिमें वर्ष के ३६५ दिनोंमें से (८४+२५२) ३३६ दिन तो कम से कम प्रतिदिन एक भगवदीयको अपने घर आमन्त्रित कर हम सत्संग लाभ पा ही सकते हैं। यहां भक्तिमार्गीय दृष्टिसे भाषा और भावों में द्वैत नहीं होता। शुद्धाद्वैतका निदर्शन भी हमें यहीं मिल सकता है।



॥ २०. श्रीवल्लभाचार्यमहाप्रभु और श्रीचैतन्यमहाप्रभु ॥

(एक परिसंवाद)

कृष्णभक्तिपर अपने एकाधिकारकी मनोवृत्तिसे ग्रस्त कुछ लोग श्रीवल्लभाचार्यमहाप्रभुके बारेमें अनेक प्रकारकी अपमानजनक बातोंका प्रचार करते रहते हैं। स्वयम् अपनी संकीर्ण तथा विद्वेषपूर्ण मनोवृत्तिको तुष्ट करनेकेलिये इस समुदायका एकमात्र आदर्श “शतधोक्तम् अनृतं सत्यं” ही प्रतीत होता है। साम्प्रदायिक श्रद्धातिरेकवश ये लोग जैसे अशिष्टजनोचित अपशब्द श्रीमहाप्रभुकेलिये प्रयोग करते रहते हैं। वह अपने इनकेद्वारा बहुप्रचारित झूटको बेपरदा कर देता है कि श्रीवल्लभाचार्य या उनके आत्मज चैतन्य सम्प्रदायके अनुयायी थे। वस्तुतः वे शिष्य नहीं थे इसी कारण तो उन्हें इतनी गाली दी जाती है!

चैतन्यचरितानुभाष्यके लेखक श्रीवार्षभानवीदचितदास कहते हैं “वल्लभभट्ट इनी वैष्णव पण्डित प्रथम श्रीमहाप्रभु सम्प्रदाये प्रविष्ट हईयाउ अधिक सन्मान ना पाईया विष्णुस्वामीसम्प्रदाये आचार्यत्व लाभ कारियाछिलेन. ईहाकेई लोके ‘वल्लभाचार्य’ बले गोकुल एवं बम्बई प्रदेशे ईहार अनेक आधिपत्य.” (पृष्ठ ७०२)

इस मान्यताके सर्वथा विपरीत श्रीराधाश्याम बागची ‘श्रीमाधवेन्द्रपुरी एवं वल्लभाचार्य’ पुस्तिकामें कहते हैं “इस समय तक विट्ठलनाथजीने ये सब ग्रन्थ रचना कर ली थी. उनसे विदित होता है कि श्रीकृष्णचैतन्यमहाप्रभुके मतसे उनके मतमें कोई भेद नहीं था...यह आजकल जो पुष्टिमार्गकी धारा चल रही है वह गोकुलनाथजी महाराजने स्थापित की है. गोकुलनाथजीका दूसरा नाम ‘वल्लभ’ है. शिष्यवर्ग इन्हे (गोकुलनाथजीको) वल्लभाचार्य कहतें हैं और वल्लभाचार्यको सिर्फ आचार्य नामसे पुकारते हैं.” (पृष्ठ ३७)

स्पष्टतया ये सारे विधान कपोलकल्पित हैं. न तो श्रीवल्लभाचार्यमहाप्रभु और न श्रीविट्ठलनाथजीके किसी भी ग्रन्थके अवलोकन करनेपर किसी भी तरहकी साकारब्रह्मवादी दर्शन और तन्मूलक पुष्टिभक्तिमार्गिक छोड़नेकी गन्ध भी कहीं उपलब्ध होती हैं. यह तो वाल्लभसाहित्यके अन्तःसाक्ष्यकी बात हुयी. स्वयं कृष्णदास कविराजद्वारा प्रदत्त इतिवृत्तके अनुसार श्रीवल्लभाचार्यमहाप्रभु सुबोधिनी सुनाने श्रीचैतन्यको गये थे और वहां गर्व चूर्ण होनेपर चैतन्यके शिष्य गदाधरके शिष्य बन गये थे. स्पष्ट है कि भागवतटीका लिखने श्रीमहाप्रभु अन्य सर्वग्रन्थोंके लेखनके बाद प्रवृत्त हुवे थे. जिनमें सर्वत्र उनका विष्णुस्वामिमतानुवर्ती होना साफ झलकता हैं. ग्यारह वर्षकी वयसे ले कर अन्तिम एकादश सुबोधिनीके लेखनकाल तक. ऐसी स्थितिमें निबन्धसे लेकर सुबोधिनी तक सभी ग्रन्थोंमें जब श्रीवल्लभाचार्य स्वयंको विष्णुस्वामिमतानुवर्ती साकारब्रह्मवादी पुष्टिमार्गप्रवर्तक मानते हैं. तब किस समय चैतन्य सम्प्रदायके शिष्य हुवे थे. यों स्वतोव्याहत विधानोंसे भरा पड़ा है यह सारा इतिवृत्त ओर उसका भाष्य.

रही बात गर्व चूर्ण होनेकी तो हम समजते हैं कि किसका गर्व चूर्ण हुवा और कौन गर्व करता रहा उसके निर्णयकेलिये सभी सम्बन्ध महानुभावोंकी एक परिसंवादगोष्ठी आयोजित कर ली जाय तो बहोत अच्छा रहेगा. यहां - वहांकी कपोलकल्पित बातें सुनकर कुछ भी मान लेनेसे पहले उन महानुभावोंको स्वयम् इनके शब्दोंमें सुन लेना एक अच्छी बात होगी.

इस परिसंवाद गोष्ठीमें अनेक महानुभाव हिस्सा ले रहें हैं. यथा श्रीशंकराचार्य श्रीधरस्वामी श्रीवल्लभाचार्य श्रीचैतन्यमहाप्रभु जीवगोस्वामी कृष्णदास कविराज, बलदेव विद्याभूषण राधामोहन भक्तिसिद्धान्तसरस्वती तथा गोष्ठीके सभाध्यक्ष श्रीराधाश्याम बागची. सर्वसम्मतिसे इस चर्चा गोष्ठीके उद्घाटक श्रीश्रीधरस्वामीको चुने जाना उचित लगता है.

सभी लोग; (समवेत स्वरमें मङ्गलाचरण)

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्तिरैरङ्गैस्तुष्टुवाङ्मसस्तनूभिः व्यशेम देवहितं यदायुः ॥

श्रीधर : (चर्चागोष्ठीका प्रारम्भ करते हुवे) अब हम भाष्यकार श्रीशङ्कराचार्य और उनके व्याख्याता आनन्दगिरि के मतका यथामति भलीभान्ति चिन्तन करके गीताकी व्याख्या प्रारम्भ करना चाहते हैं: भाष्यकारमतं सम्यक् तद् व्याख्यातृगिरिस्तथा यथामति समालोड्य गीताव्याख्यां समारभे (गीता श्रीधरीका मङ्गलाचरण).

श्रीचैतन्य: (अनसुनी करते हुवे) जगतेर निस्तार हेतु सूत्र केल व्यास मायावादी भाष्य सुनिल होय सर्वनाश. अर्थ : जगतके उद्धारके लिये व्यासजीने सूत्रप्रणयन किया पर मायावादिभाष्य सुननेसे तो सर्वनाश हो जाता हैं. (चैतन्यचरितामृत म.६।१६९)
(श्रीवल्लभाचार्य अपने कानोको अपने श्रीहस्तसे ढूँक लेते हैं कि श्रीधरका कोयी सर्वनाशक वचन उनके कानोमें न चला जाये)

श्रीधर: (अपनी बातको आगे बढ़ाते हुवे) अनेक हेतुओंसे जगतका मिथ्या होना सिद्ध होता हैं. शङ्का किन्तु यहां यह उठायी जा सकती हैं कि प्रकाशमान होनेके कारण जैसे आत्माको सत्य माना जाता है, वैसे ही जगत्को भी क्यों न सत्य माना लिया जाये? हमारा उत्तर किन्तु यह हैं कि जगत् प्रकाशमान होनेपर भी विकार हैं अतः सत्य नहीं माना जा सकता...(भाग.श्रीधरी

१२।४।२९)

श्रीचैतन्य: (पुनः अनसुनी करते हुवे बिचमें ही बोल देते हैं) जीवर देहे आत्मबुद्धि सेइ मिथ्या हय जगत् जे मिथ्या नहे नश्वर मात्र हय(म.६।१७३) परिणामवाद व्याससूत्रे सम्मत, अचिन्त्यशक्ति ईश्वर जगत् रूपे परिणत, जगद्रूप हय ईश्वर तबु अविकार अर्थ : जगत् मिथ्या नहीं है. वह तो केवल नश्वर है. व्यासजी तो परिणामवाद ही स्वीकारते हैं. अचिन्त्य शक्तिमान परमात्मा जगत्के रूपमें परिणत होनेपर भी अविकारी रहता है. (वहीँ म.६।१७०-१७१) (श्रीचैतन्यको बोलते देख श्रीवल्लभाचार्य कानों परसे श्रीहस्त हटा कर सुनते हैं तथा सम्मति सूचक भाव प्रकट करते हैं).

श्रीधर: (अपनी अधूरी बातको पूरी करते हुवे) “अस्य आत्मनो जीवस्य...अन्यथारूपम् अविद्यया अद्यस्तं कर्तृत्वादि कृत्वा स्वरूपेण ब्रह्मतया व्यवस्थिति मुक्तिः” जीवका मिथ्या देहसे सम्बन्ध अविद्याके कारण जुड़ता है : जीवस्य अविद्यया मिथ्यादेहसम्बन्धः (भाग.श्रीधरी २।१०।६).

श्रीशङ्कराचार्य: (प्रसन्न होकर) श्रीधर ठीक कहता हैं! यह सारा जगत् जो दिखलाई देता है या सुनायी पड़ता है वह अविद्याकृत ही है. इसी अविद्याके कारण परमार्थतः आत्मा एक होने पर भी अनेकतया दिखलायी देती है...जो भी कुछ वाणीका विषय है वह विकार है. मिथ्या है...देह अविद्याकृत है (उपदेशसाहस्री ४०).

श्रीधर: (श्रीशङ्कराचार्यकी बातका स्पष्टीकरण देते हुवे) यहां कयी बार यह शङ्का उठायी जाती है कि आत्मामें

भी तो जीव-ब्रह्मका द्वैत दिखलाइ देता है फिर आत्माको क्यों सत्य माना जाता है? बात यह है कि जिसे जीव और ब्रह्म में इस तरहका भेद दिखलायी देता है वह अज्ञानी है - अविद्वान है : ननु सत्यस्य अपि आत्मनो जीवब्रह्मरूपनानात्वं अस्त्येव. तत्र आह यदि एवं नानात्वं मन्यते तर्हि अविद्वान (वही.१२।४।३०).

श्रीचैतन्य : (फिर भी अनसुनी करते हुवे) मायाधीश मायावश ईश्वर जीवभेद. अर्थ : जीव और ईश्वर भिन्न हैं. ईश्वर मायाका स्वामी है और जीव मायाके अधीन रहता है (वही.म.६।१६२).

श्रीवल्लभाचार्य : (श्रीचैतन्यकी बातोंका सोत्साह अनुमोदन करते हुवे) मेरी मान्यताके अनुसार श्रीचैतन्य ठीक कह रहे हैं. जब कि श्रीधरकी बातोंमें कुछ असङ्गति प्रतीत होती है. अतएव श्रीधरस्वामीका मत मुझे मान्य नहीं : एक वाक्यता नाहि ताते स्वामी नाहि मानि (चैतन्य चरितामृत अ.७।११४).

श्रीचैतन्य : (श्रीवल्लभाचार्यकी मजाक उड़ानेके स्वरमें) स्वामी ना माने जेई जन वेश्यार भीतरे तारे करिबे गणन. अर्थ : जो श्रीधरस्वामीको नहीं मानते उन्हे वेश्याओंमें गिनना चाहिये ! (वही.१.१५)
(श्रीचैतन्यके इसी तरहके अप्रत्याशित अभद्रवचन सुनकर श्रीवल्लभाचार्य स्तब्ध हो जाते हैं : शुनिल वल्लभभट्ट हैल निर्वचन (अ.७।१०९).

जीवगोस्वामी : (श्रीवल्लभाचार्यको समझानेकी चेष्टा करते हुवे) श्रीधरस्वामी

विरचित श्रीभागवतकी व्याख्या भाष्यरूपा है. मध्यदेशमें आजकल अनेक लोग अद्वैती बन गये है. उन्हें भगवान्की महिमा समझानेके लिये ही परमवैष्णव होनेपर भी श्रीधरस्वामीने अपनी वैष्णवताकी लेखनीमें अद्वैतवादीकी स्याही भर ली है. अतः जब और जहां शुद्ध वैष्णव सिद्धान्तोंके अनुसार श्रीधरस्वामी लिखते हों तभी उन्हे अपनाना चाहिये अन्यथा...मूलग्रन्थका स्वारस्य विचार कर भिन्न अर्थ भी निकाला जा सकता है. पर इससे समूची श्रीधरी अप्रामाणिक नहीं मानी जा सकती ! विषयवाक्यं श्रीभागवतवाक्यं भाष्यरूपा तद्व्याख्या तु सम्प्रति मध्यदेशादौ व्याप्तान् अद्वैतवादिनो नूनं भगवन्महिमानम् अवगाहयितुं तद्वादेन कर्तुरितलिपीनां परमवैष्णवानां श्रीधरस्वामिचरणानाम् शुद्धवैष्णवसिद्धान्तानुगता चेत् तर्हि यथावदेव लिख्यते...मूल-ग्रन्थस्वारस्येन चान्यथा च (तत्त्वसन्दर्भ अच्युत ग्रन्थमाला संस्करण पृष्ठ ७३-७४-७५)

श्रीचैतन्य : (सरोष) श्रीधरस्वामी निन्दी निजटीका करे. श्रीधरस्वामी नाहि मान एत गर्व धरः ओरे ! यह तो तुम श्रीधरस्वामीकी निन्दा करते हो ! भागवतके तुम स्वतन्त्र अर्थ निकालना चाहते हो ? श्रीधरस्वामीके अर्थको नहीं मानते ? इतना गर्व हो गया तुम्हे ? श्रीधरकी कृपासे जगत्को भागवतका ज्ञान मिला है. श्रीधरस्वामी जगत्गुरु हैं. उनसे स्वतन्त्र हो कर जब भी तुम भागवतपर कुछ लिखनेकी कोशिश करोगे बिलकुल गड़बड़ा जाओगे. लोकमें कभी भी मान्य नहीं हो पाओगे : श्रीधरे अनुगत जे करे लिखेन सबे लोके मान्य करि करिबे गृहण (वही.अ.७।१३२-३५).

कृष्णदासकविराज : (दयाभिभूत होकर स्वगत) बेचारा अज्ञ जीव ! श्रीधरके

अनुकरणमें रहे अपने हितको अहित मान बैठा! भागवतकी स्वतन्त्र व्याख्या करनेके मोहमें स्वयंका अहित कर रहा था... चलो अच्छा हुआ! श्रीचैतन्यमहाप्रभुने अच्छी भर्त्सना की! अब तो उसका गर्व चूर्ण हो गया. अब उसे खुले नयनसे अपना हित दिखलायी देने लगेगा! अज्ञ जीव निजहित अहित करी माने, गर्व चूर्ण हैले पाछे उघाड़े नयने (वही.अ.७।११९).

श्रीवल्लभाचार्य: (स्वगत) सेई व्याख्या करे जहां जेई पड़े आनि एकवाक्यता नाहि ताते स्वामी नाहि मानि. अर्थ : अरे! जब जो मनमें आता है कहने लग जाते हैं. सुसज्जत बात तो करते नहीं. भला इनकी बात कैसे स्वीकारी जाय? (वही.अ.७।११४).

(श्रीचैतन्यकी ओर अभिमुख होकर प्रकटमें) महाप्रभो! मैंने भी एक टीका भागवतपर लिखी है. क्या सुन्दर बात होती कि यदि आप एक बार उसे सुन लेते! (वही.अ.७।८१).

श्रीचैतन्य: (मुखपर उपेक्षाभाव लाते हुवे) भागवतार्थ बूझिते ना पारि. भागवतार्थ शुनिते आमि नाहि अधिकारि. बसि कृष्णनाम मात्र करिये ग्रहण सङ्ख्या-नाम पूर्ण मोर नहे रात्रिदिन. अर्थ : भागवतका अर्थ मेरी समझमें नहीं आता. भागवतकी टीका सुननेका मेरा अधिकार नहीं है. बैठे-बैठे मात्र कृष्णनाम लेता रहता हूं. दिनरात जपनेपर भी निर्धारित जपसङ्ख्या पूरी नहीं हो पाती. मुझे फुरसत नहीं है (वही.अ.७।८२-८३).

कृष्णदासकविराज: (बलदेवके कानमें धीरेसे) फल्गुप्रायभट्टेर नामादि सब

व्याख्या सर्वइ प्रभु जानि तारे करे उपेक्षा वल्लभभट्टकी कृष्णनाम आदिकी सारी व्याख्यायें बेकार हैं. यह सर्वज्ञ श्रीचैतन्य बिना सुने ही जानते है. अतः उपेक्षा करते है (वही.८८).

बलदेवविद्याभूषण: (श्रीवल्लभाचार्यको समझानेकी चेष्टा करते हुवे) श्रीधरस्वामिनो वैष्णवाएव तट्टीकासु...तथापि क्वचित् मायावादोलेखः...(तत्त्वसन्दर्भ विद्याभूषणी पृष्ठ ७३-७४) अर्थ : वैसे तो श्रीधरस्वामी वैष्णव ही हैं फिरभी उनकी टीकामें कहीं-कहीं मायावादका उल्लेख...

श्रीचैतन्य: (बिचमें ही टोकते हुवे) मायावादी कृष्णे अपराधी (वही.म.१७।१२९) अर्थ : सारेके सारे मायावादी कृष्णके प्रति अपराधी होते है.

राधामोहन: (बलदेवपर नाराज होकर उससे झगड़ने लग जाते है) अरे! समझता नहीं बिलकुल! अद्वैती भी दो तरहके होते हैं. एक भागवत अद्वैती और दूसरे स्मार्त अद्वैती. श्रीधरस्वामी भागवत अद्वैती थे ये स्मार्त अद्वैती नहीं. भागवत अद्वैती होनेपर भी वैकुण्ठनायक भगवान्को महत्त्व देते हैं. अतः श्रीधरस्वामीने श्रीशङ्कराचार्यके भागवतमतके अनुसार भगवान्का रूप और भगवान्की भक्तिका जो रूप है वही माना है. साराका सारा अद्वैतमत मान्य नहीं किया (तत्त्व.सं-राधामोहनी अच्युतग्रन्थमाला संस्करणम् पृष्ठ ७७).

श्रीशङ्कराचार्यजी: (अरे! मेरे अद्वैतवादकी मनगढ़त व्याख्या करने वालों! मेरी बाततो सुनो! जो भी सावयव होता है वह

अनित्य होता है. अतः वैकुण्ठ या वैकुण्ठनायकको नित्य मानना केवल मूढ़ लोगोंको होता मतिभ्रम है. सर्वस्य अनित्यत्वे सावयवत्वेन सर्वतः अनित्ये वैकुण्ठादिषु नित्यत्वमतिभ्रमएव मूढ़बुद्धीनाम् (सर्ववेदान्त सिद्धान्तसार संग्रह २०).

श्रीवल्लभाचार्यः (अतिशय अधीर होकर) सेई व्याख्या करे जाहां जेई पड़े आनि एकवाक्यता नाहि. अरे जो मनमें आता है कह देते है! कुछ भी सुसज्जत बाते यहां नहीं करते. अब भला ऐसी बातें कैसे स्वीकारी जाय!

भक्तिसिद्धान्तसरस्वती: क्यों? श्रीधरस्वामीपादकी टीका स्वीकार करनेमें क्या आपत्ति है? ये तो परमवैष्णव है. क्या हुवा? कहीं थोड़ा-बहुत अद्वैतवाद लिखकर विचित्र कार्य किया भी हो तो? उनके लेखनमें जो अंश शुद्ध वैष्णव सिद्धान्तके अनुकूल लिखा गया है उसे तो यथावत् स्वीकारना चाहिये (तत्त्वसन्दर्भ अनुवाद अनुध्येय-२७).

श्रीधर: अच्छा छोड़ो सारी बातें. यह बताओं कि राजा वेनको नरकमें क्यों फेंका गया था? (चारों ओर दृष्टिपात कर) उसे इसलिये फेंका गया था कि वह भगवान्का तीव्र ध्यान नहीं लगा पाया था. फलतः नरकमें जा कर पड़ा. वह पुरुष था ओर भगवान् भी पुरुष हैं. सो कामभावसे तीव्रध्यानका तो प्रश्न ही नहीं उठता. रही अन्य पांच—भय द्वेष सम्बन्ध स्नेह ओर भक्ति—की बात तो इनमेंसे किसी भी एकभावको अपनाता तो कमसे कम नरकमें तो नहीं गिर...(श्रीधरीभा. ७।१।३१)

श्रीवल्लभाचार्य: (स्वगत) इसमें तो श्रीधरने कोयी मायावादी बात कही नहीं है! अब देखो कि ये लोग कैसे इसे स्वीकारते है?

जीवगोस्वामी: (श्रीधरको बीचमें ही टोकते हुवे) वैसे आप कहते हैं तो मानना पड़ेगा, किन्तु सम्बन्धित श्लोकके पूर्वापर अनुसन्धान करनेपर आपकी बात वास्तविक नहीं लगती. तीव्रध्यानके अङ्गभूत भाव छह नहीं—केवल पांच हैं. सम्बन्धके कारण जो स्नेह पनपता है; (वह) स्नेह और वह सम्बन्ध दोनों एक ही है. ऐसा बोपदेवके अनुसार जानना चाहिये : कामाद् द्वेषादिति पूर्वपद्यानुसारेण पञ्चतयत्वे प्राप्तेऽपि अत्र षट्तयत्वेन व्याख्या स्वाम्यानुरोधेनैव. वस्तुतस्तु सम्बन्धात् यः स्नेह तस्मात् वृष्णयोः यूयं च इत्येकम् इति बोपदेवानुसारेण ज्ञेयम् (दुर्गमसङ्गमनी पूर्वका ६२-६५).

श्रीचैतन्य: श्रीधरस्वामी प्रसादे भागवत जानि, जगद्गुरु श्रीधरस्वामी गुरु करी मानी, श्रीधर उपरे गर्वे जे कछु लिखवे अर्थव्यस्त लिखना सेई लोके ना मानिवे ...श्रीधरानुगत करो व्याख्यान, अभिमान छांड़ी भज कृष्ण भगवान्. (वही.)

कृष्णदासकविराज: (स्वगत) अज्ञ जीव निज हित अहित करि माने, गर्व चूर्ण हैल पाछे उघाड़े नयने! (वही).

श्रीवल्लभाचार्य: (स्वगत) सेई व्याख्या करे जाहां जेइ पड़े आनि एकवाक्यता नाहि ताते स्वामी नाहि मानी : (वही).

कृष्णदासकविराज: इस तरह चैतन्यमहाप्रभुके जितने भी भक्तगण थे सभीको वन्दन करते हुवे (श्रीवल्लभाचार्य) चमत्कृत हो गये (वही.अ.७।६८).

सभी उपस्थित महानुभावोंके समक्ष स्वयंके कान पकड़कर परम्परागत शैलीमें प्रणाम करते हुवे :

चतुःसागरपर्यन्तं गौब्राह्मणेभ्योः शुभं भवतु।

आङ्गीरस-बार्हस्पत्य-भारद्वाजेति त्रिप्रवरान्वित-कृष्णयजुर्वेदान्तर्गत
तैत्तिरीय-शाखाध्यायी श्रीवल्लभाचार्य देवशर्मा अहं भो महानुभावाः
अभिवादये ॥

धन्य है धन्य है!! श्रीचैतन्यकी निगूढ़ लीलाओंको कौन जान सकता है? केवल वेही लोग जान सकते है जिनकी गौरचन्द्रमें दृढ़ श्रद्धाभक्ति होती है! निगूढ़ चैतन्यलीला बूझिते कार शक्ति सेई बूझे गौरचन्द्रे याय जार दृढ़ भक्ति (अ.७।१६९).

राधाश्यामबागची : (चर्चागोष्ठीका अध्यक्षीय भाषण देते हुवे) जो भी हो निज सम्प्रदायके उत्कर्षकेलिये अयुक्तिपूर्ण प्रमाणोके आधारपर किसीको महापुरुष ठहराना बुद्धिमान लेखकोंकेलिये उचित बात नहीं है. यह बुद्धिमान पाठक विवेचन करेंगे. (श्रीमाधवेन्द्रपुरी एवं श्रीवल्लभाचार्य ग्रन्थकी भूमिका पृष्ठ-६).

श्रीवल्लभाचार्य : (सभीसे आग्रह करते हुवे) अध्यक्षमहोदयसे क्षमायाचना करते हुवे मेरा एक सुझाव है कि अलग होनेसे पहले एकबार हम सभी शान्तिपाठ कर ले.

(सभी उपस्थित महानुभाव अनुमोदन करते है इस प्रस्तावका)

सभीमहानुभाव : (समवेत स्वरोमें) : सहनाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै तेजस्विनाम् अधीतस्तु मा विद्विषावहै. ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः तथास्तु.

श्रीधर तथा श्रीचैतन्य के अनुगामी :

इस परिसंवादसे वह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि श्रीधरस्वामीकी अवहेलनाके कारण श्रीमहाप्रभुकेलिये अपशब्द कहे गये हो यह तथ्य नहीं. श्रीधरके बारेमें श्रीमहाप्रभुका अभिप्राय, श्रीचैतन्यको छोड़कर, अन्य सभीको कण्ठतः स्वीकारना ही पड़ा. कभी श्रीधर वैष्णव सिद्धान्त और कभी मायावादी सिद्धान्त के अनुसार लिखते हैं. उनमें एकवाक्यता नहीं है यह कहनेकी, श्रीचैतन्यद्वारा अत्यधिक समादृत होनेके कारण अन्य श्रीचैतन्यके अनुवर्तियोंकी हिम्मत नहीं पड़ती थी, इसीलिये थोथे बचाव खोजते थे कि मायावादका उल्लेख श्रीधर अद्वैतियोंको भागवत महिमा समझानेके हेतु करते हैं सर्वनाशकेलिये नहीं. श्रीधरके अर्थोको जहां वे असङ्गत दिखलाइ पड़ते हैं उन अंशोको छोड़कर या उनका अन्यथा व्याख्यान न करके अपनी स्वतन्त्र टीका न केवल श्रीमहाप्रभुने लिखी पर चैतन्यसम्प्रदायको भी लिखनी पड़ी!

अहर्निश कृष्णनाम - जपके कारण सैद्धान्तिक उत्तरदायित्व कभी श्रीचैतन्यको अनुभूत नहीं हुवा किन्तु परवर्ती विद्वानोंको न केवल स्वतन्त्र अर्थ करना पड़ा अपितु खण्डन भी करना पड़ा है, श्रीधरके अमायावादी व्याख्यानोंका भी. वह हमने परिसंवादमें सुस्पष्टतया देखा. श्रीधरकी लेखनी परमवैष्णवताकी थी परन्तु कई बार उसको मायावादी स्याही भरनेके मोहसे मुक्त नहीं हो पाये थे. अतएव एकवाक्यता न होनेके कारण कुछ अंश उसमें अनुपादेय है. यह न्यायादि शास्त्रोके उद्भट विद्वान तथा परमभक्त शिरोमणि होनेके बावजूद वेदान्तशास्त्रोके गहन अभ्यासके अभावमें श्रीचैतन्यके लक्ष्यमें नहीं आ पाया था अतः वह स्वाभाविकतया श्रीधरको सम्मानित करते रहे होंगे. परवर्ती श्रीचैतन्यके अनुयायी अधीतवेदान्त व्याख्याकारोंकी दृष्टिसे श्रीधरीका मायावाद छिपा हुवा रह नहीं सका. श्रीचैतन्यके द्वारा परन्तु अत्यधिक समादृत श्रीधरस्वामीकी आलोचनाकी वे हिम्मत जुटा नहीं पाये!

श्रीवल्लभाचार्यमहाप्रभु भी श्रीधरको सर्वांशमें अमान्य नहीं करते थे किन्तु “मायावादकर्तुरितलिपी”के अंशमें तथा “क्वचिन्मूल ग्रन्थ स्वारस्येन चान्यथा” अंशमें ही अमान्य करते थे. श्रीमहाप्रभुने श्रीधरको न तो कभी अपना गुरु माना और न स्वामी. उनके एकमात्र स्वामीथे कृष्ण “कृष्ण एव गतिः मम” दो स्वामीकी सम्भावना तो परकीया भाववाली भक्तिमें सम्भव है जो चैतन्य सम्प्रदायमें मान्य थी. श्रीमहाप्रभुने तो सर्वदा स्वकीया भाववाली भक्तिके अनुरूप श्रीकृष्णके अलावा किसीको अपना स्वामी नहीं माना.

जहां तक श्रीधरके विष्णुस्वामी सम्प्रदायानुवर्ती होनेका प्रश्न है तो यह माना जा सकता है कि वे वस्तुतः भी विष्णुस्वामीके सम्प्रदायमें दीक्षित होंगे पर एतावता उनका सर्वांशमें प्रामाण्य नहीं स्वीकारा जा सकता. अन्यथा भागवतके आद्यव्याख्याता होनेका गौरव बहुधा श्रीधरको दिया जाता है किन्तु यह ऐतिहासिक तथ्योंसे विपरीत कथन है. क्योंकि श्रीमध्वाचार्य बोपदेव चित्सुख आदि व्याख्याकार श्रीधरके पूर्ववर्ती हैं फिर श्रीधर जैसे मायावादकर्तुरितलिपी होनेपर भी समादरणीय हैं, वैसे ही मायावादप्रवर्तक श्रीशङ्कराचार्य भी वेदान्तसूत्रोंके तथा श्रीमद्भगवद्गीताके आद्यभाष्यकार हैं फिर “मायावादी भाष्य शुनिल होय सर्वनाश” क्यों? श्रीधर तो केवल एक विद्वान सन्यासी थे ओर सम्भवतः परमवैष्णव किन्तु श्रीशङ्कराचार्य तो वैष्णव सम्प्रदाय प्रवर्तक साक्षात् श्रीमहादेवके अवतारके रूपमें मान्य हैं. फिर भी सर्वनाश क्यों?

इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक पूर्ववर्ती विद्वान या व्याख्याकार को गुरुकोटीमें (उदाहरणीय राधामोहनी षट्सन्दर्भ पृष्ठ ७७-७८) नहीं रखा जा सकता. रही बात श्रीचैतन्यके श्रीधरको जगद्गुरु माननेकी बात तो वहां ‘जगत्’का अर्थ “सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्या”की तरह “श्रीचैतन्यका अनुगामी जगत्” ही अर्थ लेना चाहिये. फिरभी “मायावादी भाष्य शुनिल हय सर्वनाश” और मायावादकर्तुरितलिपिवाले “श्रीधरे

अनुगतकर व्याख्यान” जैसी वदतोव्याघातवाली आज्ञा देकर श्रीचैतन्यने सर्वनाश नहीं तो अर्धनाशकी तो अपने अनुयायियोंको आज्ञा दे रहे थे. इसी बातपर श्रीवल्लभाचार्यमहाप्रभु “एकवाक्यता नाहीं तातें स्वामी नाहि मानि” कहकर श्रीचैतन्यका लक्ष्य खींचना चाहते थे.

जीवगोस्वामीका यह समाधान थोथा है कि मध्यदेशमें लोगोंको अद्वैतवादसे विमुख कर भागवतधर्मकी ओर अभिमुख करनेकेलिये श्रीधर मायावादकर्तुरितलिपि लिखने प्रवृत्त हुवे थे. क्योंकि ऐसी स्थितिमें श्रीशङ्कराचार्यकेलिये भी कहा जा सकता है वे भारतवर्षमें व्याप्त बौद्धोंको बुद्धके मतसे विमुख कर वैदिकमतकी ओर अभिमुख करनेकेलिये बौद्धोंके विज्ञानवादके अनुकरणपर मायावाद और शून्यवाद के अनुकरणपर निर्विशेषतावादको प्रवर्तित किया. फिर शङ्कराचार्य जगद्गुरु क्यों नहीं और “शङ्करे अनुगतकर व्याख्यान”का आदेश क्यों नहीं?

“श्रीधर प्रसादे भागवतार्थ जानि” तो वह श्रीचैतन्यका निजी प्रश्न था. अन्यथा वीरराघव और विजयध्वज भी श्रीधरकी समालोचना तो कर ही रहे थे. विजयध्वज तो श्रीचैतन्यसे पूर्ववर्ती होनेके कारण तथा श्रीचैतन्यके माध्वपरम्परा दीक्षित होने कारण भी अधिक मान्य होने चाहिये थे. फलतः विजयध्वजकृत श्रीधरी खंडनके कारण श्रीधरीको दोषपूर्वक मानना चाहिये था. किन्तु इस असङ्गत द्रष्टिकोणका दुष्प्रभाव जीवगोस्वामीपर ऐसा पड़ा कि जगद्गुरु श्रीधरके मान्य भागवतपाठोंकी तुलना यत्रतत्र मायावादी चित्सुख मुनिके पाठसे निरन्तर करते रहते हैं! क्योंकि दोनोंमें ही जब मायावाद है तो फिर उन्हें चित्सुख भी श्रीधरके समान ही प्रतीत होते हैं. ऐसी स्थितिमें जब चित्सुखसे कार्य कलह नहीं. श्रीधरकी आलोचना करनेवाले वीरराघव तथा श्रीविजयध्वजको “प्रचुरप्रचारितवैष्णवमतविशेषाणां दक्षिणादिदेशविख्यातशिष्योपशिष्यीभूतविजयध्वजव्यासतीर्थादिदेवदेवार्थविद्वतराणाम्”(तत्त्वसन्दर्भ)को सम्मान दिया जाता है तब तो बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है कि श्रीधरको एक

बहाना बनाकर किसी तरह श्रीवल्लभाचार्यमहाप्रभुको गाली देना ही उद्देश्य है। इस कृष्णभक्तिकी धाराके साथ एक वल्लभद्वेषकी अन्तर्धारा बहति दिखलाई देती है। श्रीवल्लभाचार्य द्वारा श्रीधरीके अस्वीकार तिलका ताड़ बनाया गया है आत्मविसङ्गतिके मूल्यपर. “एकवाक्यता नाहि तातें...”

चैतन्य सम्प्रदायकी वृन्दावनशाखा और बङ्गशाखा :

दरअसल श्रीमहाप्रभुके प्रति यह सारा विषयमन चैतन्यसम्प्रदायकी व्रजशाखामें ही मिलता है वंगशाखामें नहीं. अतएव बंगालस्थित श्रीचैतन्यचरित्र लेखक उदाहरणतया श्रीचैतन्यभागवतकार वृन्दावनदास चैतन्यचरितामृतकार कविकर्णपूर चैतन्यमङ्गलकार जयानन्द तो ऐसे कलह या विद्वेषसूचक किसी वृत्तकी सूचना देते नहीं है.

बादमें सारे ऐतिहासिक तथ्य तथा स्वसिद्धान्त को ताकपर रखकर कृष्णदास कविराजने यह कृष्णभक्तिकी प्रकट उज्ज्वल धाराके साथ श्रीवल्लभद्वेषकी एक प्रच्छन्न तथा मलिन अन्तर्धारा और बहा दी. कृष्णदासवर्णित श्रीवल्लभाचार्यमहाप्रभु तथा श्रीचैतन्य के व्यक्तित्वका अध्ययन करनेपर पाठकके मनपर कृष्णदासको अभिप्रेत चित्रणसे सर्वथा विपरीत प्रभाव ही पड़ता है. “तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः” आदर्शके श्रीवल्लभाचार्यमहाप्रभु साक्षात् मूर्तिमान दिखलाई देते हैं. जबकि श्रीचैतन्यमहाप्रभुमें अहंकार (दृ.म.१९।८३) मात्सर्य (दृ.अ.७।१४४-१६३) छल (दृ.अ.७।१५) मिथ्याभाषण (दृ.अ.७।८४) जैसे दुर्युगोंके वर्णनमें कृष्णदास सङ्कोच नहीं करता. अपने आराध्यको ऊपर उठानेके प्रयासमें इतना नीचे गिरा दिया है कि श्रीचैतन्यमहाप्रभु जैसे भक्तशिरोमणिका कृष्णदास वर्णितरूप कभी किसी भी वाल्लभ वैष्णवको मान्य ही नहीं होता!

कृष्णदास अड़ेलके प्रसङ्गमे कहता है “देखि वल्लभभट्ट मने

चमत्कार हैल दूई पुत्र आनि प्रभूर चरणे पाड़िल” (म.१९।१०८) वस्तुतः यहां झूटकी मालाका सुमेर आ गया है. यह चैतन्य चरितामृतके व्याख्याकार श्रीवार्षभानविदयितदासको भी स्वीकारना पड़ा है. वे कहते हैं दूई पुत्र गोपीनाथ ओ विट्ठलेश्वर श्रीमहाप्रभु १४३४ वा १५३५ शकाब्दाय प्रयाग उपनीत हन. तत्काल विट्ठलेश्वर जन्म हय नाई (वहीं.पृ.७०६).

श्रीकृष्णचैतन्यचरितामृतके सम्पादक श्रीप्राणकिशोर गोस्वामी अपने सम्पादकीय निवेदनमें अतएव एक महत्वपूर्ण तुलना बङ्गशाखा एवं व्रजशाखा की देते हुवे कहते हैं “वास्तविक पन्थी कर्णपूर ओ भावपन्थी कृष्णदासेर चैतन्यलीलावर्णना विन्यासे किछु - किछु असामन्जस्य...विशेष करे देखबार विषय मुरारि कर्णपूर ओ वृन्दावनदास बान्गलाय बसेई ग्रन्थरचना करे छेन आर कृष्णदासश्रीधाम वृन्दावने विदग्ध वैष्णवमण्डली परिवेष्टने अवस्थान करवार सूर्योग पेय छेन.”(वहीं)

यहीं विदग्ध तथा विशेषतया द्वेषदग्ध वैष्णवमण्डली है जिसने ऐसे कटुपूर्ण दृष्टिकोण अपनानेको कृष्णदासको प्रेरित किया.

श्रीरूपगोस्वामी और वाल्लभसम्प्रदाय :

एक बातका स्पष्टीकरण देना हम यहां आवश्यक समझते हैं कि इस विदग्धमण्डलीमें सम्मिलित होनेपर भी श्रीरूपगोस्वामीका सम्बन्ध श्रीवल्लभाचार्यमहाप्रभु श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरण तथा उनके सातों आत्मजोंके साथ सर्वदा ही सुमधुर रहा. अतएव जब भक्तिरसामृतसिन्धुमें भक्तिके रागानुगा प्रकारको श्रीरूपगोस्वामी पुष्टिमार्ग कह रहे थे : “कृष्ण तद् भक्तकारुण्यमात्रलाभैकहेतुका पुष्टिमार्गतया कैश्चिदियं रागानुगोच्यते” (पूर्वविभाग २।८९-९०) जो स्पष्टतः श्रीवल्लभाचार्य महाप्रभुके मतका गलत निरूपण हैं. क्योंकि पुष्टिमार्गके अन्तर्गत रागात्मिका और रागानुगा दोनो प्रकारकी भक्तियोंका समावेश प्रमेयबल और प्रमाणबल से जन्य

भक्तिके रूपमें स्वीकारा गया है. इसके अलावा रागानुगा अथवा प्रमाणबलजन्य भक्तिके प्रकारमें भी परस्पर इतना अन्तर श्रीमहाप्रभुके अनुसार है कि ब्रजभक्तोंके अनुरागका अनुगमन करनेवाली प्रमाणबलजन्य भक्तिमें महात्म्यज्ञान श्रीमहाप्रभु आवश्यक मानते हैं जबकि श्रीरूपगोस्वामी नहीं. ऐसी स्थितिमें रागानुगा भक्तिकों पुष्टिमार्ग नहीं कहा जा सकता. जब श्रीमहाप्रभुने यह अशुद्धि सुधारनेका प्रस्ताव रखा तब सहर्ष श्रीरूपगोस्वामीने पुस्तक श्रीमहाप्रभुकों सौंप दी. किन्तु जीवगोस्वामीने इसे (तत्त्वसन्दर्भपर उद्धृत भक्तिविलास तीर्थ लिखित टिप्पणीमें) बुरा मानकर जब श्रीमहाप्रभुसे विवाद किया तब (द्र.तरंग ५।१६२७-२१७३) तब भक्तिरत्नाकरके अनुसार श्रीरूपगोस्वामी जीवपर रुष्ट हो कर उसे घरसे बहार निकाल दिया था. यह कहते हुवे कि “मोर हित लागि ग्रन्थ शुधिर् कहिला अति अल्पवाक्य सहिते न वारिला, ताहे पूर्वदेशे शीघ्र करहो गमन, मनःस्थिर हैले आसिव वृन्दावन.” उसी छोटेसे मित्रजनोचित सुझावके कारण काका-भतिजेमें इतना कटुप्रसङ्ग बन जानेके कारण बादमें श्रीमहाप्रभुने मौन धर लिया होगा. अतः आजतक इस भक्तिरस विषयक ग्रन्थराज में वह अशुद्धि ज्यों की त्यों बनी रह गई. पर यह इसका द्योतक है कि श्रीरूप श्रीमहाप्रभुकों कितने अधिक सम्मानकी दृष्टिसे देखते थे. स्वयं यह ग्रन्थ भी श्रीरूपने बादमें वृन्दावनके बजाय गोकुलमें रहकर ही पूर्ण किया. यह “रामाङ्गशक्र १४६३गणितेशाके गोकुलम् अधिष्ठतेनायं भक्तिरसामृतसिन्धुविटङ्कितः क्षुद्ररूपेण” न केवल इतना अपितु ८४ एवं २५२ वैष्णवों की वार्तामें उदाहरणतया सगुणदासजीकी भी वार्तामें श्रीरूपके गोकुलागमनकी सूचना उपलब्ध होती है. सतधरामें भी जब जतिपुरासे श्रीनाथजीको पधराया गया तब श्रीरूपके आगमनका उल्लेख दोनों परम्परामें उपलब्ध होता है.

यद्यपि भक्तिरत्नाकरमें उल्लिखित घटनाकी प्रामाणिकता पर एक बहोत बड़ा प्रश्नचिन्ह श्रीराधाश्यामबागचीके अधोलिखित विधानके कारण लग जाता है. वे कहते हैं ‘श्रीजीवगोस्वामीका जन्म वि.सं.१५६८में

है और वि.सं.१५९१में उनका वृन्दावन आगमन है. उस समय श्रीवल्लभाचार्य इस पृथ्वीपर वर्तमान नहीं थे. (श्रीमाधवेन्द्रपुरी एवं वल्लभाचार्य की भूमिका पृष्ठ ख)बागचीद्वारा प्रथम वर्ष ठीक है तो भक्तिरत्नाकरमें वर्णित श्रीमहाप्रभु एवं जीव के विवादका वृत्त अप्रामाणिक ठहरता है अन्यथा जीवके जन्मवर्ष एवं ब्रजागमनवर्ष में कहीं कुछ अन्तर पड़ गया है. एकवाक्यता न होनेसे इस विषयमें भी निश्चित अभिप्राय देनेमें हम असमर्थ हैं.

उपसंहार :

अस्तु, इस तरह हमने देखा श्रीमहाप्रभु कुलपरम्परागत क्रमसे श्रीविष्णुस्वामी सम्प्रदायके अनुगामी थे. तदनुसार साकारब्रह्मवादी दर्शन तथा तन्त्रोक्त भजन एवं गोपालमन्त्रदीक्षा के उपदेश आचार्यत्वके निर्वाहक थे. जो शास्त्रीय सिद्धान्तोंका आचयन कर स्वयंके आचरणमें उन्हे स्थापित करके दिखावे तथा अन्योको भी उन सिद्धान्तोंके अनुसार जीवन जीनेकेलिये प्रेरित तथा प्रवर्तित करे उसे ‘आचार्य’ कहते हैं.

जहां तक स्वतन्त्र पुष्टिमार्ग जो षोडशग्रन्थका मुख्य वर्ण्यविषय है. उसका प्रश्न है तो वह भी श्रीमहाप्रभुके सभी ग्रन्थोंमें प्रारम्भसे ही एक सैद्धान्तिक स्थितिके रूपमें वर्णित था ही. तदनुसारी मार्गका प्रवर्तन किन्तु गोकुलमें श्रावण शुक्ल एकादशीकी मध्यरात्रीको प्राप्त भगवदाज्ञाके बाद ही किया होगा यह स्वाभाविक है. मतपरिवर्तन या श्रीमहाप्रभुके आत्मज या पौत्र द्वारा गद्यमन्त्र आदिग्रन्थ या स्वतन्त्र पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तोंके प्रवर्तनकी बात वही कर सकता है जिसने श्रीमहाप्रभु श्रीप्रभुचरण या श्रीगोकुनाथजी के सभी ग्रन्थों या एकादशग्रन्थोंके पन्ने पलटना नहीं चाहता! हमने यह भी देखा कि स्वयं श्रीमहाप्रभुने अधिकारी भेदको लक्ष्यमें रखकर विविध ग्रन्थोंका प्रणयन भिन्न - भिन्न मतोंके आधारपर किया है. यह बात भी जांचनेपर ठीक नहीं लगती.

तथ्य केवल इतना है कि जैसे अपने प्रिय सखा अर्जुनकेलिये भगवान्कृष्णने उसके अधिकार तथा प्रसङ्ग के अनुरूप सकल उपनिषदोंके सिद्धान्तोंका दोहन अथवा सङ्कलनकर एक 'स्मृति' उपदेश दिया था. पर भगवान्के निःश्वासभूत श्रुतिवचनोंकी अपेक्षा या स्वमुखारविन्दसे उच्चारित वाणी होनेके कारण भगवद्गीता उपनिषदोंकी भी उपनिषदके रूपमें मान्य हुयी. इसी तरह श्रीमहाप्रभुने भी अपने प्रिय शिष्योंकेलिये प्रमाणचतुष्टयीके निष्कर्षके रूपमें षोडशग्रन्थका एक स्मृतिके रूपमें सङ्कलन किया. परन्तु वह उनके अनुगामिओंकेलिये साक्षात् श्रीमदवल्लभगीताके रूपमें समादृत है. अन्य सभी ग्रन्थोंकी तुलनामें षोडशग्रन्थोंमें नतो कोई भिन्न मत है और न भिन्न भाषा. फिर भी कुछ बदला हुआ यहां जो प्रतीत होता है और वह है काकुका भेद. वही श्रीमहाप्रभुके भक्तोंकेलिये षोडशग्रन्थको निर्गुण माननेको प्रेरित करता है. जब भावनावश इस ग्रन्थका कुछ वैशिष्ट्य प्रतीत होता ही है फिर उपपत्तियां खोजनी पड़ती है. तात्पर्य उन हेतूपपत्तियोंमें नहीं है तात्पर्य है उस काकुभेदद्वारा भक्तहृदयैकगम्यभावनोत्कर्षमें!

रश्मिकारद्वारा षोडशग्रन्थको निर्गुण कहनेका गूढ़ रहस्य यही है, भाष्यादि ग्रन्थोंको आधिभौतिक सिद्ध करनेसे कोयी लाभ नहीं. यही कारण है कि श्रीमहाप्रभुके अन्य किसी ग्रन्थकी तुलनामें षोडशग्रन्थोंपर सर्वाधिक व्याख्या साहित्य उपलब्ध होता है.



॥ श्रीहरिः ॥

॥ २१. पूर्वमीमांसाधुकोश-प्रस्तावना ॥

[वासुदेवात्मके चित्ते ह्यकाराद्यक्षरक्रमात् ।

ज्ञातृज्ञानज्ञेयरूपं ह्येकं चानेकमेव तत् ॥]

निर्विकल्पकप्रत्यक्षप्रामाण्यवाद अनुभूतिके शब्दविद्ध होनेपर उसे अप्रमाण मान कर चलता है. क्योंकि ऐसी अनुभूतिके याथार्थ्यका नियामक कोई उपपन्न नहीं होता. विकल्परहित अनुभूतिका, परन्तु, याथार्थ्य स्वयंप्रकाशरूपा होनेके कारण अनुभूतिके स्वयंप्रकाशनमें स्वतोगृहीत हो जाता माननेपर तो वह उसकी निर्विकल्पकताका अपहारक सिद्ध होगा, प्रामाण्यरूप विकल्पके अवगाहनवश. और उसे अगृहीत नियामक माननेपर, वस्तुसंवेदनामें विकल्पतया विकल्पोंके अगृहीत होनेपर भी, वस्तुगर्भिततया समकालिक संवेदनवेद्य विकल्पोंको क्यों नहीं सोचा जा सकता? पश्चाद्भावी अनुमिति आदिसे निर्धारित होता माननेपर तो स्वयं अनुभूतिकी स्वयंप्रकाशरूपता भी अनियत सिद्ध होगी. कहा जा सकता है कि तेजोरश्मि स्वयंप्रकाशरूपा होनेपर भी नयनगोचर भी तो होती हैं, एतावता उनकी स्वयंप्रकाशरूपता निरस्त तो नहीं हो जाती. ऐसा मान लेनेको, परन्तु, उद्यत हो जानेपर तो प्रत्यक्षानुभूतिका प्रामाण्य भी विकल्पबोधक शब्दोंसे विद्ध हो जानेपर भी क्यों अक्षुण्ण नहीं रह पाता?

यह कथा, वाक्योंको केवल पदसंघातरूप प्रतीत्यसमुत्पाद और पदोंको भी केवल वर्णसंघातरूप प्रतीत्यसमुत्पाद मान कर, केवल वर्णोंको ही शुद्ध निर्विकल्पक अनुभूतिके गोचर होनेके कारण वस्तुभूत सिद्ध करनेकी विचाररीतिपर भी लागू होगा. अतः पदान्तःश्लिष्ट वर्णों और वाक्यान्तःश्लिष्ट पदों के स्वरूपभेदको भी केवल मानसिक विकल्परूप सिद्ध कर देगा. ऐसी स्थितिमें बुद्धि इन विकल्पोंका अवगाहन वर्णान्तर्गर्भित तथ्यके रूपमें करेगी या वर्णस्वरूपबाह्य मिथ्याभासके रूपमें? स्पष्ट

है कि निर्विकल्पकानुभूतिका प्रामाण्य स्वतोगृहीत होता है या परतोगृहीत होता है इस समस्याका जो कुछ समाधान खोजा जाये उससे अतिरिक्त समाधान यहां भी अपेक्षित नहीं रह जाता.

अतएव वर्णसंवेदनाकी तरह पदसंवेदना और वाक्यसंवेदना भी चेतनाकी आत्मसंवेदनाकी तरह ही प्रामाणिक क्यों नहीं हो सकती?

न केवल इतना अपितु समकालिक होनेकी कथा भी समान क्षण, समान दिवस, समान मास, समान वर्ष या समान युग आदि की तरह सापेक्षकथा ही है. अतः कोई कारण दिखलायी नहीं देता कि एक अपेक्षासे असमकालिक होनेपर भी दूसरी अपेक्षासे कोई दो पदार्थ समकालिक हो न पाते हों. अन्यथा क्षणार्धके प्रभेदवश भी किन्हीं दो वस्तु या वस्तुनिष्ठ गुणधर्मक्रियाओंको असमकालिक मानना गलेपित हो सकता है. ऐसी स्थितिमें तो वस्तु और उसकी विद्यमानताकी निष्करूपा अर्थक्रियाकारिता के बीच भी क्षणार्धका भी प्रभेद दोनोंकी असमकालिकताका प्रमाण बन जायेगा. अर्थात् वस्तुकी विद्यमानताके कालमें अर्थक्रियाका अभाव और अर्थक्रियाके प्राकट्यकालमें स्वयं वस्तुके विद्यमान न होनेपर भी वस्तुकी सत्ताको अर्थक्रियाकारिताके रूपमें सोचना या घोषित करना उपपन्न मानना पड़ेगा!

एक बार चेतनाकी आत्मसंवेदनाकी तरह, पदसंवेदना और वाक्यसंवेदना को प्रामाणिक मान लेनेपर, पदार्थबोध और वाक्यार्थबोध अप्रामाणिक अर्थात् मिथ्या मानसिक विकल्पोंके ही विषय होते हैं ऐसा स्वीकारनेका कोई औचित्य रह नहीं जाता. क्योंकि वस्तुके विकल्पप्रत्यय मिथ्या या सर्वथा मनःकल्पित न हो कर मनःसंकल्पित वास्तविक भी क्यों नहीं हो सकते? पाषाणखण्डमें उत्कीर्ण आकृतिको मनःकल्पित मिथ्याभास नहीं माना जा सकता, मनःसंकल्पित पाषाणखण्डके वास्तविक रूपान्तरणके कारण ही. इसी तरह वस्तुकी मौलिक तथ्यता और मनःसंकल्पित अर्थता

के बीच रहे ठोस प्रभेदको भी सहसा अमान्य नहीं ठहराना चाहिये। नामबोधमें प्रकट होते वस्तुके रूप गुण या धर्म आदिके बोध बाह्य वस्तुद्वारा आभ्यन्तर नामात्मक शब्दतया संवेदनामें जैसे आहित होते हैं, वैसे ही बाह्य वस्तुको मनःसंकल्पित रूप गुण या धर्मों से जोड़ना भी वस्तुकी तथ्यताकी अर्थरूपतामें परिनिष्पत्ति है, चाहे मौलिक तथ्यता वह हो या न हो। अन्यथा तो 'निर्विकल्पकानुभवका याथार्थ्य' ऐसी पदावली भी निरर्थक सिद्ध हो जायेगी, 'अर्थ'पदकी निरर्थकताकी आपत्तिके कारण! वस्तुका चेतनासंकल्पित स्वरूप ही 'अर्थ'पदद्वारा अभिहित होता है; असंकल्पित स्वरूप नहीं। अतएव 'याथार्थ्य' और 'याथातथ्य' के बीच एक मानसिक संकल्पितार्थ होता है और दूसरा वास्तविक मौलिक तथ्य। इन दोनोंके परस्पर संवादकी वास्तविकताको झुठलाया नहीं जा सकता है।

शब्दसंस्पर्शसे अदूषित ऐसी विकल्परहित वस्तुका अवगाहन करनेवाली चेतना सर्वथा-सर्वदा असंकल्पित या वस्तुतन्त्र ही होती है, यह धारणा भी उपपन्न नहीं होती। क्योंकि मानुषी भाषा या शब्दोंपर अवलम्बित होनेवाले बोध या व्यवहार प्रकट न करनेवाले प्राणी पशुपक्षिकीटसरीसृप आदिके भी दर्शन-आग्राण आदि सचेतनक्रियाकलाप इच्छातन्त्र तो देखे जाते ही हैं, केवल वस्तुतन्त्र नहीं। अतः उन्हें सम्मुग्धाकारक प्रत्यक्षानुभव मानना तो स्वयं मानवबुद्धिकी ही आत्मकेन्द्रित विडम्बना लगती है, अविश्ववादिप्रवृत्तिजनिका अनुभूतिके सर्वगोचर होनेके कारण ही। अन्यथा जैसे मृगोंको मरुभूमिकी मरीचिकामें जलानुभूतिकी भ्रमणा सताती है ऐसे ही विचारकोंको भी शब्दोत्थ विकल्पावभासनकी मृगतृष्णा सताती है, ऐसा स्वीकारना पड़ेगा!

एतावता सिद्ध होता है कि विकल्परहित प्रत्यक्षानुभवके ऐकान्तिकतया वस्तुतन्त्र होनेकी धारणाकी तरह, सचेतन क्रियाकलापोंके ऐकान्तिकतया इच्छातन्त्र या मनःसंकल्पित होनेकी धारणा भी मानवबुद्धिकी आत्मकेन्द्रित

विडम्बना ही है। चेतनामें निहित स्वपरसंवेदनाके सामर्थ्यकी तरह स्वपरविषयक क्रियासामर्थ्य भी अंशतः इच्छातन्त्र और अंशतः वस्तुतन्त्र होता है।

अतएव बोधार्थता या शब्दार्थता से असंहित वास्तविकता अग्राह्य अबोध्य या अप्रमेय ही होती है। इसी तरह ग्राह्य बोध्य या प्रमेय रूपा वास्तविकता यदि मनोबुद्धिसंकल्पित हो सकती हो तो उसे ही विकल्पतया अवभासित होती स्वीकार लेनी चाहिये। इसे निर्विकल्पकानुभूतिका प्रत्याख्यान नहीं मानना चाहिये प्रत्युत निर्विकल्पकानुभूतिमें मनोबुद्धिगत विकल्पोंके वस्तुस्वरूपान्तःपाती होनेके या तदन्तर्गर्भित होनेके प्रतिपादनतया अवधारित करना चाहिये। इसी तरह सविकल्पकानुभूतिमें भी तदघटक विकल्पोंके वस्तुस्वरूपान्तःपाती होने या तदन्तर्गर्भित होने की विवक्षाके वश किया गया प्रतिपादनतया निहारना चाहिये। दोनों ही बीजाङ्कुरन्यायसे अन्योन्यगर्भितताके चक्रमें आविर्भूत और तिरोभूत होते रहते होनेके कारण एक ही ज्ञानकी दो अवस्थारूप होते हैं।

अतएव ज्ञान-ज्ञेय क्रिया-बोध परोक्षापरोक्ष मूर्तामूर्त द्रव्य-गुणकर्म जाति-व्यक्ति सामान्य-विशेष सनातनता-उत्पत्तिनाश स्थूल-सूक्ष्म आदि अनेक द्वन्द्वोंको अन्योन्यगर्भिततया मान्य रखना उचित लगता है। पुरुषसन्तती हो या स्त्रीसन्तती दोनों ही मातापिताके रेतोडिम्भमें यदि अन्तर्गर्भित न हों तो पुरुषसन्तती केवल पितासे ही और स्त्रीसन्तती केवल माता से जन्म लेती होनी चाहिये थीं। वस्तुतः आधुनिक जीवविज्ञानके अनुसार तो माताके स्थूल डिम्भकोशमें पिताका रेतःकण अन्तर्गर्भित होते ही उस रेतःकणके सूक्ष्म अन्तरावकाशमें माताके डिम्भके रंगसूत्र गुंथ जानेको अन्तर्गर्भित होने लगते हैं। निष्कर्षतया पुरुषशरीरके घटक जीवकणोंमें स्त्रीशरीरके घटक जीवकण और स्त्रीशरीरके घटक जीवकणोंमें पुरुषशरीरके घटक जीवकण अविद्यमान रह नहीं सकते।

अतएव नृसिंहोपनिषद् तथा भगवद्गीता में “सर्वं सर्वमयं सर्वं

जीवाः सर्वमयाः” — “सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः” (१।४ — ११-४०)
विधान जो उपलब्ध होते हैं, उन्हें गम्भीरतया लेना आवश्यक लगता है। अतएव निरुक्तकार “अपिच सत्त्वानां प्रकृतिभूमिभिः ऋषयः स्तुवन्ति इति आहुः प्रकृतिसार्वनाम्न्यात् च इतरेतरजन्मानो भवन्ति इतरेतरप्रकृतयः” (निरु.७।१।४) इसकी उपपत्ति भी प्रस्तुत करते हैं।

विभु-अणुके प्रभेदको न्यायशास्त्र इतरेतरसमवेततया मान्य नहीं करना चाहता, मानों एक द्रव्यमें अपर द्रव्य समवेत हो ही न सकता हो, चाहे संयोगेन आश्रित हो सकता हो तो भी! पर परमाणुओंके निरवयव होनेकी धारणाके वश उनके भीतर सकलमूर्त-द्रव्य-संयोगी विभु विद्यमान हो या न हो परन्तु द्व्यणुकादिसे प्रारम्भ कर महत् परिमाण पर्यन्त सभी सावयव द्रव्योंके न केवल बाह्यभागमें अपितु भीतरी भागोंमें भी विभुद्रव्योंकी विद्यमानता अपरिहार्य लगती है, आभ्यन्तर अवयवाकाशमें अन्यथा अविद्यमान होनेपर तो विभुत्व ही निरस्त हो जायेगा। ऐसी स्थितिमें प्रत्येक मूर्तद्रव्यके बाह्यवाकाशमें जैसे विभुद्रव्य रहता है, अतः सभी मूर्तद्रव्य विभुद्रव्योंके भीतर विद्यमान रहते हैं। इसी तरह विभुद्रव्य भी सकल मूर्तद्रव्योंके भीतर भी विद्यमान होनेसे तदाश्रित भी होता ही है, जैसे व्यक्तिमें सामान्य समवायेन आश्रित रहता है। यों सभी अन्योन्याश्रित हों और इनका अन्योन्यवियोजन भी शक्य न हो, नित्यसंयोगके कारण, तो द्रव्यसमवेत गुणकर्मसामान्यकी तरह ही सभी द्रव्य अन्योन्याश्रित सिद्ध हो जाते हैं। यों अन्योन्यसमवेत गुणकर्मसामान्य भी अन्योन्याश्रित ही सिद्ध होंगे, साक्षात् नहीं तो परम्परया भी। अतएव “सर्वं सर्वमयम्” वचनमें प्रयुक्त ‘मयद्’ प्रत्ययार्थ भी सर्वको सर्वप्रचुर अथवा सर्वको सर्वतः आगत न हो कर वस्तुमात्रके आभ्यन्तरावकाशमें तदितर सर्ववस्तुओंके कारणात्मना सूक्ष्म अवस्थानके रूपमें मान्य रखना आवश्यक लगता है।

अतएव सृष्टिविधारक परब्रह्म और वाग्ब्रह्म को वेदमें इतरेतरोपमानतया

प्रतिपादित किया गया है :

१. “सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् स भूमिं विश्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठद् दशांगुलम्. पुरुषएव इदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम्. उत अमृतत्वस्य ईशानो यद् अन्नेन अतिरोहति. एतावान् अस्य महिमा. अतो ज्यायांश्च पुरुषः. पादो अस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्य अमृतं दिवि. त्रिपाद् ऊर्ध्वम् उदैत् पुरुषः. पादो अस्य इह अभवत् पुनः. ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि” (ऋक्संहि.१०।८१।९०).

२. “गोरीः मिमाय सलिलानि तक्षति एकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन्... चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुः ब्राह्मणाः ये मनीषिणः गुहा त्रीणि निहिता नैगयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्याः वदन्ति”, “यद् वाग् वदति अविचेतनानि राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा चतस्र ऊर्जं दुदुहे पयांसि क्व स्विद् अस्याः परमं जगाम, देवीं वाचम् अजनयन्त देवाः तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति” (ऋक्संहि.१।१६।४।४१-४५, ८।१००।१०-११).

अतएव वैदिक चिन्तनमें शब्दप्रमाका असाधारण महत्त्व परिलक्षित होता है। अतएव वर्ण पद वाक्य प्रमाण की चतुष्टयीका जैसा सुविशद चिन्तन वैदिक चिन्तनमें उपलब्ध होता है वह अन्यत्र नहीं। वर्णशास्त्र प्रातिशाख्य था और पदशास्त्र व्याकरण है। वाक्यशास्त्र पूर्वोत्तर-मीमांसा और प्रमाणशास्त्र न्याय-वैशेषिक। इन सभी शास्त्रोंके वर्ण-पद-वाक्य-प्रमाणके बारेमें मतैक्य हो ऐसा नहीं। सभीकी शब्दके इन चारों प्रकारोंके बारेमें अपनी-अपनी अवधारणायें और परिभाषायें हैं। यही तो हमारी प्राचीन

वैचारिक समृद्धिका प्रमाण है.

वर्णैः पदानि च तथैव पदैश्च वाक्यं ।
वाक्यैः प्रमाणवचनानि समुल्लसन्ति ॥
तत्त्वावमर्षणविवेचनदाक्ष्यमेतैः ।
बुद्धावशेषनिकषत्वसमुद्भवोऽतः ॥
तत्त्वज्ञता जगति सिद्ध्यति बुद्धितश्चेद् ।
बुद्धिश्च वर्णपदवाक्यविधैः प्रमाणैः ॥
तेषाञ्च बोधवचने यदि शास्त्रतश्चेत् ॥
शास्त्रोपदेशकुशलानिह संनमामि ॥



॥ श्रीहरिः ॥

॥ २२. सत्यसंधान ॥

वैचारिकी (वर्ष २०११, मास सितम्बर-अक्तूबर, भाग २७ के अंक ५) में संमाननीय 'सत्यसंधानी' श्रीमान् उपेन्द्रनाथरायजी ने मेरे प्रतिस्वर में प्रकाशित पत्र पर व्यक्तिशः मुझे भेजे गये पोस्टकार्ड के अलावा भी जो अपनी प्रतिक्रिया प्रकाशित की उसका साभार स्वागत करता हूं. संमान्य लेखक को मेरे द्वारा प्रयुक्त 'जेहाद' शब्द अधिक कड़ुवा लगा एतदर्थ क्षमाप्रार्थी भी हूं. वैसे जेहाद कोई इतनी बुरी बात तो नहीं और न मैंने 'बंगाली(=बंगाली)' के अभिप्रायवश इस पद का प्रयोग करना चाहा.

आस्तिक या नास्तिक प्रत्येक समुदाय की कुछ न कुछ तो धर्मोपमा आस्था होती ही है; और, उनके लिए तत्तत् समुदाय या व्यक्ति कुछ न कुछ तो जद्दोजहद भी करते ही रहते हैं. ऐसी जद्दोजहद को 'जेहाद' कहा जाता है. यह न केवल मानवमात्र की स्वभावगत विवशता है प्रत्युत अन्ततः मानव के वैचारिक विकास की सूत्ररेखागत आवश्यकता भी है ही.

श्रीमान् सत्यसंधानीजी कहते हैं : "यह कथन सत्य से सर्वथा परे है कि मैंने वैचारिकी में 'वार्ता' के विरुद्ध जेहाद छेड़ रखी है". मुझे व्यक्तिगत भेजे अपने पत्र (दि.३१-१०-०८) में स्वयं लेखक ने मुझे यह सूचित किया था कि कैसे 'सम्मेलन-पत्रिका', 'विश्वम्भरा' 'वैचारिकी' आदि अनेक सामयिकों में वार्ता-साहित्य की अप्रामाणिकता पर कितने सारे लेख लिखे हैं; और उन्हें पढ़ कर सवाल करना मेरे लिये उचित होगा. अतएव सहज ही मेरी ऐसी धारणा बनी कि वार्ता-साहित्य को असत्य सिद्ध करने की किसी परियोजना(प्रोजेक्ट) बना कर श्रीमान् सत्यसंधानीजी इस तरह के लेखन में प्रवृत्त हुवे हैं. इस तरह के अन्य भी साहित्यों में प्रकटे असत्य

की उपेक्षा कर वार्तासाहित्य के असत्य को ही अपने सत्यानुसंधान में उजागर करने को घड़ी गयी किसी परियोजना के ये लेख होंगे. सो मैंने इसे वार्ता-साहित्य के विरुद्ध जेहाद मान लिया. वह गलत हो तो अपनी इस भ्रान्ति की भी क्षमा मांगना चाहूंगा!

भारतवर्षीय ब्राह्मण और श्रामण उभयविध वाङ्मय में पुराण इतिहास और काव्य यों तीनों विधाओं में धर्म-सम्प्रदायों के इतिवृत्त उपलब्ध होते हैं. 'राजतरंगिणी' सदृश कुछ विशुद्ध इतिहासलेखन के अपवादों को छोड़ कर प्रायः सभी धार्मिक सम्प्रदायों के इतिवृत्त या तो पौराणिक या फिर काव्यात्मक विधाओं में अधिक निर्मित हुवे हैं. श्रीचैतन्य महाप्रभु का चरित्रालेखन करनेवाली ग्रन्थचतुष्टयी के चतुर्दिक्पालोपम में एक कवि कर्णपूर द्वारा रचित 'श्रीकृष्णचैतन्यचरितामृत' महाकाव्य के सम्पादक श्रील प्रभुपाद प्राणकिशोर गोस्वामीजी अपने संपादकीय निवेदन में स्वयं स्वीकारते हैं "वास्तवपन्थी कर्णपूर और भावपन्थी कृष्णदास की चैतन्यलीला-वर्णना के विन्यास में असामंजस्य है". यह कैसी अद्भुत कथा है कि कर्णपूर महाकाव्यलेखन के बावजूद वास्तवपन्थी हैं और सत्यसंधानीजी की धारणा के विपरीत कृष्णदास को, पता नहीं कि इतिहास पुराण या काव्य किस विधा के अवलम्बन करने के कारण, भाव(अवास्तव)पन्थी बनना पड़ा! जयानन्दविरचित 'चैतन्यमंगल' के संपादक बिमानविहारी मजूमदार भी अंग्रेजी भाषा में लिखे इंट्रोडक्शन में, सत्यसंधानीजी की धारणा के विपरीत पु.मा.वा.सा. जैसा आन्तरिक विरोधाभास कृष्णदास कविराज और जयानन्द द्वारा प्रदत्त इतिवृत्तों के वर्णनों में भी (पृ.१५) स्वीकारते ही हैं, खैर!

पाश्चात्य आलोचकों के इस देश में पदार्पण से पूर्व हमारे पौराणिक साहित्य को अनैतिहासिक या मिथक के रूप में अप्रामाणिक मानने की कोई व्यापक परियोजना आलोचकवृन्द में प्रचलित नहीं

थी. अपनी बायबल को सर्वथा ऐतिहासिक वृत्तांत और भारतीय पौराणिक साहित्य को अनैतिहासिक प्रचारित करते रहने का दुराग्रह पश्चिमी आलोचकों द्वारा ही यहां पनपाया गया है. बायबल के अनुसार आदम का निर्माण परमेश्वर ने अपनी प्रतिकृति के रूप में सृष्टि में किया. परन्तु चार्ल्स डार्विन के द्वारा उत्प्रेक्षित विकासवाद के प्रचार-प्रसार के बाद बायबल के परमेश्वर को तो वानर आदि पशुओं का विकसित रूपभेद स्वीकारना शक्य न था. अतः मानव के वानरावस्था से विकसित होने की धारणा के अनुरोधवश पाश्चात्य आलोचकों ने भारतीय वैदिक-पौराणिक परमेश्वर की ओर उस विकाससिद्धान्त को मोड़ना शुरू कर दिया! अग्नि-वायु-आदित्य आदि वैदिक देव अथवा ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र आदि पौराणिक देवताओं के दिव्य प्रत्यय या तो प्राकृतिक भौतिक पदार्थशक्ति अथवा लौकिक पुरुषों पर उत्तरोत्तर दिव्यता के आरोपण की प्रक्रिया में विकसित हुवे, ऐसा खोज निकालने की प्रचंड जेहाद छेड़ दी गयी. वह अब हम भारतीय आलोचकों के लिये भी अपरिहार्य प्राग्धारणा के रूप में बहुमान्य बन गयी है.

एक चिन्तनसम्प्रदाय के प्रवर्तन प्रचार या प्रसार के इतिहास में उसकी विकासरेखा खोजने का महत्व नहीं, ऐसा तो मैं भी कहना नहीं चाहूंगा. फिरभी प्रायः स्वयं अपने धार्मिक/साम्प्रदायिक प्रत्ययों के याथार्थ्य को ऐसे विकासवादी निकष पर परखने के बजाय दूसरे धर्म-सम्प्रदायों के दिव्य प्रत्ययों के बारे में इस प्राग्धारणा को प्रयोग में लाया जाता है. उन्हें दिव्य अन्तःस्फुरणा में अवगत होनेवाले प्रत्यय मानने के बजाय लौकिक प्रत्ययों की तरह विकसित होने के प्रतिपादन द्वारा स्वयं के धार्मिक या साम्प्रदायिक विद्वेष से परे ऐतिहासिक तथ्यान्वेषी होने की शालीन छाप खड़ी करना एक फैशन बन गयी है! जबकि यह हथियार, हकीकत में, शिकार और शिकारी दोनों का प्राणापहारी होता है!

मूल में वैदिक-पौराणिक चिन्तनपरम्परा दिव्यता और लौकिकता के बीच ऐकान्तिक भेद माननेवाली पाश्चात्य मानसिकता से विपरीत थी. सभी लौकिक पदार्थों और घटनाओं का मौलिक स्वरूप दिव्यता में और सभी दिव्यताओं की अभिव्यक्ति लौकिक पदार्थों और घटनाओं में अपनी भारतीय परम्परा खोजती रही है. अतः एक विलक्षण तादात्म्यवादी मानसिकता को वह प्रकट करती है. ऐसी स्थिति में लौकिकता पर दिव्यता के आरोपण की विकासवादी अवधारणाओं का उन्हें शिकार बनाना अप्रामाणिक न भी हो परन्तु अप्रासंगिक तो लगता ही है.

हमारे यहां पौराणिक साहित्य को “पञ्चमं वेदानां वेदः” (छान्दो.उप.७।१।१) - “पुराणं हृदयं स्मृतम्” जैसे आदर्शों से अनुप्रेरित प्रमाण माना जाता रहा. देशकालातीत वैदिक रहस्यों को तत्तद् देश-काल के इतिवृत्तों के माध्यमों से समझाने की विधा के रूप में इन्हें मान्य रखा गया. केवल कालिक पूर्वापर व्यक्ति या वृत्तांत के तटस्थ निरूपण करनेवाले इतिहासग्रन्थों से इनका पार्थक्य भी मान्य था ही. अतएव वेदों के अग्निसूक्त में अग्नि या रुद्र को, तो शैव उपनिषदों और पुराणों में महादेव या शिव को, प्रजापति परब्रह्म परमात्मा परमेश्वर मान कर, विष्णु आदि सभी देवताओं के शिवभक्ति में परायण होने के, उपाख्यान वर्णित हुवे हैं. इसी तरह वेदों के सूक्तों में सूर्य या आदित्य, तो वैष्णव उपनिषदों या पुराणों में नारायण/विष्णु या उनके अवतारों, को परब्रह्म परमात्मा भगवान् मान कर, शिव आदि सभी देवताओं के वैष्णवी भक्ति करने के भी उपाख्यान उतने ही हैं! शाक्त सौर या गाणपत्य आदि पुराणों की निरूपणशैली भी ऐसी ही मिलती है. इसके कारण इनमें अन्तर्विरोध, परस्पर विरोधाभास, साम्प्रदायिक दुरभिसंधिवश दूसरे देवरूपों का निष्ठुर हीनचित्रण अथवा अनैतिहासिकता का दोषारोपण यदि कोई एकेश्वरवादी संकीर्ण मानसिकता के वश करना चाहता हो तो करे! पौराणिक साहित्य ही नहीं

प्रत्युत वेदों के संहिता-ब्राह्मण साहित्य में भी ऐसे दोषों की भरमार खोजने पर कहां नहीं मिलती है! हर बात में विकासवादी पूर्वाग्रह रखने पर तो न्यूटन आदि वैज्ञानिकों की गुरुत्वाकर्षण की खोज आदि में भी उन महान् वैज्ञानिकों की सूझ के बजाय कीट सरीसृप पक्षी पशुओं की द्रव्यपिण्ड के पतन के प्रति उत्तरोत्तर विकसमान संवेदनशीलता के सोपान भी क्यों नहीं खोजे जाते? कण्ठतोषोषित वैदिक प्राग्धारणा, जबकि, इस विषय में यों मिलती है :

“एवम् उच्चावचैः अभिप्रायैः ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति... यदेवः स यज्ञो वा यज्ञांगं वा तदेवता भवति... अपिवा कामदेवता स्यात्... अपिहि अदेवता देवतावत् स्तूयन्ते... महाभाग्याद् देवतायाः एकएव आत्मा बहुधा स्तूयते. एकस्य आत्मनो अन्ये देवाः प्रत्यंगानि भवन्ति. अपिच सत्त्वानां प्रकृतिभूमिभिः ऋषयः स्तुवन्ति, प्रकृतिसार्वनाम्न्यात् च इतरेतरजन्मानो भवन्ति इतरेतरप्रकृतयः... तिस्रएव देवताः : अग्निः पृथिवीस्थानः, वायुः वा इन्द्रो वा अन्तरिक्षस्थानः, सूर्यो द्युस्थानः. तासां महाभाग्याद् एकैकस्यापि बहूनि नामधेयानि भवन्ति. अपिवा कर्मपृथक्त्वात्... अपिवा पृथगेव स्युः पृथग्विधाः स्तुतयो भवन्ति... तत्र एतत् ‘नर-राष्ट्रम्’ इव भवति. पुरुषविधाः स्युः इति एकम्... अपुरुषविधाः स्युः इति अपरम्... अपिवा उभयविधाः स्युः... तिस्रएव देवताः इति उक्तं पुरस्तात्. तासां भक्तिसाहचर्यं व्याख्यास्यामः”(- निरु.७।१।४ — ७।२।७ — ७।३।८).

“इन्द्रं मित्रं वरुणं अग्निम् आहुः, अथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्, एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति, अग्निं यमं मातरिश्वानम् आहुः”(ऋक्संहि.२।३।२१).

“कति देवाः?... त्रयः च, त्री च शताः, त्रयश्च त्रीच सहस्र इति ओम् इति होवाच. कत्येव देवाः ? त्रयस्त्रिंशद् इति ओम् इति होवाच... महिमानएव एषाम् एते त्रयस्त्रिंशत्वेव देवाः”(बृह.उप.३।१।१-२).

जब जिस देवता का यजन-आराधान-उपासन धर्मतया अनुष्ठेय दिखलाना हो तब उस याज्य देव से अन्य सभी देवताओं को न केवल गौण अयाज्य-अनुपास्य दिखला दिया जाता है प्रत्युत उनके यजन-अर्चन को पाप भी घोषित कर दिया जाता है : “यो वा अयथादेवतम् अग्निं चिनुते आ देवताभ्यो वृश्च्यते पापीयान् भवति. यो यथादेवतं, न देवताभ्यः आवृश्च्यते वसीयान् भवति”(तैत्ति.संहि.५।७।१). एक किसी देवताविशेष के याग में उस देव के सिवा अन्यदेवता का याजक पापीयान् भी हो जाता है. एतदर्थ उस विशेष देव को सर्वमूल सर्वशक्तिमान् सर्वशुभ सर्वसमर्थ और उसकी तुलना में अन्यदेवों को अशक्त अशुभ असमर्थ मानने की वैदिकी परंपरा के कारण ही भारतवर्ष में अशास्त्रीय अवैदिक विभिन्न ग्रामदेवों या कुलदेवों के भी पूजन-भजन वेदोक्त संस्कारकर्मों में भी अमान्य नहीं ठहराये गये. वैदिक यज्ञयागों की तरह विभिन्न देवताओं का माहात्म्य प्रकट करने पुराण-तन्त्रों के आधार पर प्रवर्तित विभिन्न देवाराधना के ऐकान्तिक सम्प्रदायों में भी अनन्य निष्ठा के ऊपर भार रखा गया. ऐसी स्थिति में पौराणिक देवताओं के बारे में विभिन्न कबीलों या प्रदेशों में पूजित पुरुषों के दैवीकरण की धारणा की कोई शास्त्रीय आवश्यकता तो थी ही नहीं. क्योंकि इनमें रूपभेद मान्य होने पर भी तत्त्वभेद नहीं होता, ऐसा वेद स्वयं घण्टाघोष के साथ प्रतिपादित कर चुका था! अतएव अन्यान्य पुराण जब किसी विशेष देवता के निन्दा के उपाख्यान सुनाते हैं, तब भी “नहि निन्दा निन्द्यं निन्दन्ति किन्तु स्तुत्यं स्तौति” का दिशानिर्देश भारतीय संस्कृति के मौलिक रूप को उद्धाटित करनेवाली लोकोक्ति है.

अतः इस विषय में सत्यसंधान करना हो तो अपने देश की इन मौलिक प्राग्धारणा को हृदयारूढ़ कर रखना एक प्राथमिक आवश्यकता है.

यजन-उपासनाओं के प्रभेद और उनकी इतिकर्तव्यता की उपदेशविधा में अपनायी गयी यह विचारनीति तथा उपदेशनीति ही विभिन्न सम्प्रदायों के धर्मोपदेश तथा धर्मोपदेशकों के जीवनवृत्तान्तों के निरूपण में भी अपनायी गयी. उसके भलीभांति बोध के बिना निरर्थक अकाण्डताण्डव करना मुझे वैचारिकी गंभीरता नहीं परन्तु पश्चिम संस्कृति से उधार ली गयी वैचारिकी धांधल या छिद्रान्वेषिता की कुरुचि लगती है.

उत्तम काव्यसाहित्य तो कवि की निरंकुशकल्पना से प्रसूत माने जाते रहे. परन्तु महाकवि भास कालीदास भारवी माघ अथवा रामायण के वृत्तान्तों के बारे में कोई आलोचक केवल ऐतिहासिक तथ्यातथ्य का दुराग्रह पाले तो वह काव्यालोचन न लग कर उन महाकवियोंकी उन-उन इतिवृत्तों के बारे में प्रकटी काव्यात्मिका संवेदनशीलता के विरुद्ध जेहाद लगनी स्वाभाविक है.

प्रत्येक धर्मसम्प्रदाय ने अपनी-अपनी धर्मानुभूतियों की तरह आद्य प्रवर्तक और अनुगामिओं के जीवनवृत्तों को भी प्रायः पौराणिक विधाओं में ही प्रकट किया है. कोई सत्यसंधानी उनमें किसी सम्प्रदायविशेष के वार्तासाहित्य को अपना वेध्य लक्ष्य बना कर निरंतर अनैतिहासिकता के मुद्दे को प्रचारित करना चाहता हो तो कहना पड़ेगा :

“तुम मेरी हर झूट को बेशक करो बेपर्दा मगर।

कभी तो अपने सच को भी मिसान पर रख कर देखो॥”

इसके अलावा मुझे व्यक्तिगत लिखे पत्र (दि.९-७-११) में

मान्य लेखक ने मेरे असुपाट्ट्य हस्ताक्षरों पर भी क्षोभ प्रकट कर अपनी ७६ वर्षीय आयु में भी सुस्पष्ट अक्षरों की सूचना प्रदान की. वैसे तो मैं भी लगभग उतनी ही आयु का होने पर भी अपने हस्ताक्षर सुधार नहीं पाया कि वैचारिकी के सम्पादक की तरह मान्य लेखक भी उसे ठीक से पढ़ पाते! इसका मुझे भी क्षोभ है. क्षमस्व! दूसरी आपत्ति और जिज्ञासा यह जतायी है कि लेखक का पता जानते होने के बावजूद मैंने अपना अभिप्राय प्रतिस्वर में प्रकाशित करने क्यों भेजा? इसमें इतना आतंकित होने या बुरा मानने की क्या बात है? समझ नहीं पाया!

मेरा उपहास करने को मान्य लेखक ने इसी पत्र में एक उम्दा शेर भी लिखा भेजा है “सूरज में लगे धब्बा फितरत के करिश्मे हैं बुत हमको कहे काफिर अल्लाह की मरजी है” मुर्कर! मुर्कर!! वैसे मैं तो सिर्फ इतना ही कहना चाहूंगा सूरज पे एक धब्बा तो सूर्यग्रहण के समय कुछ दैर के लिये लगता है. वह अस्थायी धब्बा तो क्योंकि खुद से पैदा होनेवाले पृथ्वी-चन्द्रमा को सूरज अपने गुरुत्वाकर्षण से बांधे रखता है इस अपराध के वश पृथ्वी के निम्न तल पर होती भ्रान्ति के कारण लगता है! दूसरे तरह के धब्बे तो आधुनिक खगोलविज्ञान के अनुसार सूरज की स्वयं की प्लाज्मिक संरचना के कारण प्रकट होते हैं, कोई दूसरा उस पर लगाता नहीं है! परन्तु पुष्टिमार्गीय वार्तासाहित्य रूपी बुत के परस्त होने की स्वीकृति पर तो, मैं स्वयं भी श्रीवल्लभाचार्य का वंशज पुष्टिमार्गी होने के कारण, अपनी हार्दिक कृतज्ञता ही दर्साना चाहूंगा!

न केवल भारतीय पौराणिक साहित्य में अपितु वार्तासाहित्य की तरह अन्यान्य धर्म-सम्प्रदायों की पौराणिक विधा के अनुसार लिखे गये मूल प्रवर्तक तथा अनुगामिओं के वृत्तान्तों में भी (क)इतिहासविरुद्ध

(ख)परस्परविरोधाभास (ग)एक ही ग्रन्थमें वदतोव्याघात या स्वविरोध और (घ)निष्ठुर आचरण के साक्ष्य, एक नहीं हजारों खोजे जा सकते हैं! पर उन्हें बायबल या कुरान-हदीस श्रामण आगमों में खोजे बिना किसी विशेष धर्म या सम्प्रदाय के पौराणिक साहित्य में ही खोजने की पाश्चात्य परियोजना सत्यसंधान की परियोजना के बजाय जेहाद की मानसिकता ही प्रकट करती है. आलोचनाभीरुओं को ऐसी जेहाद अच्छी न भी लगती हो. मैं तो सदा इन्हें अभिनन्दनीय मानता हूं, चाहे वैचारिकी प्रामाणिकता के साथ हों चाहे वैचारिकी दुर्भावना से भी ग्रस्त क्यों न हों!

मुझे तो कुछ भी निश्चय के रूप में ज्ञात नहीं है कि मान्य लेखक ने वार्तासाहित्य की अनैतिहासिकता उजागर करने की ऐसी परियोजना घड़ी है या नहीं. अथवा घड़ी है तो वह आर्यसमाजी या चैतन्यसम्प्रदायी धार्मिकास्था से अनुप्रेरित हो कर या अन्य ही किसी प्रयोजनवश. हो सकता है कि बंगबंधुता या धर्मनिरपेक्षता की अधार्मिकास्था से अनुप्रेरित हो कर भी घड़ी हो! मैंने तो अपने व्यक्तिगत पत्रव्यवहार में भी इस विषय में मान्य लेखक का ध्यान आकृष्ट करना चाहा था. तब मान्य लेखक चैतन्य सम्प्रदाय के चैतन्यचरितामृत की प्रामाणिकता की वकालत में जुट गये, मिथ्याभाषण की हद तक जा कर, जिसे मैं अपने इस लेखन में अकाट्य साक्ष्य द्वारा प्रस्तुत करूंगा ही. वह तो इस बार के प्रतिस्वर में भी प्रस्तुत प्रतिक्रिया में भी बांची जा सकती है.

(क : पु.मा.वा.सा. के इतिहासविरुद्ध होने के आक्षेप की मीमांसा)

८४ वै.वा.५९ की किसी भी प्रति में नारायणदास को न तो 'चौहान' और न 'कुलकुल्ला दीवान' कहा गया है. न जाने कैसे सत्यके अनुसंधान में लुहाणा को चौहान बना कर और न जाने किस नामगोत्रहीन भावप्रकाश के संस्करण में मान्य लेखक ने

ऐसा पढ़ लिया. भावप्रकाश में जो "कुल दीवानगीरी दीनी" ऐसा उल्लेख मिलता है उस के बारे में 'दीवान' शब्द के तब जो प्रचलित अर्थ थे उन्हें उर्दु-हिन्दीकोश देखें तो "न्यायालय कचहरी मंत्री वज़ीर अर्थमंत्री" आदि मिलते हैं. अर्थात् जनसाधारण या समुदायविशेष से कर वसूल कर राज्यकोश में जमा करानेवाला जमींदार या जागीरदार जैसा अधिकारी अर्थ भी हो सकता है. स्वयं हमारे परिवार को तब किशनगढ़ राज्य में राज्यगुरु की हैसीयत में कई गावों की कुल जागीर भेंटस्वरूप मिली थी, जिन जमीन या गावों का कर हमें राज्य को देना नहीं पड़ता था. किसी भी सूरत में 'सम्पूर्ण प्रशासन' या 'एकमात्र मन्त्री' के अर्थ में तो वह कल्प्य नहीं. यह तो सत्यसंधान की कोई रुग्ण मृगतृष्णा लगती है, जिसके वश भावप्रकाश की मरुमरीचिका में असत्यरूप जलाशय खोज निकालने का पूर्वाग्रह ही प्रकट हुआ है. सत्यसंधानीजी कहते हैं कि शेरशाह सूरी से पूर्व उच्च पदों पर हिन्दुओं की नियुक्ति नहीं होती थी परन्तु इब्नेबतूता (ई.सं.१३३३) के यात्रावृत्तान्त में ऐसा उल्लेख मिलता है : "Here also lived a Hindu infidel named Ratan... The sultan appreciated and honoured him with the title of 'azim-us-sind'. He installed him as governor of this province" (The Rehla of Ibn-batuta p.8) तो खोजने पर तो ऐसे अन्य भी कई उल्लेख मिल सकते हैं. खैर. जहां तक भावपन्थी श्रीकृष्णदास के चैतन्यचरितामृत में ऐसे इतिहासविरुद्ध विधान का प्रश्न है तो कई उदाहरणों में कम से कम यह नितान्त अवलोकनीय है "देखि बल्लभभट्ट मने चमत्कार हेलों दुई पूत्र आनि प्रभूर चरणे पाडिलों" (चै.च.म.१०११०८) इसके अनुभाष्यकार श्रील विष्णुपाद वार्षभानवीदयितदास कहते हैं "दुईपुत्र— गोपीनाथ ओ विठ्ठलेश्वर श्रीमन्महाप्रभु १४३४ वा १४३५ शकाब्दाय प्रयागे उपनीत हों. तत्काले विठ्ठलेश्वर जन्म हों नई" ऐसी स्थिति में श्रीउपेन्द्रनाथजी का समाधान क्या हो सकता है, यह जिज्ञास्य बनता है.

सत्यसंधानीजी ने कृष्णदास अधिकारी की वार्ता में श्रीरूप-सनातन को 'कायस्थ' कहे जाने पर आपत्ति दर्सायी है. डर लगता है कि रामकथा में भी धोबी के सीताजी के चरित्र पर शंका करने का अपराधी सत्यसंधानीजी रामायणकार को ही कहीं ना मान लें! यह विधान वार्ताकार स्वयं नहीं कर रहे परन्तु श्रीरूप-सनातन ने कृष्णदास को जो 'शूद्र' गाली दी उसकी जवाबी गाली कृष्णदास ने क्या दी वही तो बता रहे हैं! अतः सत्यसंधान को इतना असाधारण अहंकेन्द्रित बना लेना कि इतनी साधारण बात भी समझ न आये कोई अच्छी वैचारिकता तो नहीं. सत्यसंधानीजी मनुस्मृति के "अग्निदो..." वचनरूपी ब्रह्मास्त्र का संधान पु.मा. पर करना चाहते हैं. पु.मा.वा.सा. में रन्धान्वेषण की धांधल में उपेन्द्रनाथजी मनुस्मृति का जो श्लोक उद्धृत कर गये हैं उसका अभिप्रेतार्थ व्याख्या और सन्दर्भ के अनुसार क्या है इसकी जांच-पड़ताल करना भूल गये लगते हैं! मनुस्मृति पर सात व्याख्या प्रकाशित हुयी हैं. प्राय सभी इस वचन को नामगोत्रहीन किसी स्मृति का वचन मान रहे हैं मनुस्मृति का वचन नहीं. फिरभी इसे दुराग्रह तो नहीं मानूंगा. मुझे तो इन वचनों को प्रामाणिक मान कर चलना उचित ही लगता है. उल्लेखनीय है कि 'आततायी' शब्द का अर्थ प्राय सभी हत्यार्थ प्रवृत्त कर रहे हैं नकि कुटिप्रज्वालक. साथ ही साथ मेधातिथि इस श्लोक के साथ दो और भी श्लोक उद्धृत करते हैं "उद्यतासिः विषान्निभ्यां शापोद्यतकरः तथा आथर्वणेन हन्ता च पिशुनः चापि राजनि भार्यारिक्थापहारी च रन्धान्वेषणतत्परः एवमाद्यान् विजानीयात् सर्वानेव आततायिनः" (मनु.मेधा.८।३५०). एतावता यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राणापहरणार्थ अग्नि से जलाना पातक कर्म है. बंगाली पुजारियों को प्राणापहरणार्थ नहीं परन्तु उनके साथ किसी भी शारीरिक संघर्ष किये बिना श्रीनाथजी के सेवास्थल पर कब्जा हासिल करने को स्वयं कृष्णदास अधिकारी ने जो कुटिया बना कर दी थी उसे जलाने के कठोर कृत्य द्वारा कब्जा ले लिया. वे पुजारी पर्वत के उपर

जब थे तब उन्हें नीचे कथंचित् बुलाने को कुटिया जलायी गयी थी. अतः प्राणापहरण का दोष तो कोई लगता नहीं. अतः क्षेत्रापहरण का मुद्दा उठाये जाने पर तो पु.मा.वा.सा. में रन्धान्वेषण की श्रीउपेन्द्रनाथजी की मानसिकता भी, इन्हीं वचनों के प्रामाण्य के आधार पर, आततायिता क्यों नहीं मानी जा सकती?

खैर, इसी मनुस्मृति ग्रन्थके अनुसार आजीविका के हेतु कौन सी वृत्ति ब्राह्मण के लिये सर्वथा वर्णभ्रंशकारिणी पातित्यकारिणी मानी गयी, उस पर सत्यसंधानीजी भी लक्ष्य देते तो अच्छा होता : "यात्रामात्रप्रसिद्धचर्थं स्वैः कर्मभिः अगर्हितैः... कुर्वीत धनसञ्चयं... न श्ववृत्त्या कदाचन... सेवा श्ववृत्तिः आख्याता तस्मात् तां परिवर्जयेत्... न शूद्रराज्ये निवसेत्... न उपसृष्टे अन्त्यजैः नृभिः... यो राज्ञः प्रतिगृह्णाति लुब्धस्य उच्छास्त्रवर्तिनः स पर्यायेण याति इमान् नरकान्" (म.स्मृ.४।३-६, ६१, ८७) विधान भी तो मनुस्मृति में हैं ही. श्रील रूप गोस्वामी ने क्या मुगल शासक के आधीन नौकरी नहीं की थी क्या? सो स्मृतिवचन प्रमाण हों तो उनके ब्राह्मण रह जाने का अकारण दुराग्रह क्यों?

रहा सवाल कि कृष्णदास ने 'शूद्र' गाली के जवाब में 'कायस्थ' गाली क्यों दी? तो सहज सम्भव है कि जैसाकि भक्तिरसामृतकार श्रील रूप गोस्वामी के बारे में इस ग्रन्थ के सम्पादक डा. विजयेन्द्र स्नातक (संपादकीय पृ.१४) लिखते हैं कि मुगलशासक के आधीन श्रील रूप गोस्वामी 'दबीर खास' पद पर नियुक्त थे. अतः स्मृतिवचनों द्वारा गर्हित नौकरी (द्रष्ट."दबीर=क्लर्क लिपिक" उत्त.प्रदे.प्रका.शाखा सूच.विभा. प्रकाशित उर्दु-हिन्दी शब्दकोश पृ.३०६. "कायस्थ=राइटर कास्ट बॉर्न फ्रॉम् क्षत्रिय फादर एंड शूद्र मदर" मोनिअर विलियम पृ.२७४) श्रील रूप गोस्वामी ने की तो थी ही. लगता है कि कृष्णदासजी ने भी यह तो अवश्य सुन रखा होगा परन्तु कर्णाटकदेशीय

ब्राह्मण होने का तथ्य उन्हें अवगत नहीं होगा. उसमें वार्ताकार या कृष्णदास का क्या अपराध? श्रीचैतन्य महाप्रभु की प्रयागयात्रा के वासस्थल पर जब महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य उनसे मिलने गये तब श्रील रूप-सनातन साथ थे. परिचय कराये जाने पर महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य दोनों भाईओं से गले भेंटने को जब आगे बढ़ने लगे तब दोनों भाई पीछे खिसकने लगे. उस असमंजसता दूर करने स्वयं श्रीचैतन्यमहाप्रभुने कहा, कृष्णदास कविराज के शब्दों में देखें तो, “भट्ट मिलिवारे जाय दूहूँ पलाय दूरे... भट्टेर विस्मय हैल प्रभूर हर्ष मन, भट्टेर कहिला प्रभू तौर विवरण, ईहो ना स्पर्शह ईहो जाति अति हीन, वैदिक याज्ञिक तूमि कूलीन प्रवीण” (चै.च.म.१९।६७-६९).

अब श्रील रूप-सनातन को कर्णाटकदेशीय ब्राह्मणजाति का स्वीकारते हैं तो श्रीचैतन्यमहाप्रभु को भी अपने शिष्यों के अस्पृश्य होने की भ्रान्ति थी ऐसा मानना पड़ेगा. अथवा त्रिवेणीसंगम के तट पर मिथ्याभाषण का अपराधी श्रीचैतन्य महाप्रभु को मानना पड़ेगा. महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य का श्रीचैतन्य महाप्रभु तथा श्रील रूप गोस्वामी के प्रति जो निरतिशय प्रेमादरभाव था, उन भावों का वल्लभवंशज अनुसंधानी होनेसे, नकि सत्यसंधानी, उन्हें भ्रान्त या मिथ्याभाषी में तो मान नहीं सकता. अतएव मैं तो इस चैतन्यचरितामृत को ही चैतन्यपुराणतया मान कर ऐसी सारी बातों को कृष्णदास कविराज की चैतन्यभक्ति के रूप में देखना चाहूंगा. हमारे महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य की अवमानना के रूप में नहीं! सत्यसंधानीजी को परन्तु यह स्वीकार्य न हो तो कृष्णदास कविराज ने चैतन्यचरित्र काव्यकल्पना द्वारा लिखा या वास्तविक इतिवृत्त के वर्णनतया?

(ख : पु.मा.वा.सा. में परस्पर विरोध के आक्षेप की मीमांसा)

श्रीउपेन्द्रनाथजी पु.मा.वार्तासाहित्य में परस्पर विरोध के मुद्दे के रूप में एक विधान करते हैं कि “८४ बै.च. से ज्ञात होता है कि सूरदास सं.१५४९ के पूर्व ही वल्लभाचार्यजी के सेवक बन

चुके थे जबकि ८४ वै.वा. से दक्षिण-विजय और गृहस्थाश्रम के बाद उनका शरणागतिकाल आता है”. कहना चाहूंगा कि वि.सं.२०२४ में निरंजन शर्मा ने जो प्रति सम्पादित-प्रकाशित की उसमें तो कमसे कम ऐसा उल्लेख मुझे मिला नहीं. उसके पुनःप्रकाशन की प्रतियों में कहीं हो तो मुझे ज्ञात नहीं है. वैसे यह एक हकीकत है कि निजवार्ता और बैठकवार्ता के लेखक ने श्रीवल्लभाचार्य के पौत्र श्रीगोकुलनाथजी की मौखिक परम्परा को लिपिबद्ध किया होने के अर्थ में ही श्रीगोकुलनाथजीरचित माना. वस्तुतः ये दोनों वार्ता परवर्ती किसी व्यक्ति द्वारा लिपिबद्ध की गयी होनेके कारण इनमें असामंजस्य हो भी सकता है. क्योंकि ८४ बैठ.वा. के अन्तर्गत ३२मीं वार्ता में “सो अब सात स्वरूपन (श्रीमदनमोहनजी) में श्रीगोपाललाजी महाराज के मांथे कामवन बिराजत हैं.” इस बात का उल्लेख अन्तःसाक्ष्य आधार है. सातमी गादीवाले घर में दो गोपाललालजी हुवे हैं : १.सं.१६८२ में और २.सं.१९१७ में. अतः बहुत कर के दूसरे गोपाललालजी के समकालिक किसी लेखक द्वारा ही यह बैठकवार्ता लिखी हुयी लगती हैं. अतः बैठकवार्ताकार की आत्मस्वीकृति के आधार पर कथमपि इनका ८४ वै.वा.कार श्रीगोकुलनाथजी के समकालिक होना सिद्ध नहीं होता. अतः यदि ऐसा उल्लेख किसी परवर्तिलेखन में कहीं मिलता भी हो तो उसका बहाना बना कर सम्पूर्ण वा.सा. पर परस्परविरोध का आरोप सत्यासत्य के विवेचन के बिना किया गया लगता है!

श्रीचैतन्य महाप्रभु के भी चतुर्विध चरित्रग्रन्थों में भी ऐसे एक नहीं प्रत्युत अनेक उदाहरण मिलते ही हैं. सत्यसंधानीजी धैर्यपूर्वक उनका एक बार अवलोकन कर लें तभी कोई बात आगे बढ़ायी जा सकती है.

क्योंकि कृष्णदास कविराज के लेखन के अलावा अन्य किसी भी श्रीचैतन्यचरित्र में श्रीवल्लभाचार्य और श्रीचैतन्य के पारस्परिक मनमुटाव

का कोई भी प्रसंग वर्णित नहीं है। सो समान हेतु के वश यहां भी परस्पर विरोध मानना कि नहीं?

जयनन्दरचित 'चैतन्यमंगल' ग्रन्थके सम्पादक तो स्वयं भी यह स्वीकारते हैं कि "During this period of about three decades, many myths and legends had grown centring round the personality of Caitanya and his associates" (इन्द्रो.पृ.१२). ऐसी स्थिति में पु.मा.वा.सा. के असत्य को ही उजागर करने के दुराग्रह का हेतु जेहाद नहीं तो और क्या मानना? विशेषतः तब कि सत्यसंधानीजी "अतएव वार्तासाहित्य की अपेक्षा चैतन्य सम्प्रदाय के ग्रन्थों को अधिक प्रामाणिक मानना पक्षपात नहीं सर्वथा उचित है" (प्रतिस्व.पृ.१३) ऐसी घोषणा कर रहे हैं। मानों सत्यसंधान के सर्वोच्चन्यायाधीश की पदवी पर ही स्वयं बिराजमान हों! वैसे श्रीनाथजी की प्राकट्यवार्ता तो, अपनी उत्तरावस्था में औरंगजेब के द्वारा किये गये अत्याचारों के भय के कारण श्रीनाथजी को मेवाड़ पधराने के बाद लिखी गयी हैं। तीस वर्षों के भीतर यदि चैतन्यचरितामृत में किंवदन्ती जुड़ जाती हों तो पुष्टिमागीय वार्तासाहित्य में भी क्यों नहीं जुड़ सकती!

अब यदि चैतन्य सम्प्रदाय के साहित्य में परस्पर विरोधी बातों का विमर्श करना हो तो वह भी देख लेना उचित होगा। मध्यलीला के १८वें परिच्छेद में वर्णन मिलता है कि श्रीचैतन्य महाप्रभु और उनकी तरह श्रील रूप गोस्वामी श्रीनाथजी (गोपाल) के विग्रह के दर्शनार्थ भी गोवर्धन पर्वत पर आरोहण नहीं करते थे। सो उन्हें दर्शन देने एक बार गांठोली और दूसरी बार मथुरा में गोस्वामी श्रीविठ्ठलनाथजी के घर में भगवद्विग्रह किसी व्याज से पर्वत से नीचे पधारे। इस प्रसंग की व्याख्या करते अनुभाष्यकार श्रील वार्षभानवीदयितदास भक्तिरत्नाकर के वचन उद्धृत करते हैं "श्रीविठ्ठलेर सेवा कृष्णचैतन्यविग्रह

ताहार दर्शने हैल परम आग्रह, श्रीविठ्ठलनाथ भट्ट वल्लभतनय करिला जतेक प्रीति कहिले न हय... श्रीदास गोस्वामी आदि परामर्श करि श्रीविठ्ठलेश्वरे कैला सेवा अधिकारी, पिता श्रीवल्लभभट्ट तौर अदर्शने कतदिन मथुराय छिलेन निर्जने'... श्रीमहाप्रभू वल्लभपूत्र विठ्ठलेर जन्मेर पूर्ववर्षे वा तत्पूर्ववर्षे वा श्रीवृन्दावने गमन करेन" (चै.च.म.१८।४७). यहां तो परस्पर विरोधी गण्य मारने की हद दिखला दी है।

इसी मध्यलीला के प्रथम परिच्छेद में अनुभाष्यकार कहते हैं "वल्लभभट्टेर गर्वनाश औ कृष्णनामश्रवण—'तबे त वल्लभभट्ट प्रभूर मिलिला, कृष्णनामेर अर्थ प्रभू ताँहार कहिला'—श्रीगौरचन्द्रेर प्रियजन श्रीगदाधर पण्डित गोस्वामीर निकट वल्लभ भट्ट नामग्रहण कराय निजसम्प्रदायभुक्तज्ञाने महाप्रभु स्वयं ताँहाके नामार्थ बुझाइयाछिलेन... भट्ट नामार्थश्रवणे अधिकार पाइयाछिलेन" (चै.च.म.२।२६३). इसे पढ़ने पर ऐसा आभास होता है कि चैतन्यसम्प्रदाय परब्रह्म श्रीकृष्ण भगवान् के प्रति प्रेमभक्ति के प्रचार-प्रसार का सम्प्रदाय न हो कर श्रीकृष्णभक्ति के उपदेश पर खुद के एकाधिकार के प्रचार-प्रसार करनेवाला सम्प्रदाय न हो! दूसरे हर कोई कृष्णभक्त को या तो स्वयं का शिष्य मान लेना अन्यथा गर्वीला मान कर निन्दा कर देनी।

सत्यसंधानीजी हमें समझायें कि यहां स्वयं श्रीचैतन्यमहाप्रभु के कृष्णनामसंकीर्तन की आदर्शरीति "तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना अमानिना मानदेन कीर्तनीयो सदा हरिः" विरुद्ध मनोवृत्ति को उजागर हो रही या नहीं! क्योंकि यदि महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य कृष्णभक्ति के उपदेशक आचार्य होनेके कारण घमण्डी थे तो चैतन्य-सम्प्रदाय अन्य उपदेशक क्यों नहीं? और न केवल चैतन्य महाप्रभु और उनके शिष्यों के प्रति भी इतना अधिक प्रेमादरभाव रखने के बावजूद वे घमण्डी थे क्या? महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य और उनके पुत्र गोस्वामी श्रीविठ्ठलनाथजी के ग्रन्थों में न चैतन्यमतानुसारी तत्त्वदर्शन और न

भक्तिभावपूर्वक श्रीचैतन्य आदिका वन्दनमंगलाचरण ही कहीं उपलब्ध होता है। फिरभी पिता-पुत्र के बारे में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती और रद्रघुनाथदास गोस्वामी कहते हैं “तदमलहृदयोत्थां प्रेमसेवां विवृण्वन् प्रकटितनिजशक्त्या वल्लभाचार्यभक्त्या स्फुरतु हृदि सएव श्रीलगोपालदेवः” — “कलितवपुरिव श्रीविट्ठलप्रेमपुञ्जः परिजनपरिचर्याधैर्यपीयूषपुष्टः... विविधभजनपुष्पैः इष्टनामानि गृह्णन् पुलकिततनुः इह श्रीविट्ठलस्य उरुसख्यैः, प्रणयमणिसरं स्वं हन्त तस्मै ददानः प्रतपति गिरिपट्टे सुष्ठु गोपालराजः” (श्रीगोपादेवाष्टकस्तो.७, श्रीगोपालराजस्तो.१३-१४)।

उल्लेख्य है कि जब श्रीनाथ/गोपाल मूर्ति स्वयं अपनी शक्तिरूपी श्रीवल्लभाचार्य की प्रेमसेवाभक्ति द्वारा प्रकट हुवे हों तो उनके पुत्र गो.श्रीवि. को सेवाधिकार महाप्रभु चैतन्य से मिला ऐसी गण्य हांके का प्रयोजन क्या? सो भी गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजी के जन्मग्रहण से पूर्व ही उन्हें चैतन्यमतानुगामी मान लेना हो तो वह ऐतिहासिक सत्य का संधान है या खुद की गुटबाजीवाले दुराशय का लज्जाहीन प्रकाशन!

(ग : पु.मा.वा.सा. में वदतोव्याघात या आन्तरिक असंगति की आपत्ति की मीमांसा)

एक ही ग्रन्थ में स्वविरोध अर्थात् वदतोव्याघात दरसाने का और कोई समुचित उदाहरण उपेन्द्रनाथजी को आक्षेपबाजी की धांधल में सूझा नहीं लगता। सो लिख मारा कि “चौरासी वैष्णव की वार्ता में कहा गया है कि सूरदास को सेवक बनाने के बाद आचार्यजी ने सोचा कि श्रीनाथजी की कीर्तनसेवा का मंडान नहीं हुवा है तो यह दायित्व सूर को सौंपा। परन्तु वहीं कुंभनदास की वार्ता में कहा गया है कि वे कीर्तन अच्छा गाते थे... स्मरण रहे कि कुंभनदास सूरदास के पहले ही शरण में आ गये थे” (प्रतिस्व.पृ.९२)। यह तो पु.मा.वा.सा. में अप्रामाणिकता खोज निकालने की अतिशय उद्धिगता

के कारण धैर्यरहित विमर्श के कारण प्रकट हुवा लगता है!

वार्ता में प्रयुक्त शब्दावली यों है : “ता पाछे श्रीआचार्यजीने विचार्यो जो श्रीगोवर्द्धननाथजी को मंदिर तो समरायो और सेवा हू को मंडान भयो। तातें सूरदास कूं श्रीनाथजी के पास राखिये तब समे-समे के सगरे कीरतन को मंडान और भयो चाहिये”(८४ वै.वा.८१।१) श्रीनाथजी के मंदिर के नवीन निर्माण के बाद जो सेवारीति का नूतन विस्तार किया गया तदनुरूप कीर्तनप्रणाली का भी कुछ ‘समे-समे’ के प्रभेद द्वारा पुनर्विधान किया गया था। उसमें कुंभनदासजी के पहले से कीर्तन करते होने या न करते होने का मुद्दा उठ कैसे सकता है? क्योंकि न तो श्रीनाथजी के समक्ष कीर्तनगायन का कुंभनदासजी को एकमात्र अधिकारी बनाया गया था कि उनके साथ सूरदासजी को रखा न जा सके; और न सूरदासजी को कीर्तनसेवा सौंपने का मतलब ऐसा सोचा जा सकता है कि कुंभनदासजी से खोंस कर वह सेवाधिकार उन्हें सौंपा गया। सत्यसंधानीजी याद दिलाते हैं कि श्रीनाथजी की प्राकट्यवार्ता में सूरदासजीका नाम तक नहीं है। अब न भी हो तो अन्तर क्या पड़ता है? पूर्वलिखित वर्णनों में उल्लेख मिल जाने के बाद पश्चात्कालीन लेखनों में उल्लेख न होनेसे पूर्वोल्लेख संदिग्ध या निरस्त तो नहीं हो जाते। अन्यथा भविष्य में कल कोई सत्यसंधानीजी के विभिन्न सामयिकों में प्रकाशित जेहादी लेखनों को महत्त्वहीन मान कर कोई उल्लेख न करे तो पु.मा.वा.सा. को अप्रामाणिक ठहरानेवाले लेख सत्यसंधानीजी ने लिखे ही नहीं, ऐसा निष्कर्ष भी निकाला जा सकेगा!

ऐसे अन्तर्विरोध या आन्तरिक असंगति प्रकट करनेवाले विधान श्रीचैतन्यचरितामृत में है या नहीं? ऐसी जिज्ञासा के समाधानतया जो सन्देहातीत अन्तर्विरोध हैं उन पर ध्यान आकृष्ट करना चाहुंगा।

मध्यलीला के छठे परिच्छेद में सुस्पष्ट शब्दों में श्रीचैतन्य महाप्रभु

के कुछ डिंडिमघोष वर्णित हुवे हैं “^१अतएव श्रुति कहे ब्रह्म सविशेष, मुख्य छांडि लक्षणाते माने निर्विशेष... ^२जीवेर निस्तार लागी सूत्र कैल व्यास, मायावादिभाष्य शुनिले होंय सर्वनाश... ^३जगत् जे मिथ्या नहे नश्वरमात्र हय... ^४तत्त्वमसि जीवहेतू प्रादेशिक वाक्य, प्रणव ना मानि तारे कहे महावाक्य” (चै.च.म.६।१६९-१७३-५).

इन चारों ही कसौटियों पर भागवतव्याख्याकार श्रीधरस्वामी मायावादी ही सिद्ध होते हैं, शांकर सम्प्रदायानुसारिता की कण्ठोक्त आत्मस्वीकृति के साथ. इनके तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं : भगवद्गीता पर सुबोधिनी, विष्णुपुराण पर आत्मप्रकाश और भागवतपुराण पर भावार्थदीपिका. इन तीनों ही ग्रन्थों के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर श्रीधरस्वामी न केवल ये मायावाद के पुरस्कर्ता शांकर सम्प्रदाय के थे अपितु तदनुसारी ही व्याख्या लिखने को प्रतिश्रुत भी थे. देखिये :

“भाष्यकारमतं सम्यक् तद्व्याख्यातृगिरः तथा, यथामति समालोड्य गीताव्याख्यां समारभे”, “श्रीमच्छंकरभगवद्भाष्यकर्तृभिः अतिप्रबन्धेन उपपादितमिति ग्रन्थबाहुल्याद् नेह प्रतन्यते” (भग.गी.श्रीध.-१।१, १३।१९), “मम विष्णोः परं निर्विशेषं रूपं ब्रह्म” (तत्रैव १३।१२), “तत्त्वमसि इति श्रुत्युपलक्षितेन चिदंशेन” (तत्रैव १३।२).

“श्रीमच्चित्सुखयोगिमुख्यरचितव्याख्यां निरीक्ष्य स्फुटं, तन्मार्गेण सुबोधसंग्रहवतीम् आत्मप्रकाशाभिधां, श्रीमद्विष्णुपुराणसारविवृतिं कर्ता यतिः श्रीधरः” (वि.पु.आ.प्र.१।१।१), “अयोगिनस्तु अज्ञाः भ्रान्तिज्ञानेन जगद्रूपं भूतमयं पश्यन्ति” (वि.पु.आ.प्र.१।४।४०).

“श्रीमद्भागवतं पूर्वेः सारतः सन्निवेशितं, मयातु

तदुपस्पृष्टम् उच्छिष्टम् उपचीयते” (भाग.भावा.१०।८-७।१), “अत्र एवं : प्रयोगो विवादाध्यसितं न सद्, आद्यन्तयोः अविद्यमानत्वाद् विकारित्वाद् दृश्यत्वात् च शुक्तिरजतवत्”, “तद् एवम् अनेकैः हेतुभिः प्रपञ्चस्य असत्त्वं साधितम्” (भाग.भावा.१०।८७।३७, १२।४।२९), “तथाभूतेश्वरतां संसारिणो जीवस्य तन्निवृत्तये ‘तत्त्वमसि’ इत्यादिवाक्यानि बोधयन्ति तत्र ‘तत्-त्वं’पदयोः सामानाधिकरण्यं प्रतीयते. तच्च प्रकारान्तरेण अघटमानं ब्रह्मणि पर्यवसानं गमयति” (भाग.भावा.१०।८७।२-३).

अब कृष्णदासकृत चैतन्यचरितामृत (अन्त्यलीला ७।११४-१३६) का अवलोकन करते हैं तो श्रील चैतन्य महाप्रभु कण्ठतः उद्घोष करते हैं “श्रीधरस्वामिप्रसादे भागवत जानि, जगद्गुरु श्रीधरस्वामी गुरु करि मानि, श्रीधरऊपरे गर्वे जे किछु लिखिवे, अर्थव्यस्त लिखिन सेह लोके ना मानिवे, श्रीधरेर अनुगत जे करे लिखन सर्वलोकमान्य करि करिवे ग्रहण, श्रीधरानुगत कर भागवतव्याख्यान अभिमान छाडि भज कृष्ण भगवान्” (१३३-१३६). ये वचन यदि सचमुच में चैतन्य महाप्रभु के हों तो क्या श्रीधरीस्वामी की मायावादानुसारी व्याख्या के अध्ययन और प्रामाण्य-स्वीकार कर महाप्रभु स्वयं का सर्वनाश चाहते थे? अथवा श्रीधरस्वामी के मायावादी होने का ज्ञान ऐसे विधान करते समय उनको नहीं था? अथवा निरन्तर कृष्णनाम जपते रहने की भक्तिनिष्ठा के कारण उन्हें वेदान्तसिद्धान्त की इतनी स्थूल धारणाओं के साथ भी भलीभांति परिचित नहीं हो पाये थे जिसकी झेंप या खीज छिपा लेने को महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य को अपमानित करने की कुटिलता बरत रहे थे? कम से कम श्रील चैतन्य महाप्रभु के प्रति हमारे सम्प्रदायानुगत प्रेमादरभाव के कारण मैं तो इनमें से एक सवाल का हां में जवाब देना नहीं चाहूंगा. चैतन्यचरितामृत

में मिलते उपाख्यानो के कारण न चाहने पर भी इन प्रश्नों को उभरने से रोक भी नहीं पाता. सत्यसंधानी चाहे जो कुछ सत्य मानते हों!

यह ठीक है कि श्रील जीव गोस्वामी आदि चैतन्यमत के विद्वानों ने श्रीधरस्वामी के तात्पर्य का अन्यथानयन करने को उनकी भागवतश्रीधरी पर भी स्वमतानुकूल व्याख्या लिख कर दिखा दी! चैतन्यचरितामृतकार द्वारा, परन्तु, वर्णित श्रीधरस्वामी की व्याख्या से स्वतन्त्र व्याख्या न करने की श्रील चैतन्य महाप्रभु की आज्ञा का उल्लंघन भी तो इस दुःसाहस में प्रकट होती एक बड़ी आन्तरिक विसंगति नहीं तो और क्या है! इसमें जो अन्तर्विरोध प्रकट हो रहा है उसका क्या समाधान! श्रील जीव गोस्वामी तो, जबकि, स्वयं ही यह भी स्वीकारते हैं कि श्रीधरस्वामी की भागवतव्याख्या में मायावाद की मिलावट है “तद्(माया)वादेन कर्बुरितलिपीनां श्रीधरस्वामिचरणानां शुद्धवैष्णवसिद्धान्तानुगता चेत् तर्हि यथावदेव लिख्यते” (तत्त्वसन्दर्भ) अर्थात् भागवतश्रीधरी व्याख्या के जिन अंशों में मायावाद की मिलावट न हो उन्हीं अंशों को ग्राह्य माना अन्यथा अग्राह्य! दादागुरु श्रील चैतन्य महाप्रभु श्रीधरस्वामी को अपना ही नहीं प्रत्युत सारे जगत् का गुरु मान कर श्रीधरस्वामी की कृपा के बल पर भागवतपुराण समझ पाने की श्रद्धा दरसा रहे हैं. उनके प्रशिष्य श्रील जीव गोस्वामी उसी श्रीधरीव्याख्या में मायावाद की मिलावट के कारण उसे अग्राह्य मानते हों तो वह गुरुद्रोह नहीं माना जायेगा क्या? श्रीउपेन्द्रनाथजी ने मनुस्मृति की “अग्निदो....” कठोर भर्त्सना पुष्टिमार्ग पर लागू कर दी, इसलिये हम भी इस प्रसंग में मनुस्मृति के वचन उद्धृत करना चाहेंगे “यः आवृणोति अवितथं ब्रह्मणा श्रवणौ उभौ, स माता स पिता ज्ञेयः, तं न द्रुह्येत् कदाचन” (मनुस्मृ. २।१४४).

हो सकता है कि श्रील जीव गोस्वामी, हमारे सम्प्रदायाचार्य

वल्लभभट्ट की तरह, चैतन्य के घमण्डी शिष्य हों! इनके काका, परन्तु, श्रील सनातन गोस्वामी तो उससे भी अधिक विस्मयजनक एक ओर तथ्य का घटस्फोट करते हैं “वन्दे चैतन्यदेवं तं तत्तद्व्याख्याविशेषतः यो अस्फोरयद् मे श्लोकार्थान् श्रीधरस्वाम्यऽदीपितान्” (बृह.वैष्ण.तोषि. १०।८-७).

यहां यह उल्लेखनीय हो जाता है कि चैतन्यचरितामृतकार के अनुसार यही तो बात महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य श्रील चैतन्य महाप्रभु की निगाहों में लाना चाहते थे “सेइ व्याख्या करने जहां जेइ पड़े आनि एकवाक्यता नाहि ताते स्वामी नहीं मानि” (अन्त्य. ७।११४) और वही तो चैतन्यसम्प्रदाय के विद्वानों की भी धारणा है कि श्रीधरस्वामी कभी मायावाद की मिलावट के साथ भागवतव्याख्या करते हैं तो कभी शुद्धवैष्णवसिद्धान्त के अनुसार. श्रील सनातन गोस्वामी की स्वीकृति के आधार पर तो स्वयं श्रील चैतन्य महाप्रभु भी, “श्रीधरानुगत कर भागवतव्याख्यान अभिमान छाडि भज कृष्ण भगवान्”, फटकार लगाने के बावजूद भागवतपुराण के श्रीधरस्वामी द्वारा अप्रकाशित भाव भी समझाते थे. अर्थात् चैतन्यसम्प्रदाय जगद्गुरु एवं निजगुरु की भी अवहेलना कर सकता है परन्तु अन्य कोई ऐसा करता हो तो चैतन्यसम्प्रदाय उसके बारे में “वेश्यार भितर करिवे गणन” का सिद्धान्त घोषित करना अपने कृष्णप्रेमावेश के कारण अलौकिक अधिकार मान कर चलता है!

श्रीमान उपेन्द्रनाथजी कह सकते हैं कि चैतन्यसम्प्रदाय वल्लभभट्ट को विसम्प्रदायी मान कर नहीं, किन्तु चैतन्यचरितामृत ग्रन्थ के ऐतिहासिक साक्ष्य के आधार पर, स्वसम्प्रदायी ही मान कर फटकारना चाहता है. क्योंकि “वल्लभभट्टे ह्य वात्सल्य-उपासन, बालगोपाल-मन्त्रे तैहा करेन उपासन, पण्डितेर सने तार मन फिरि गेल, किशोरगोपालेर उपासनाय मन दिल” (अन्त्य. ७।१४८-१४९). अब इस इतिहास को प्रामाणिक

मानने जायें तो सुबोधिनीलेखन के बाद श्रील चैतन्य महाप्रभु से मुलाकात की बात पुनः असंगत हो जाती है।

क्योंकि चैतन्यचरितामृतकार कहते हैं कि पहले महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य अपनी भागवतव्याख्या सुबोधिनी श्रील चैतन्य महाप्रभु को सुनाना चाहते थे, परन्तु श्रीधरस्वामी की व्याख्या से स्वतन्त्र व्याख्या लिखने के घमण्ड को तोड़ने के लिये अमानी मानदायी श्रील चैतन्य महाप्रभु ने सुनने से इन्कार कर दिया, सो अपने तथाकथित प्राण-मान की रक्षा के लिये वल्लभभट्ट को चैतन्यसम्प्रदाय के पण्डित गदाधर के चरणों में पड़ कर भागवतव्याख्या सुनने का अनुनय-विनय करना पड़ा! यह वृत्तान्त सर्वथा असंगत हो जायेगा, क्योंकि भागवतसुबोधिनी व्याख्या में तो महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य ने श्रीकृष्ण की बाललीला को केवल प्रमाणलीला मान कर किशोरलीला को ही फललीला के रूप में बिरदाया है, जबकि यहां कहा जा रहा है कि किशोरलीला का भाव गदाधर के कारण वल्लभभट्ट के हृदय में प्रकट हुवा! वैसे तथ्य यह है कि वाल्लभ सम्प्रदाय श्रीकृष्ण की बाललीला या किशोरलीला या अन्य भी सृष्टिलीला आदि अनेकविध लीलाओं में किसी एकतम भाव रखने के दुराग्रह या भावातिरेक रखे बिना “सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो ब्रजाधिपः” (श्रीवल्लभकृत चतुश्लोकी १) आदर्श को अपना कर चला है, कुलपरम्परा से हमारे यहां गोपालमन्त्र की दीक्षा का विधान इतिहास में मिलता है और वह तान्त्रिकी मर्यादाभक्तिमार्गीय दीक्षा के रूप में मान्य रखी गयी है, गायत्रीमन्त्र की तरह, इस गोपालमन्त्र के बारे में यह उल्लेखनीय है कि इसमें श्रीकृष्ण की किशोरलीला का द्योतक ‘गोपीजनवल्लभाय’ नाम उपलब्ध होता है तब भी, पुष्टिमार्गीय शरणागति या सेवाभक्ति की आराधना के प्रयोजनवश ये दीक्षा न तो ली जाती है और न दी जाती है, उसके लिये तो अष्टाक्षरमन्त्र और गद्यमन्त्र के अन्तर्गत पञ्चाक्षरमन्त्र का उपदेश ही लिया-दिया जाता है, इन दोनों में से किसी भी

मन्त्र में श्रीकृष्ण के बाललीला के नाम प्रयुक्त नहीं हुवे हैं, इन दोनों मन्त्रों में बाललीला या किशोरलीला के सन्दर्भ से रहित केवल ‘कृष्ण’ नाम का प्रयोग हुवा है, सो गप्प तो इस विषय में भी बड़ी ऐतिहासिक चैतन्यचरितामृतकार हांक रहे हैं।

ऐसे निरतिशय हास्यास्पद अन्तर्विरोधों को पढ़-जान लेने पर अन्त में तो चैतन्यचरितामृतकार कृष्णदास की एक सूक्ति के साथ हमें बरबस सहमत होना ही पड़ता है कि “निगूढ़ चैतन्य(चरितामृतवर्णित)लीला बूझिते कार शक्ति? सेइ बूझे गोरचन्द्रे दृढ यार भक्ति!” अब पता नहीं कि श्रीउपेन्द्रनाथ रायजी की श्रील गौरचन्द्र के श्रीचरणों में ऐसी दृढभक्ति है या नहीं?

(घ : पु.मा.वा.सा. में निष्ठुर आचरण के आक्षेप की मीमांसा)

निष्ठुर आचरण के उदाहरणतया उपेन्द्रनाथजी ने प्रस्तुत किया है २५२ वै.वा. में से रूपा पोरिया का प्रसंग, इसमें जतिपुरा के एक कुत्ते को वैष्णवों ने इतना निष्ठुरतापूर्वक ताड़ित किया कि उसके प्राण ही निकल गये, इस पर गुसांईजी ने उसके पूर्वजन्म का अपराध और सद्गति का वृत्तान्त सुनाया, उपेन्द्रनाथजी अपनी जेहादी मनोवृत्ति के वश इस प्रसंग का नीतिरहस्य कुछ और ही निकालना चाहते हैं कि “दूसरों के साथ कैसा भी बर्ताव करो, अपने सम्प्रदाय में बर्ताव अच्छा रखो”, यह खोज वैसे तो उपेन्द्रनाथजी की छिद्रान्वेषण की मानसिकता के सर्वथा अनुरूप ही है, फिरभी अपनी ओर से यह खुलासा देना कर्तव्य समझता हूं कि ‘श्रीनाथजी के दर्शनार्थी वैष्णव’ शब्दावली को उपेन्द्रनाथजी पुष्टिमार्गीय वैष्णव के अर्थ में न लें तो पुष्टिमार्गीय वार्तासाहित्य प्रामाणिक मानने को बाधित होने की बिभीषिका उन्हें अवश्य सताती होगी! इसी बिभीषिका से ग्रस्त हो कर २५२ वै.वा. में उत्तम भगवदीय कृपापात्र के लक्षणतया उपदिष्ट “जो उत्तम भगवदीय वैष्णव के लक्षण तो यह हैं जो

सदा सब के ऊपर कृपा रखे. कोई भगवदीय वैष्णव के ऊपर क्रोध नहीं करे” (२५२ वै.वा.१०८ प्रसं.५) इस विधान में ‘सब के ऊपर’ शब्दावली का भी कदरचित् ‘स्वसम्प्रदायी सब के ऊपर’ अर्थ निकाल कर दोषारोपण तो निरन्तर करते रहना चाहेंगे. ऐसा अर्थ निकालने पर, किन्तु, जेहाद छेड़ने का अभिप्राय ही स्फुट होगा और कुछ नहीं. क्योंकि श्रीनाथजी के दर्शनार्थ केवल पुष्टिमार्गीय वैष्णव ही आ सकते होते तो गांडोली में श्रील चैतन्य महाप्रभु और मथुरास्थित गुसाईंजी के सतधरा आवास में श्रील रूप गोस्वामी दर्शन कैसे कर पाते? जबकि दोनों सम्प्रदायों के साहित्य में गोवर्धनपर्वत से अन्यत्र पधराये जाने का इतिवृत्त समान है. चैतन्यसम्प्रदाय के साहित्य में जितने दिन श्रीनाथजी अन्यत्र बिराजे उतने दिन दोनों के श्रीनाथजी के दर्शनार्थ वहां रहने का वृत्तान्त अधिक मिलता है. किसीने उन्हें दण्डा मार-मार कर घायल किया हो, ऐसा उल्लेख तो दोनों में से किसी इतिवृत्त में मिलता नहीं. यह तो भगवान् श्रीकृष्ण की केवल कृपा है कि न तब और न आज ही किसी भी पुष्टिमार्गीय को ऐसी भ्रान्ति सताती न थी या नहीं है कि श्रील चैतन्य महाप्रभु या श्रील रूप गोस्वामी वाल्लभ सम्प्रदाय के अनुगामी वैष्णव थे! वह तो चैतन्यचरितामृतकार और उनके भाष्यकार का ही एकाधिकार लगता है. वे कहते हैं “वल्लभभट्टे गर्वनाश औ कृष्णनामश्रवण—‘तबे त वल्लभभट्ट प्रभू मिलिला, कृष्णनामेर अर्थ प्रभू तौहार कहिला’—श्रीगौरचन्द्रे प्रियजन श्रीगदाधर पण्डित गोस्वामीर निकट वल्लभ भट्ट नामग्रहण कराय निजसम्प्रदायभुक्तज्ञाने महाप्रभु स्वयं तौहाके नामार्थ बुझाइयाछिलेन... भट्ट नामार्थश्रवणे अधिकार पाइयाछिलेन” (चै.च.म.२।२-६३).

रही बात ऐसी निष्ठुरता बरतने की तो “तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः” के प्रेमभाव से परिपूर्ण कृष्णनामसंकीर्तन के आदर्शघोषक चैतन्यसम्प्रदाय के साहित्य

में वह है या नहीं इस की जिज्ञासा हो तो देखिये :

“वल्लभे गर्वहरणार्थ प्रभू तदपेक्षा अधिकगुणसम्पन्न भक्तगणेर गुणकीर्तन—‘भट्टे हृदये दृढ अभिमान जानि...’अधोक्षज-विषये अक्षजज्ञानी वल्लभे प्राकृत अहंकारचेष्टा... प्रभू कृपाय वल्लभे गर्वचूर्ण—‘भट्टे मनेते एइ छिल दीर्घ गर्व, प्रभू वचन शुनि से हइल खर्व’... ‘वैष्णवे तेज देखि भट्टे अहंकार, तौ सबार आगे भट्ट खद्योत आकार’... ‘तबे भट्ट बहू महाप्रसाद आनाइल, गणसह महाप्रभू भोजन कराइल’... ‘माला चन्दन... सवा पूजा भट्ट आनन्दित हैल’... ‘फल्गुप्राय भट्टे नामादि सव व्याख्या, सर्वज्ञ प्रभू जानि तारे करेन उपेक्षा’... ‘आचार्यादि आगे भट्ट जबे-जबे याय राजहंसमध्ये जेन रहे बकप्राय’... ‘सेइ व्याख्या करे जाहां जेइ पडे आनि एकवाक्यता नाहि ताते स्वामी नाहि मानि... प्रभू हांसि कहे स्वामी ना माने जेइ जन वेश्यार भितरे तारे करिये गणन’” (अन्त्य.७।५३-११५)

कम से कम विसम्प्रदायी श्रील चैतन्य महाप्रभु हों या श्रील रूप गोस्वामी किसी का भी इतना हीनचित्रण तो वाल्लभ सम्प्रदाय में किया नहीं गया है. स्वयं चैतन्यसम्प्रदाय के चैतन्यचरितामृत ग्रन्थ के आधार पर भी तो श्रील चैतन्य महाप्रभु और उन के संगसाथियों के साथ महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य का व्यवहार उन्हें “तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना अमानिना मानदेन” आर्दश के मूर्तिमान रूप सिद्ध करने को सर्वथा पर्याप्त है. श्रील चैतन्य महाप्रभु का चरित्रालेखन उन्हें मिथ्याभाषी अतिशय परासहिष्णु अभिमानी और अन्यापमानकारी

ही सिद्ध करता है! यह कैसी विडम्बना है!! हमारे यहां के साहित्य में तो यहां तक कहा गया है कि श्रील चैतन्य महाप्रभु के हृदय में श्रीकृष्ण साक्षाद् बिराजमान हैं. अतः भगवान् को निवेदित भोग के ही उपभोग के कठोर नियम का उल्लंघन श्रील चैतन्य महाप्रभु के बारे दोषावह नहीं होता. ऐसी स्थिति में कौन निष्ठुरता बरत रहा है और कौन नहीं? वाल्लभ सम्प्रदाय के किसी भी ग्रन्थ में श्रील चैतन्य महाप्रभु के वयसा कनिष्ठ होने पर भी उनको वाल्लभ सम्प्रदाय के कारण कृष्णभक्ति का भाव जागा ऐसा उल्लेख मिलता नहीं है.

अब इन सत्यसंधानों से पहले श्रीउपेन्द्रनाथजी ने तानसेन की वार्ता में जो विरोधाभास खोजा था. उसके बारे में मैंने पत्रव्यवहार भी किया था. मेरा मुद्दा यह खुलासा देने का था कि 'बड़ी जात' शब्द का प्रयोग हमारे सम्प्रदाय में जैसे हिन्दुओं की जाति होती है वैसी कोई जाति के अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता था या होता है. ब्राह्मणजाति से भ्रष्ट को जैसे 'महाब्राह्मण' कहा जाता है उसकी तर्ज पर अहिन्दुओं के लिये 'बड़ी जाति' पद प्रयुक्त होता है. श्रीउपेन्द्रनाथजी को वह पारम्परिक अर्थ अवगत या मान्य होना आवश्यक नहीं. फिर भी तानसेन ब्राह्मण या हिन्दु थे सिद्ध करने के निरर्थक व्यायाम में न जाने क्यों उलझ गये! ब्राह्मण भी अपनी जाति छोड़ कर यदि इस्लाम या अन्य कोई अजातिवादी धर्म अंगीकार करता हो तो उसे 'बड़ी जाति'वाला हमारे यहां कहा जाता है. श्रीउपेन्द्रनाथजी कहते हैं कि "व्याख्या का उद्देश्य मूल में अस्पष्ट अथवा अनुलिखित विषय जोड़ कर मूल को बोधगम्य बनाना होता है. मूल के पाठ को बदल देना और उसके विरुद्ध जाना नहीं" (वैचा.२००८ भा.२४अं.२). मुझे तो यहां कोई विरोधाभासी परिवर्तन लगता नहीं है. क्योंकि लीलाभावना के सम्पादक द्वारकादास परीख ने अपने 'कुछ अपना' सम्पादकीय वक्तव्य में मूल प्रति से यत्र-तत्र

जो पाठभेद दिये गये उनका हेतु और इतिहास दोनों दिये हैं. उन पाठभेदों को भलीभांति दर्ज न करना सम्पादक की त्रुटि या असावधानी मानी भी जा सकती है. इसका आरोप, परन्तु, वार्ताकार या वार्तासाहित्य पर थोप देना कैसा सत्यसंधान है या अर्धसत्यसंधान यह स्पष्ट नहीं हो पाता.

जहां तक तानसेन के मूल में ब्राह्मण होने पर भी बाद में बड़ी जात के हो जाने या न हो जाने की मीमांसा करनी हो तो यहां-वहां के श्मशानयात्रा के सम्भावित हेतुओं के आधार पर किये गये अनुमानों के बजाय शैख अबुल फज्ज की आइने अकबरी पर निर्भर होना मुझे अधिक उपयुक्त लगता है. उसके एच.ब्लोचमन के अंग्रेजी अनुवाद के पृष्ठ ६८१ पर शाही संगीतज्ञों सूची में हिन्दु इरानी तूरानी काश्मीरी कलावन्तो के नाम दिये गये हैं. इनमें सबसे ऊपर 'मियाँ तानसेन', और उनके पुत्र 'तानतरंग खां' नामों का उल्लेख मिलता है. इनमें जो मुसलमान नहीं बने थे उनके नाम 'बाबा रामदास' और उनके पुत्र 'सूरदास' के साथ 'मियां' अथवा 'खां' नहीं जोड़ा गया है. भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित श्रीबिमलकान्त राय चौधरी लिखित 'भारतीय संगीत कोश' में तानसेन के पुत्र और पुत्री दोनों वंशों को मुसलमान दिखलाया गया है. न केवल इतना अपितु इस्लाम अंगीकार से पूर्व तानसेन का नाम 'रामतनु पाण्डे' और बाद 'मोहम्मद अत्ता अली खां' पत्नी का नाम 'प्रेमकुमारी' या 'हुसैनी ब्राह्मणी' दिखलाया गया है. इस तरह के उभयविध ऐतिहासिक साक्ष्य के बाद भी यदि अनिश्चय की स्थिति हो तो वार्ताकार को अवश्य ही अप्रामाणिक ठहराया जा सकता है!

वैसे आज तो सभी तानसेन के वंशज संगीतज्ञ मुसलमान ही हैं. फिर भी 'तानसेन' छापवाले जो विलक्षण पद पुष्टिमार्गीय सेवा

के अन्तर्गत कीर्तनप्रणाली में मिलते हैं वे सेनिया घराने के संगीतज्ञ गायकों के पास मिलते हैं या नहीं यह गवेषणीय है. क्योंकि तब यह सहज सम्भव है कि वे पद हमारे यहां तानसेन गाये होंगे और शाही दरबार में प्रस्तुत करना आवश्यक न समझा होगा. मुझे पता नहीं बादशाह अकबर के शाही खजानों में विभिन्न चित्रावली जैसे संगृहीत की गयी वैसे वाग्गेयकारों की रागावली और पदावली के बारे में हुवा था या नहीं. क्योंकि या तो वे सेनिया घरानों के संगीतज्ञों के पास उपलब्ध हैं या हमारे पास. ऐसी स्थिति में श्रीउपेन्द्रनाथजी ने किसी अज्ञात कारणवश ठान ही ली हो कि पुष्टिमार्गीय वार्तासाहित्य और पदसाहित्य अप्रामाणिक ही है, तो वह जेहाद तो उन्हें जारी रखनी ही चाहिये. क्योंकि “वादे-वादे जायते तत्त्वबोधः!” आदर्श में मेरी आस्था दृढ़ है. कोई आपत्ति की बात तो नहीं.

वैसे यदि पुष्टिमार्ग तानसेन को उनकी प्रसिद्धि के कारण पुष्टिमार्गीय मानता होता अथवा गानकला में उन्हें अपने गायकों से निम्नकक्षा का मानता होता वार्तासाहित्य में उनको स्थान देना ही अपेक्षित न था. सीधे ऐसी अफवाह फैलाने में वार्तासाहित्य के आड़े कौन आ सकता था कि कीर्तन नहीं पर संगीत की कुछ महान बारीकियां तानसेन ने गोविन्द स्वामी से सीखी थी! इसके विपरीत गुसांईजी के वचन वार्ता में तो योंही उद्धृत हुवे है “जो गोविन्ददास! इनों को कीर्तन सिखइयो... तब तानसेन कछूक दिन गोविन्दस्वामी के पास रही रहे मार्ग की प्रणाली के अनुसार कीर्तन सीखे” (२५२ वा.११३.प्र.१). प्रसंगोपात्त गोविन्दस्वामी के अलावा अन्य किसी भी तत्कालीन पुष्टिमार्गीय पदगायकों पदावली में मियां तानसेन नियोजित दरबारी राग में कोई पद गाये जाने का उल्लेख मुझे मिला नहीं है. यह गोविन्दस्वामी और तानसेन के बीच रहे किसी सम्पर्क को इंगित करता है, यह भी यदि बाद में जोड़ा गया ऐसा सत्यसंधानीजी दावा न कर दें तो! अतः यहां संगीत गाना सीखे ऐसा तात्पर्य

खोज निकलना तो किसी जेहादी को ही शोभा देता है.

श्रीउपेन्द्रनाथजी कहते हैं “नामगोत्रहीन दो पुस्तकों के पन्ने उठा कर प्रमाणपत्र बता मेरे पास भेजे... मैंने उन पुस्तकों के नाम प्रकाशक का नाम और स्थान-काल जानना चाहा पर आज तक भेजे नहीं” (वैचा.२०११ भा.२७ अं.५). अतः वे मेरे दुराग्रह के आधीन होना नहीं चाहते. यह तो सर्वथा उचित ही नहीं प्रत्युत अभिनन्दनीय भी है! पर मैंने नहीं भेजे उसमें मेरा आशय इस तरह की जेहादी मानसिकता को सन्तुष्ट कर पाना शक्य न लगता होनेसे विरति हो जाना था. इसकी तो क्षमायाचना ही चाहता हूं. वैसे जो नामगोत्रहीन पन्ने थे वे जिन शब्दों को ब्रजभाषा के न मान कर गुजरातीभाषा के माने जा रहे थे, उनके ब्रजभाषा के होनेके प्रमाणपत्र थे साथ ही साथ सत्यसंधानीजी के ब्रजभाषा के अपर्याप्त ज्ञान के भी. जिन शब्दों को श्रीउपेन्द्रनाथजी गुजरातीभाषा के मान खट्कतु की वार्ता को अप्रामाणिक सिद्ध करना चाह रहे हैं वे ब्रजभाषा के ही शब्द हों तो खट्कतु की वार्ता अप्रामाणिक क्यों न हो उसकी अप्रामाणिकता के साधक हेतु तो अवश्य ही अप्रामाणिक हैं. यह दरसाने को ब्रजभाषाकोश के पन्ने प्रमाणपत्रतया भेजे गये थे कि युक्तायुक्त निर्णय लेने से पहले स्वयं के ब्रजभाषा के ज्ञान की गहराई परख लें. इसमें ग्रन्थकर्ता और प्रकाशक के नाम-स्थल-काल की अपेक्षा मुझे इतनी अनिवार्य नहीं लगी. पर पुष्टिमार्गीय साहित्य में अप्रामाणिकता खोजने की दुर्वार निष्ठावाले सत्यसंधानी को कोश में पर्यायतया दिये शब्दों को देखने का कष्ट लेने के बजाय ग्रन्थकर्ता और प्रकाशन के नाम-स्थल-काल की जो जिज्ञासा उठ गयी वह तो स्वाभाविक ही थी. हां उसे आवश्यक भी मानता ही हूं. खैर.

अब अपेक्षित सूचना प्रदान कर रहा हूं कि ये पन्ने ‘साहित्यिक ब्रजभाषा कोश’ ग्रन्थ जो उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान लखनऊ द्वारा १९८९

और १९९० में डा. विद्यानिवास मिश्रजी सम्पादित कोश की जेरोक्स थी. इनके अलावा अन्य भी उद्धृत करता हूँ जो ब्रजभाषा सूकोश विश्वविद्यालय हिन्दीप्रकाशन लखनऊ सं.२०३१ वर्ष में प्रकाशित तथा डा.दीनदयाल गुप्त आदि ने सम्पादित किये हैं. इनमें इन शब्दों को ब्रजभाषा का माना गया है. उपेन्द्रनाथजी के ब्रजभाषा के अपर्याप्त ज्ञान के ये भी प्रमाणपत्र हैं ही.

उनका विवरण यों है :

‘आखा-आखौ’=समूचा तथा कुल पूरा समूचा
(खंड १।पृष्ठ १६९ तथा खं.१।पृ.९१).

‘दाँई बाजू’=ओर, तरफ, दाहिनी ओर की,
भुज, बांह (ख.३।पृ.२९ तथा ब्र.भा.सू.को.खं.१।पृ.८-३३)

‘मोटी’=स्थूल, बहुत, अधिक घेरे या मानवाली
(ख.३।पृ.१६५ तथा ख.२।पृ.१४२१).

श्रीउपेन्द्रनाथजी कहते हैं “चतुर्भुजदास का शब्दज्ञान इतना कच्चा न था” मुझे लगता है उपेन्द्रनाथजी, सत्यसंधान की जेहाद में, सूरदासजी और नन्ददासजी के ब्रजभाषा के शब्दज्ञान को भी कहीं कच्चा न ठहरा दें! क्योंकि वे भी “कहिवे जीय कछु सक ना राखो, लावा मेलि दए हैं तुमको बकत रहो दिन आखो”, “दोउ भैया मांगत मैया पे देरी मैया दधिमांखन रोटी, सूरदास प्रभु मुदित यशोदा भाग्य बड़े करमन की मोटी”(द्र. “कर्मन की मोटी=बहुत भाग्यशालिनी” ब्र.भा.-सू.को. पृ.१४२१). “ये दोऊ नागर ढोटा माई कौन गोपके बेटा! नन्ददास बल-बल यह मूर्ति लीलाललित सब ही विधि मोटा” क्या कृष्ण के बालरूप को स्थूल के अर्थ में ‘मोटा’ मानना या ‘बड़े’ होने के अर्थ में? पर यदि इसे भी उपेन्द्रनाथजी किसी गुर्जरभाषी

का पद मानते हों तो अपनी जेहादी अदा में अवश्य मानें! वस्तुतः गुजरातीभाषा में ‘दाँई-बाँई’ के लिये ‘जमणु-डाबु’ शब्दों का प्रयोग है. यह तो श्रीउपेन्द्रनाथजी की बद्धमूल छिद्रान्वेषण की मानसिकता उनके भीतर भ्रान्ति भड़का रही है कि ये शब्द गुजरातीभाषा के हैं!

श्रीउपेन्द्रनाथजी ने एक जेहादी तुक्का ये भी साधा है कि खट्वा की वार्ता में नाभादासजी के भक्तमाल की पंक्ति की कोपी की गयी है. परन्तु गुसाईंजी के बधाई पदों में ऐसे भाव एक नहीं अनेकानेक पदों में प्रकट हुवे हैं जो २५२ वैष्णवों की वार्ता में उल्लिखित गुसाईंजी शिष्यों ने रचे हैं. कुछ उदाहरणतया उद्धृत कर देना उचित होगा :

“चहुं युग वेदवचन प्रतिपाल्यो, धर्मलानि भयी
जब ही जब तब-तब तुम वपु धार्यो... द्वापर
में ब्रज बूडत राख्यो सुरपति पांयन पार्यो. कलियुग
श्रीवल्लभगृह प्रगटे मायावाद निवार्यो. माणिकचन्द
प्रभु श्रीविठ्ठल पुरुषोत्तमरूप निहार्यो”.

“प्रगटे श्रीविठ्ठलनाथजु जग भयो उजियार...
कलियुग में द्वापर कियो सब जीव उद्धारे... सेवारीति
दिखाय के निरभय करि डारे... बहै जात जीव
देखि कै राखे गहि बांहि, कृष्णदास अपनो कियो
चरणन की छांहि”.

(श्रीगुसाईंजी के बधाई के पद, कीर्तनसंग्रह
प्रका.सेठ जेठानन्द आसनमल मुंबई प्रका.वर्ष १९८५).

खट्वा की वार्ता में रास का वर्णन बिहारी के दोहा से चुराया श्रीउपेन्द्रनाथजी समझ रहे हैं. वह भाव बिहारी से बहुत पहले

स्वयं महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य के ज्येष्ठात्मज गोस्वामी श्रीगोपीनाथजी ने श्लोकबद्ध किया है. देखिये : “निर्भरं क्रीडतोः आलि ! कुञ्जे विगतवाससोः अन्योन्यप्रभवैव आसीद् अन्योन्यस्य उचितांशुकम्” (अणुभाष्यरश्मिपरि. ४।३।- १६-१५). सहज सम्भव है कि खट्वाङ्ग की वार्ता किसी परवर्ती लेखक की ही हो पर श्रीउपेन्द्रनाथजी की पु.मा.वा.सा. के निरतिशय हृदयारूढ़ छिद्रान्वेषण की कुरुचि उनके भीतर धैर्यपूर्वक सत्यसंधान की मानसिकता पनपने नहीं देती. परिणामरूपेण हम देख सकते हैं कि इनके सत्यसंधान सत्य के संधान होने के बजाय अर्धसत्य के संधान या अविमृष्टविधान में पर्यवसित या मुखरित हो जाते हैं.

अन्तमें कहना चाहूंगा कि सत्य का अनुसंधान बुद्धिमान प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का लक्ष्य होना चाहिये पर यह कभी भूलना नहीं चाहिये कि “एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति तस्य धीराः परिजानन्ति योनिम्!”



उद्धृतवचनानुक्रमणिका

(अ - आ)

अक्षरं ब्रह्म परमं... भूतभावोद्भवकरो ...	(भग.गीता.८।३)	५०
अजायमानो बहुधा विजायते ...	(तैत्ति.आर.३।१३।१)	५४,६९
अजो नित्यः शाश्वतो अयं ...	(कठोप.१।२।१८)	५४
अणोः अणीयान् महतो महीयान् ...	(कठोप.१।२।२०-२१)	५४
अण्डं हिरण्मयं चैव ब्रह्मणः ...	(ब्रह्मा.पुरा.१।१।१)	६१
अतएव वार्तासाहित्य की अपेक्षा ...	(प्रतिस्व.पृ.९३)	२६३
अतएव श्रुति कहे ब्रह्म सविशेष ...	(चै.च.म.६।१६९-१७३-५)	२६७
अत्र अयं पुरुषः स्वञ्ज्योतिः भवति ...	(बृह.उप.४।३।९)	५०
अथात आदेशो 'न' इति ...	(बृह.उप.२।३।६)	५३
अथातो ब्रह्मजिज्ञासा-जन्माद्यस्य ...	(ब्र.सू.१।१।१-२)	५५,१०२
अधुना तु कलौ सर्वे विरुद्धाचारतत्पराः ...	(त.दी.नि.२।२।१२)	१९
अनृतं हि वाग् वदती ...	()	३१
अन्तः प्रविष्टः शास्ता ...	(तैत्ति.आर.३।१।१।१)	५२
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च ...	(कठोप.१।२।१४)	५४
अपि चेत्सुदुराचारो भजते ...	(भग.गीता.९।३०)	१५
अपिच सत्त्वानां प्रकृतिभूमिभिः ...	(निरु.७।१।४)	२४६
अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो ...	(महाभा.६।२२।३९)	४
अर्थो हि ज्ञानस्य अर्धम् ...	(सुबो.३।२६।३०)	४१
अव्यक्तं कारणं यत् तत् नित्यं ...	(ब्रह्मा.पुरा.१।२।८-२६)	६२
असति सत् प्रतिष्ठितं ...	(अर्थवसं.१।७।१।१९)	४१
अहमस्मि ब्रह्मा महाब्रह्मा ...	(त.दी.नि.१।३।५।४२)	९४
आत्मैव इदम् अग्रे आसीत् ...	(बृह.उप.१।४।१)	५२
आयामतो विस्तरतः स्वमानदेहेन ...	(भाग.पुरा.३।८।२५)	७५
आसीज् ज्ञानम् अथोहि अर्थः ...	(भाग.पुरा.१।१२।४।२-५)	७४
आहुः च ते, नलिननाभ! ...	(भाग.पुरा.१।०।८।४।९,)	२०३

(इ - ऊ)

इति नन्दादयो गोपाः...	(भाग.पुरा.१।०।११।५८)	२०२
इदम् अत्र विचार्यते वेदान्तानां ...	(ब्र.सू.भा.१।१।१)	५५
इन्द्रं मित्रं वरुणं अग्निम् आहुः ...	(ऋक्संहि.२।३।२१)	२५३
उद्यतासिः विषाग्निभ्यां शापोद्यतकरः ...	(मनु.मेधा.८।३।५०)	२५९

(ए - ऐ)

एकं रूपं/बीजं बहुधा...	(कठोप.५।१२/श्वेता.उप.६।१२)	४१
एकएव अग्निः बहुधा समिद्धः ...	(ऋक्संहि.८।५।८।२)	४१,६९
एतस्यैव आनन्दस्य अन्यानि ...	(बृह.उप.४।३।३२)	५६,५६
एतावान् अस्य महिमा अतो ...	(ऋक्संहि.१।०।१०।१७)	५८
एवं कदाचिद् भगवान् साक्षात् ...	(त.दी.नि.१।३।६-४०)	६४
एवं मनुष्यपदवीम् अनुवर्तमानो ...	(भाग.पुरा.१।०।६।१।४४-४५)	२०३
एवं व्रजस्त्रियो राजन् कृष्णलीला ...	(भाग.पुरा.१।०।३।०।४४, १।०।३।५।२६)	२०२
एवंविधाः भगवतो या ...	(भाग.पुरा.१।०।२।१।२०)	२०२
एवम् उच्चावचैः अभिप्रायैः ...	(निरु.७।१।४, ७।२।७, ७।३।८)	२५३
ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं ...	(ऋक्संहि.८।५।८।१।०।२, यजुस्संहि.३।१।१६ बृह.उप.१।६।१-३, छान्दो.उप.६।२।१-३, छान्दो.उप.६।६।७)	२९,५३

(क - ड)

कति देवाः?... त्रयः च ...	(बृह.उप.३।१।१-२)	२५४
कथम् असतः सद् जायेत? ...	(छान्दो.उप.६।२।२-३)	७६
कलितवपुरिव श्रीविड्डलप्रेमपुञ्जः ...	(श्रीगोपादेवाष्टकस्तो.७, श्रीगोपालराजस्तो.१३-१४)	२६५
कालः स्वभावः नियतिः यदृच्छा ...	(श्वेता.उप.१।२)	७१
काव्यकथाअपि नीताः ...	(भाग.सुबो.१।०।३।०।२६)	२१६

कृपयाधमतां प्राप्तं भक्तं वै ...	(त.दी.नि. २।२६९, २७१)	१८
कृष्ण तद् भक्तकारुण्य...	(पूर्वविभाग २।८९-९०)	२३८
गोपीनां परमानन्दः आसीद् ...	(भाग.पुरा. १०।१९।१६)	२०२

(च - ज)

चौरासी वैष्णव की वार्ता ...	(प्रतिस्व.पृ. ९२)	२६५
जगतः समवायि स्यात् तदेव ...	(त.दी.नि. १।६८-७२)	५६
जो उत्तम भगवदीय वैष्णव के लक्षण ...	(२५२ वै.वा. १०८ प्रसं. ५)	२७२
जो गोविन्ददास! इनो को ...	(२५२ वा. ११३.प्र. १)	२७७
ज्ञातोऽसि मे अद्य सुचिराद् ...	(भाग.पुरा. ३।९।१ - १४)	१९५

(त - न)

तत् त्वम् असि ...	(छान्दो.उप. ६।८।७)	१०४
तथाभूतेश्वरतां संसारिणो जीवस्य ...	(भाग.भावा. १०।८७।२-३)	२६८
तदा संहत्य च अन्योन्यं ...	(भाग.पुरा. २।५।३३-३५)	५८, ७३
तद्धा इदं तर्हि अव्याकृतम् ...	(बृह.उप. १।४।७)	५१
तद् आत्मानं स्वयम् अकुरुत् ...	(तैत्ति.उप. २।७)	५२
तद् एवम् अनेकैः हेतुभिः प्रपञ्चस्य ...	(भाग.भावा. १०।८७।३७, १२।४।२९)	२६८
तद्(माया)वादेन कर्तुरितलिपीनां ...	(तत्त्वसन्दर्भ)	२६९
तपः शौचं दया सत्यम् इति ...	(भाग.पुरा. १।१७।२४-२५)	२०
तमेव भान्तम् अनुभाति सर्वं ...	(कठोप. ५।१५, मुण्ड.उप. २।२।१०, श्वेता.उप. ६।१४)	५०
तस्मै नमो भगवते वासुदेवाय ...	(भाग.पुरा. २।५।११-१८)	७४
ता पाछे श्रीआचार्यजीने विचार्यो ...	(८४ वै.वा. ८।१।१)	२६६
ताभिः स्वलंकृतौ प्रीतौ कृष्णरामौ ...	(भाग.पुरा. १०।४१।५१-५२)	२०२
त्रयं वा इदं नाम रूपं ...	(बृह.उप. १।६।१-३)	५२, ६८
त्वं वै समस्तपुरुषार्थमयः फलात्मा ...	(भाग.पुरा. १०।६०।३८-४२)	२०३

देखि वल्लभभट्ट मने चमत्कार ...	(चै.च.म. १०।१०८)	२३७
देखि वल्लभभट्ट मने चमत्कार ...	(म. ११।१०८)	२५८
दोउ भैया मांगत मैया पे देरी ...	(द्र.कर्मन की मोटी=बहुत भाग्यशालिनीव्र.भा.सू.को. पृ. १४२१)	२७९

द्रव्यं कर्म च कालः च स्वभावो ...	(भाग.पुरा. २।५।१४)	७७, ११९
द्रव्याचारक्रियादयः न हेतवो ...	(८४वै.वा. ४२)	१८
द्विविधा हि वेदान्ते सृष्टिः ...	(अणुभा. २।३।१)	४१
द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे : मूर्तञ्चैव ...	(बृह.उप. २।३।१)	५३
न असद् आसीद् नो सद आसीत् ...	(ऋक्संहि. १०।११।१२९।१-३)	६०

न धीः मय्येकभक्तानाम् आशीभिः ...	(भाग.पुरा. १०।५।४६)	२०३
न संदृशे तिष्ठति रूपम् अस्य ...	(कठोप. २।३।९-१२)	५४
नमस्ये पुरुषन्तु आद्यम् ईश्वरं ...	(भाग.पुरा. १।८।१८-३५)	१९७
नमो भगवते तस्मै कृष्णाय ...	(त.दी.नि. १।१)	८५
नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन ...	(भाग.पुरा. १।१२०।११)	२०४
नालं द्विजत्वं देवत्वं ऋषित्वं ...	(भाग.पुरा. ७।७।५१)	१८
नासदासीद् नो सदासीद् ...	(ऋक्संहि. १०।११।१२९।१)	८२
नित्यदा सर्वभूतां ब्रह्मादीनां ...	(भाग.पुरा. १।२।४।३५)	७८
निरोधो दशमस्कन्धे नवत्यध्याये ...	(हरिली. १०।१)	१९४
निर्भरं क्रीडतोः आलि! कुञ्जे ...	(अणुभाष्यरश्मिपरि. ४।३।१६)	२८१
नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिः ...	(भाग.पुरा. १०।२९।१४)	२०५
नैव इह किञ्चन अग्रे आसीद् ...	(बृह.उप. १।१।१)	५९

(प - म)

पञ्चमं वेदानां वेदः ...	(छान्दो.उप. ७।१।१)	२५५
पादो अस्य विश्वा भूतानि ...	(ऋक्संहि. १०।९।०३)	१२२
पुरुषएव इदं सर्वं यद् भूतं ...	(ऋक्संहि. १०।९।०२)	४१, ५४
पुरुषएव इदं सर्वं यद् भूतं ...	(तैत्ति.आर. ३।१।२।१)	४१

प्रकृतिः पुरुषः च उभौ यद्यपि ...	(भाग.पुरा.११।२।२६)	७७
प्रगटे श्रीविडलनाथजु जग भयो ...	(श्रीगुसांईजीके बधाई के पद)	२८०
प्रजापतिः प्रजाः असृजत ...	(तैत्ति.ब्राह्म.२।२।७।१)	४३
प्रत्यक्षादृष्टविषये पदार्थाः ...	(भाग.सुबो.२।१।३२)	५६
प्राचीनैः व्यवहारसिद्धविषयेषु ...	(सि.ले.सं.२)	६४
‘ब्रह्म’ ‘कूटस्थ’ ‘अव्यक्ता’ दि शब्दैः ...	(त.दी.नि.२।१००)	८२
ब्रह्म जिज्ञासितव्यम् इति उक्तं ...	(ब्र.सू.भा.१।१।२)	१०२
ब्रह्म परिवृढं सर्वतः ...	(निघ.निरु.१।३।६)	५५
ब्रह्म वा इदम् अग्र आसीत् ...	(शतप.ब्राह्म.१।१।२।३।१)	५३
ब्रह्म वा इदम् अग्रे आसीत् ...	(बृह.उप.१।४।१०)	४३
ब्रह्मवादिनो वदन्ति यद् वसूनां ...	(तैत्ति.आर.४।१।१)	४९
ब्रह्मवादिनो वदन्ति, किं कारणं ...	(श्वेता.उप.१।१।१)	४९
ब्रह्मवादिनो, ब्रह्मवदनशीलाः ...	(श्वे.उ.शां.भा.तत्रैव)	५०
ब्रह्मविद् आप्नोति परम् ...	(तैत्ति.उप.२।१)	५६
ब्रह्माण्डानि बहूनि पंकजभवान् ...	(प्रबो.सुधा.आनु.प्रक.२।४२)	७६
ब्राह्मणक्षत्रियविशां ...	(भग.गीता.१।८।४१)	१५
भक्तिः पेशानुभवो विरक्तिः ...	(भाग.पुरा.११।२।४२)	२०५
भक्तिशास्त्रानुकूल्येन स्वधर्माचरणं ...	(सा.दी.१७)	१६
भगवच्छास्त्रे भगवानेव प्रमाणादि ...	(भाग.सुबो.१।०।२।३८)	५६
भट्ट मिलिवारे जाय दूहं पलाय दूरे ...	(चै.च.म.१।१।६७)	२६१
भवन्त एतद् विज्ञाय देहादि ...	(भाग.पुरा.१।०।७३।२१)	२०३
मनसो वृत्तयो न स्युः ...	(भाग.पुरा.१।०।४७।२४)	२०२
महत् तत्त्वं ब्रह्मरूपम् अस्मच्चित्तं ...	(त.दी.नि.२।१२२)	८

(य - व)

यः आवृणोति अवितथं ब्रह्मणा ...	(मनुस्मृ.२।१४४)	२६९
यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां ...	(मध्यमकशास्त्र.१।८।९, २।४।१८)	८१
यज्ञः कर्मसमुद्भवः, कर्म ...	(भग.गीता.३।१४)	५०

यथा इतम् आकाशम्, आकाशाद् ...	(छान्दो.उप.५।१।०।५)	१२१
यदि तार्किकसमयइव वेदान्तेष्वपि ...	(ब्र.सू.भा.१।१।१०)	८३
यद्वै वाङ् नाभविष्यत्किं सत्यं ...	(छान्दो.७।२।१)	३०
यद् आप्नोति यद् आदत्ते ...	(निघ.निरु.३।३।१५, लिंगपुरा.१।७।०।९६)	८८, १२२
यद् वै किञ्च अनूक्तं ...	(बृह.उप.१।५।१७)	५२
यात्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थं स्वैः ...	(म.स्मृ.४।३, ६१, ८७)	२६०
युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोः ...	(ब्र.सू.शां.भा.१।१।१)	११४
येन रूपेण भगवन्! त्वया व्याप्तं ...	(प्राणप्रति.निर्ण.सिं.)	११९
यो वा अयथादेवतम् अग्निं चिनुते ...	(तैत्ति.संहि.५।७।१)	२५४
रसो वै सो रसं ...	(तैत्ति.उप.२।७)	२८
लौकिकत्वं वैदिकत्वं कापट्यात्तेषु ...	(पु.प्र.म.२०)	१६
वन्दे चैतन्यदेवं तं तत्त ...	(बृह.वैष्ण.तोषि.१।०।८७)	२७०
वल्लभभट्टेर गर्वनाश औ कृष्णनामश्रवण ...	(चै.च.म.२।२६३)	२७३
वल्लभभट्टेर हय वात्सल्य-उपासन ...	(अत्य.७।१४८)	२७०
वल्लभेर गर्वहरणार्थं प्रभूर तदपेक्षा ...	(अत्य.७।५३)	२६४, २७४
विकारैः सहितो युक्तैः ...	(भाग.पुरा.३।१।१३७)	७३
विराजनात् सम्पूर्णाक्षरा ...	(निरु.७।३।१३।९)	५९
विश्वसर्गविसर्गादिनवलक्षणलक्षितं ...	(भाग.श्रीघ.१।०।१।१)	१९३
वेदैः च सर्वैः अहमेव वेद्यः ...	(भग.गीता.१।५।१५)	५०

(श - ह)

शब्दब्रह्म सुदुर्बोधं प्राणेन्द्रिय...	(बृह.उप.४।३।५)	४३
शब्दब्रह्मव्यतिरेकेण परब्रह्मणः ...	(भाग.सुबो.३।१।२।४६)	५१
शय्यासनाटनालापक्रीडास्नानादिकर्मसु ...	(भाग.पुरा.१।०।९।०।४६)	२०३
शुद्धिं केचित् पृथक् प्राहुः संस्कारः ...	(त.दी.नि.२।४०)	१७
शृण्वन् गृणन् संस्मरयन् च चिन्तयन् ...	(भाग.पुरा.१।०।२।३७९)	२०१
श्रीधरस्वामिप्रसादे भागवत जानि ...	(१३३-१३६)	२६८

श्रीमच्चित्सुखयोगिमुख्यरचितव्याख्यां ...	(वि.पु.आ.प्र.१।१।१)	२६७
श्रीमच्छंकरभगवद्भाष्यकर्तृभिः ...	(भग.गीता.श्रीध.१।१, १३।१९)	२६७
श्रीमद्भागवतं पूर्वेः सारतः...	(भाग.भावा.१०।८७।१)	२६७
श्रीविद्भलेर सेवा कृष्णचैतन्यविग्रह ...	(चै.च.म.१।८।४७)	२६३
श्रुत्यादिभेदेषु नानाप्रकारेण ...	(त.दी.नि.१।७०)	७१
षड्भिः सम्पद्यते धर्मस्ते दुर्लभतरा ...	(त.दी.नि.२।२१४-२१५)	१७
स वा अयम् आत्मा ब्रह्म ...	(बृह.उप.४।४।५)	५२
संसुप्तवत् शून्यवद् अप्रतर्क्यम् ...	(श्वेता.उप.४।१८, भग.गीता.१३।१३, भाग.पुरा.२।७।४७, १२।४।२१)	८२
सएव परमकाष्ठापन्नः कदाचिद् ...	(त.दी.नि.१।१)	२००
सतां प्रसंगाद् मम वीर्यसंविदो ...	(भाग.पुरा.३।२५।२५)	२०५
सम आसन आसीनः समकायो ...	(छान्दो.उप.६।१५।३, तेजोबि.उप. १।४२, भाग.पुरा.१।१।१४।३२-४४)	८४
‘सर्ववादानवसरम्’ इति वस्तुतः ...	(त.दी.नि.प्र.१।७०)	५७
‘सर्वे नैव रेमे तस्माद् एकाकी ...	(बृह.उप.१।४।३)	५५
सर्वं खलु इदं ब्रह्म ...	(ऋक्संहि.१०।९०।१७, २।६, छान्दो.उप.३।१।४।१)	४०, ५३
सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो...	(श्रीवल्लभकृत चतुश्लोकी १)	२७१
सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो ...	(तैत्ति.आर.३।१२।७)	११९
सर्वे वेदाः यत्पदम् आमनन्ति ...	(कठोप.१।२।१५)	५०
सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः ...	(ऋक्संहि.१०।८९।९०)	२४७
सेइ व्याख्या करेन जहां जेइ पड़े ...	(अन्त्य.७।११४)	२७०
सो अकामयत ‘बहु स्यां..’ ...	(तैत्ति.उप.२।६)	४२, ५३
स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः ...	(भग.गीता.१।८।६०)	१५
हरेर्दास्यं धर्मोऽर्थो हरिरेव हि ...	(वृत्रा.चतु.टिप्प.)	४



॥ शुद्धिपत्र ॥

पृ.सं. श्लो.सं.	अशुद्ध	शुद्ध
प्रा.८	पूजासे	पुजासे
४ २	विभात	विभाते
११ १३	राजसी सा तामसे	राजसी तामसे
२१ ८४	मार्गोच्छिस्तदा	मार्गोच्छित्तिस्तदा
२२ ९५	...वाक्यैकवाक्यता यां	...वाक्यैकवाक्यतायां
२८ १७	ह्यात्मरती रता	ह्यात्मरतीरिता
३१ २६	इतरेतरसंघातस्योपादा...	इतरेतरसंघातोपादा...
३२ ४२	तरलीभातो	तरलीभावतो
३२ ४३	भावानुभावयोश्चापि	भावानुभावयोश्चापि
३२ ४५	...भेदानपेक्षतात्	...भेदानपेक्षणात्
३५ २५	मतमन्यैरपि सदा	मतमन्यैस्तु सर्वदा
४० ३४	तथैव	तथैव हि
४७ २६	सार्वज्ञ्यमाद्येऽसर्वज्ञेन	असर्वज्ञेन सार्वज्ञ्यं न
२२६	अविद्यया अद्यस्तं	अविद्यया अध्यस्तं
२३०	व्याख्या सर्वज्ञ	व्याख्या सर्वज्ञ
२३०	उपेक्षा करते है	उपेक्षा करते हैं
२३३	अधीतस्तु	अधीतमस्तु
२३७	बहति	बहती
२३८	महत्त्वपूर्ण	महत्त्वपूर्ण